# पाठ-सम्पादन के सिद्धान्त

लेखक

कन्हैया सिंह एम. ए., एल-एल. बी.

प्राध्यापक

तिलकधारी महाविद्यालय

जौनपुर

महामना प्रकाशन मंदिर

इलाहाबाद

भगवान् महावीर के इस अतीव जीवनोपयोगी आदेश को जो साधक नियमित रूप से पालन करेगा, उस का जीवन उच्च बनेगा और निरन्तर उच्च बनता जाएगा। आलोचना जीवन-शुद्धि का राजमार्ग है, और वह राजमार्ग है जो मुक्ति के पथिक को अपने अभीष्ट लक्ष्य पर पहुँचा देता है।

हे भव्य पुरुषो! अगर आप के अन्तःकरण में अपनी आत्मा को पवित्र, विशुद्ध, निश्शल्य और निर्दोष बनाने की वास्तविक अभिलाषा जागी है तो आलोचना का आश्रय लो। अन्तर में उत्पन्न हुई अशुचि को अन्तर ही दबाने की चेष्टा न करो, अन्यथा वह सौ गुनी हो कर फैलेगी और फिर उसे दबाने की समस्त चेष्टाए निरर्थक सिद्ध होगी। उस अशुचि या गदगी को तत्काल ही आलोचना के रूप में बाहर कर दो और पश्चात्ताप की अग्नि मे स्वाहा कर दो। इस पद्धति से आप की आत्मा कुन्दन बन कर चमकेगी और आप अव्याबाध सुख और महामंगल के भाजन बनोगे।
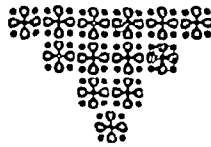
# वैराग्य

आत्मा अपने निज स्वभाव से चिदानन्दमय है। वह अनन्त और अखण्ड चेतना का पुंज है और अव्याबाध आनन्द उस का स्वरूप है। किन्तु ससारी जीव की स्थिति पर ध्यान देने से प्रतीत होता है कि आत्मा अपने स्वरूप से च्युत हो रहा है। उस की ज्ञानशक्ति असीम के बदले सीमित हो रही है। उस का वास्तविक सुख गुण विकृत हो कर सुखाभास बन गया है। वह अमृत के बदले मरणशील बना हुआ है। जन्म और जरा का पात्र बन कर नाना प्रकार के सकटों मे ग्रस्त है। संक्षेप मे यह कहा जा सकता है कि आत्मा स्वभाव से परमात्मा-परम ऐश्वर्य का धनी होने पर भी आज दीन, दुखी, रक और दरिद्र बना हुआ है। उस की अपनी तेजोमय शक्तिया दब गई है या विकृत हो गई है।

सहज ही जिज्ञासा होती है कि आखिर इतने घोर परिवर्त्तन का कारण क्या है? प्रत्येक प्राणी सिद्धों के समान स्वभाव से समृद्ध होने पर भी आज इस निकृष्ट स्थिति को क्यों प्राप्त हो गया है? उस की नैसर्गिक ज्योति क्यों बुझ गई है? ज्ञानी जन कहते है कि इस हीनता और दीनता का प्रधान कारण राग और द्वेष है। भगवान् महावीर की वाणी में—

रागो य दोसोऽवि य कम्मबीयं। (उ० अ० ३२)

राग-द्वेष ही समस्त कर्मों के बीज हैं। इन्हीं दो दापों के कारण आत्मा अपने स्वरूप से पतित हो गया है। समस्त दुःखों और सकटों का कारण यही जोडी है। यह राग द्वेष आत्मा के लिए भयानक अभिशाप हैं। इन्हों ने आत्मा की जैसी दुर्गति की है, वैसी कोई नहीं कर सकता। आत्मा को संसार मे जितने भी कष्ट, सकट, दुःख और

वेदनाएं भुगतनी पड़ रही हैं, उन की उत्पत्ति राग और द्वेष से ही होती है। यही दो दोष आत्मा के भयानक शत्रु है।

राग और द्वेष के कारण दु:खों के महान् पर्वत ही आत्मा पर टूट कर नहीं गिरते किन्तु आत्मा में मतिविभ्रम भी उत्पन्न होता है। मतिविभ्रम उत्पन्न होने से वह वास्तविकता का विचार नहीं कर पाता। अतएव वह अहित को हित और हित को अहित समझता है। आत्मा दूसरे पदार्थों और व्यक्तियों को तो अपने दु:ख का कारण मानने लगता है, पर दु:ख के असली कारण जो राग-द्वेष है, उन्हे दु:ख का कारण नहीं समझता। राग और द्वेष की सब से बड़ी मक्कारी यही है कि वे आत्मा के सब से बड़े वैरी होने पर भी आत्मा को यह तथ्य नहीं समझने देते कि वे वैरी है। उन्होंने आत्मा के विवेक पर पर्दा डाल दिया है। उस की बुद्धि को भी भ्रष्ट कर दिया है। अतएव अत्मा बाह्य पदार्थों को और अन्य जीवां को अपना अहितकारी समझता है, किन्तु वास्तव में अहितकारी राग और द्वेष ही हैं।

तात्पर्य यह है कि आत्मा के समस्त दु:खों की जड़ राग और द्वेष है। उन्हे परजित किये बिना अत्मा को वास्तविक सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती और न शुद्ध स्वरूप की उपलब्धि ही हो सकती है। राग-द्वेप का नाश होने पर आत्मा वीतराग-दशा प्राप्त कर लेता है और वीतरागदशा प्राप्त होते ही ऊसे सर्वज्ञ सर्वदर्शी होने में देर नहीं लगती। अतएव जो भव्य पुरुष आत्मा को समस्त कष्टों से, सम्पूर्ण विकारों से और सब उपाधियों से मुक्त करना चाहते हैं, उन्हें सर्वप्रथम राग और द्वेष को क्षीण करने का ही प्रयत्न करना चाहिए। आत्मशुद्धि का यही एक मात्र उपाय है। इस उपाय के बिना कभी किसी आत्मा का कल्याण नहीं हुआ और न होगा ही।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि राग और द्वेष को जीतने का उपाय क्या है? इस प्रश्न का साधारण समाधान यह है कि किसी भी दोप का विनाश उस के प्रतिपक्षी गुण को ग्रहण करने से ही होता है। तदनुसार राग और द्वेप को जीतने के लिए उन के विरोधी वैराग्य का ही आश्रय लेना उचित हो सकता है।

है कि ऐसा क्यो होता है ? प्रिय लगना यदि मिठाई का ही ६
तो वह दोनों अवस्थाओं में प्रिय लगती—भूख मे भी और
जाने पर भी । अप्रिय लगना मिठाई का स्वभाव होता तो
दोनों अवस्थाओं में अप्रिय लगती । किन्तु ऐसा नहीं होता ।
भी यही प्रतीत होता है कि प्रिय लगना या अप्रिय लगना मिठा
गुण नहीं, यह तो मनुष्य की अपनी धारणा ही है ।

जीव की यह कल्पना या धारणा ही राग और द्वेष है । अः
किसी पदार्थ का प्रिय समझना राग का फल है और अप्रिय समझ
द्वेष का फल है । पदार्थ के यथार्थ स्वरूप के ज्ञाता ज्ञानी जन न किस
पदार्थ को इष्ट मानते हैं और न किसी को अनिष्ट मानते हैं । वे त
पदार्थ को उस के असली स्वरूप में ही देखते है । अतएव उन के लिए
सभी पदार्थ तीसरी कोटि में अर्थात् उपेक्षणीय कोटि मे आ जाते है ।
इसी को वैराग्य कहते हैं ।

जो मनुष्य जितने-जितने परिमाण में पदार्थों को इष्ट और
अनिष्ट की कोटि मे से निकाल कर उपेक्षणीय की कोटि में स्थापित
करता जाता है, उस का वैराग्य उतने ही परिमाण मे बढ़ता जाता है ।

तात्पर्य यह है कि किसी भी पदार्थ को प्रिय या अप्रिय न
समझना और मध्यस्थ भाव रखना ही वैराग्य कहलाता है । यह वैराग्य
ज्यों-ज्यों बढ़ता जाता है, आत्मा की शान्ति भी उतनी ही उतनी
बढ़ती जाती है । जब तक शरीर है तब तक उस की स्थिरता के लिए
बाह्य पदार्थों का उपयोग करना ही पडता है । उन का उपयोग किये
बिना जीवन निभ ही नहीं सकता । चाहे कोई ज्ञानी हो या अज्ञानी
हो, रागी हो या वैरागी हो, उसे अन्न और वस्त्र आदि की आवश्य-
कता होती है । किन्तु दोनों के उपयोग करने की पद्धति में महान् अन्तर
होता है । रागी भोजन करता है तो किसी चीज़ को प्रिय और किसी
को अप्रिय मान कर राग और द्वेष करता है । किसी को लालुपतापूर्वक
खाता है और किसी को नाक-भौंह सिकोड कर के खाता है । वैरागी
उन्हीं वस्तुओं पर समभाव धारण कर के खाता है । इस प्रकार भोज्य
पदार्थ समान होने पर भी और भोजन की क्रिया समान होने पर भी

परिणामों के भेद से दोनों में महान अन्तर पड़ जाता है। एक राग-द्वेष के निमित्त से कर्म का बन्ध करता है और दूसरा तन्निमित्तक कर्मबन्ध से बच जाता है।

अज्ञानी भी कानों से शब्द श्रवण करता है और ज्ञानी भी। किन्तु अज्ञानी शब्दों को मनोज्ञ और अमनोज्ञ मान कर, राग-द्वेष के वशीभूत होकर पाप-कर्म बांध लेता है, जबकि ज्ञानी कर्मबन्ध से बच कर कभी-कभी उन शब्दों के श्रवण को निर्जरा का भी कारण बना लेता है। इसी अभिप्राय से श्री आचारांगसूत्र में कहा है—

जे आसवे ते परिस्सवे,
जे परिस्सवे ते आसवे।

अर्थात्—आस्रव के कारण भी निर्जरा के कारण और निर्जरा के कारण भी आस्रव के कारण बन जाते हैं।

जब अज्ञानी और ज्ञानी का अर्थात् रागी और वैराग्यवान का ऊपर से दिखलाई देने वाला व्यवहार समान होने पर भी अध्यवसाय की विभिन्नता के कारण इतना विसदृश फल उत्पन्न करता है तो वैराग्य की महिमा को समझना हमारे लिए कठिन नहीं होना चाहिए। हमें यह भी समझना चाहिए कि वैराग्य भाव धारण करने से संसार के सभी कार्य बन्द नहीं हो जाते। ऐसी स्थिति में हम क्यों न मध्यस्थ भाव धारण करें? क्यों राग-द्वेष के वशीभूत हो कर अपनी आत्मा को कलुषित करें? राग-द्वेष धारण करने से कोई लाभ तो होता नहीं, प्रत्युत हानि ही होती है, फिर क्यों न वैराग्यभाव को अपनाते हुए ही व्यवहार करें? सच पूछो तो ज्ञानी पुरुषों ने वैराग्य भाव के रूप में जीवन की एक महान् कला का आविष्कार किया है। यह कला हमारे लिये अत्यन्त हितकर है। जब तक मनुष्य के अन्तःकरण में राग और द्वेष रूप विकार विद्यमान हैं, जब तक वैराग्यमय परिणति का विकास नहीं हो गया है, तब तक मनुष्य सुख का आस्वादन नहीं कर सकता और दुःखों से छुटकारा नहीं पा सकता। राग और द्वेष की विद्यमानता में वह किसी को मित्र और किसी को शत्रु समझता रहेगा। जिसे शत्रु

समझेगा उस से उसे भय भी होगा और द्वेष भी होगा। इसीलिए भर्तृहरि कहते हैं—

**सर्वं वस्तु भयान्वितं भुवि नृणां वैराग्यमेवाभयम्।**

अर्थात्–रागवान् मनुष्यों के लिये संसार मे सभी वस्तुए भय उत्पन्न करने वाली हैं। वैराग्य ही अकेला निर्भयता प्रदान करने वाला है।

इस विषमय ससार मे वैराग्य ही वास्तव मे अमृतबिन्दु है। वैराग्य के समान सुख और शान्ति देने वाला और कोई साधन नहीं है। वैराग्य से विभूषित पुरुष प्रत्यक्षत इसी लोक में अपूर्व आनन्द का आस्वादन करते है और पाप के पथ से निवृत्त हो कर, पुण्य के पथ पर अग्रसर होने के कारण परलोक मे भी सुख के भाजन बनते हैं। आशा और निराशा की वैतरणी में डूबने वाले संसारी जीवों का उद्धार करने की शक्ति एक मात्र वैराग्य में ही है।

संसार के पदार्थों में आसक्ति का होना आत्मकल्याण के मार्ग में दीवार खड़ी कर देना है। जब तक यह आसक्ति बनी रहती है, तब तक आत्मा नाना प्रकार के सकल्प-विकल्पों में और कष्टों तथा वेदनाओं में फंसा ही रहता है। आसक्ति आत्मा के तेज को नष्ट करती है। इस के विपरीत वैराग्य मानव-जीवन में एक अनोखी क्रान्ति ला देता है। वैराग्य मे वह शक्ति है कि वह स्वर्ण-सिंहासन पर विराजमान होने वाले बडे-बड़े चक्रवर्त्ती सम्राटो को, कोमल मखमली गद्दों पर और फूलों की सेज पर शयन करने वालों को भी, समस्त वैभव को तृणवत् त्याग देने की प्रेरणा कर के, पर्वत की ऊची चोटी की कठोर शिलाओं पर बिठला देता है।

भगवान् महावीर स्वामी, अन्य तीर्थंकरों और अनेक जैन मुनियों के उदाहरण हमारे सन्मुख है। इन महान् त्यागवीरों में बहुत से ऐसे महापुरुष हुए है जिन्होंने राजसिहासनों को ठोकर मार कर सयम का पथ ग्रहण किया था। सयम का पथ अगीकार करने से पहले वे एक सीमित राज्य के ही स्वामी थे, किन्तु वैराग्य स्वीकार करने के पश्चात् वे अखिल लोक के अधीश्वर बने। यह सब वैराग्य का ही

प्रभाव है। वैराग्य की बदौलत ही वे तीन लोक के नाथ कहलाए और देवेन्द्रों के भी परम पूजनीय बने।

जैन धर्म दयाधर्म कहलाता है, किन्तु उसे वैराग्यधर्म कहने में भी कोई अनौचित्य नहीं है। उस धर्म की सम्यक् आराधना वही वीर कर सकते हैं जो सांसारिक सुखों में आसक्त न हो कर, प्रत्युत उन्हें आत्मविघातक समझ कर, उन से विमुख हो जाते हैं।

वैराग्य की साधना के लिये इन्द्रियों का और मन को साधने की आवश्यकता होती है। जो संयत पुरुष अपने मन पर, अपनी वाणी पर और अपने शरीर पर पूर्णरूप से नियन्त्रण स्थापित कर लेते हैं, वही पूर्ण वैराग्य की साधना करने में सफल होते है। भगवान् ने कहा है—

साहरे हत्थपाए य, मणं पंचिंदियाणि य।
पावगं च परिणामं, भासादोसं च तारिसं॥

(सूत्रकृतांग प्र० अ०—८)

अर्थात्—साधक का कर्तव्य है कि वह कछुए की भांति अपने हाथों-पैरों को अर्थात् समस्त अंगोपांगों को गोपन कर के रक्खे, उन के द्वारा किसी भी प्रकार का असंयम न होने दे। विषय-वासनाओं की ओर दौड़ने वाले मन के वेग को रोक ले। इन्द्रियों को विषयों की ओर न झांकने दे और हृदय में बुरे विचारों को स्थान न दे। भाषा-सम्बन्धी दोषों का सेवन न करे।

इस विधि से वैराग्य की साधना करने वाले साधक शीघ्र ही परम आनन्द के पात्र बनते हैं। यहां यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि वही वैराग्य सुख और शान्ति दे सकता है जो सच्चा हो। किन्तु कच्चा न हो। वैराग्य यदि कच्चा हुआ तो वही दशा होती है जो एक पाली हुई बुलबुल की हुई थी। एक बुलबुल की कटि में उस के स्वामी ने एक पेटी लगा कर उस में एक तागा बांध दिया था। वह बुलबुल उतनी दूर ही उड़ सकती थी जितना लम्बा तागा था। एक बार बुलबुल ने सोचा—यह तागा मेरे लिये बन्धन है। यह मुझे

स्वच्छन्द रूप से उड़ने नहीं देता। ऐसा सोच कर उस ने अपनी चोंच से उस तागे को काट दिया। वह उड गई। किन्तु आगे जाने पर उस की पेटी एक कांटे मे उलझ गई। अब वह उतना भी नहीं उड़ सकती थी, जितना तागे के सहारे उड़ा करती थी। वह उलटी लटक गई और आखिरकार मृत्यु का ग्रास बनी।

यह एक दृष्टान्त है। इस के आधार पर हमे समझना चाहिए कि मनुष्य के लिये वासना एक पेटी है और गृहस्थाश्रम तागा है। जो लोग गृहस्थाश्रमरूपी तागे को त्याग देते है किन्तु वासनारूपी पेटी को लिए फिरते हैं, वे बुलबुल की तरह अपने विनाश को आप ही आमन्त्रित करते है।

मनुष्य के अन्तःकरण में किसी प्रकार की कामना, या तृष्णा न रहना ही वास्तविक वैराग्य का लक्षण है। एक फारसी के विद्वान् कहते हैं—

जोहदो तक्वा चीस्त ऐ मर्दे फकीर।
ला तमा बूदन जि सुलतानों अमीर॥

प्रश्न किया गया है कि—हे सज्जन! मुझे यह बता कि सच्चा त्याग और तपस्या क्या है? इस का उत्तर मिलता है—राजा-महाराजा आदि सब की ओर से कामनाहीन हो जाना। अर्थात् राजकीय वैभव तथा सम्राट् की पदवी आदि किसी प्रकार की कामना न होना ही सच्चा तप-त्याग है।

सच पूछो तो अन्तरतर मे रही हुई कामनाए ही मनुष्य को तरह-तरह की आपत्तियां उत्पन्न करती है। वही मनुष्य को अपने फन्दे मे फसा कर दु खी बनाती हैं। वैराग्ययुक्त पुरुप कामनाओं से ऊंचा उठ जाता है, अतएव वह विपत्तियों से भी ऊपर उठ जाता हैं। कामनाओ की विद्यमानता मनुष्य की आत्मा को दीन, हीन और क्षीण बनाती है। कामनाओं से हृदय निर्बल और क्षुद्र बन जाता है। कहा भी है—

आ कि शेरां रा कुनद रोबाह मिजाज।
एहतियाजस्त एहतियाजस्त एहतियाज॥

अर्थात्–जो वस्तु सिंह के समान मनुष्य को भी लोमड़ी के समान बना देती है, वह उस की कामना ही है, कामना ही है, कामना ही है।

इस प्रकार आत्मा को दीन और हीन बना देने वाली कामना पर विजय प्राप्त करने वाला मनुष्य ही सच्चा वैराग्यवान कहा जा सकता है। वही वीर, मुनि, यति या साधु कहलाने का अधिकारी होता है। सिक्ख-ग्रन्थ में गुरु अर्जुनदेव ने लिखा है—

जो इस मारे सोई शूरा,
जो इस मारे सोई पूरा।
जो इस मारे तिसहि वडाई,
जो इस मारे तिस का दुख जाई।
जो इस मारे सोई जती,
जो इस मारे तिस होवे गती।
इस मारे बिन थाय न परै,
कोटि कर्म जाप ताप करै।

(गौडी महल्ला, ५)

वास्तव में वही पुरुष शूर, वीर, परिपूर्ण, प्रशंसनीय और सच्चा साधु है जो कामनाओं का परित्याग कर के परम वैराग्यभाव को धारण करता है। जब तक राग और द्वेष से चित्त कलुषित है, कामनाओं की दुर्गन्ध से सड़ रहा है, तब तक ऊपरी क्रियाकाण्ड कुछ भी फल नहीं देता। जप करो, तप करो, कुछ भी करो, अगर कामना नहीं गई है, वैराग्य का अंकुर नहीं फूटा है, तो सब वृथा है।

स्थितप्रज्ञ की परिभाषा करते हुए गीता में कहा गया है—

प्रजहाति यदा कामान्, सर्वान् पार्थ! मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः, स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥

(गीता २, ५५)

अर्थात्–हे अर्जुन! वही मनुष्य स्थिरबुद्धि वाला कहा जा

सकता है जो मन मे उत्पन्न होने वाली समस्त कामनाओं का क्षय कर के अपनी आत्मा मे ही सन्तुष्ट रहता है।

बौद्धधर्म के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'धम्मपद' मे कहा है—

येसं सम्बोधिअंगेसु, सम्मा चित्तं सुभावितं।
आदानपटिनिस्संगे, अनुपादाय ये रता।
खीणासवा जुतीमन्तो, ते लोके परिनिब्बुता॥

(अ०-६, गा०-१४)

अर्थात्-इस ससार मे वही मुक्त है, जिन्होंने ज्ञान के सब अङ्गों से चित्त को सुव्यवस्थित किया है। जो किसी भी वस्तु से लगे-लिपटे नहीं है, जो किसी पर मोहमय प्रेम नहीं रखते, जिन की वासना नष्ट हो गई है और इस कारण जो तेजोमय हो गये हैं।

जिस के हृदयस्थल में वैराग्यरूपी गंगा की पवित्र धारा प्रवाहित होती है, जिस का हृदय वैराग्य-गगा की शीतल धारा से कामनाजनित संताप से रहित बन गया है, वास्तव मे वही सच्चा मनुष्य है। उस के सुख के सामने ससार का बडे से बडा सुख भी नगण्य है।

वस्तुस्वरूप का सम्यग्ज्ञान वैराग्य का जनक होता है, मनुष्य जब संसार के अनित्य और असार स्वरूप को पहचान लेता है, भोगोपभोग के साधनों की वास्तविकता को जान लेता है और यह समझ लेता है कि आनन्द जड वस्तुओ में नहीं, आत्मा में ही है, तब स्वत वैराग्य की उत्पत्ति होती है। अतएव वैराग्य को प्राप्त करने के लिये ससार के पदार्थों का, जीवन की क्षणभगुरता का और शरीर की अपावनता का विचार करना चाहिए। भगवान महावीर ने कहा है—

इमं सरीरं अणिच्चं, असुई असुइसंभवं।
असासया वासमिणं, दुक्खकेसाण भायणं॥

(उत्तरा०, अ०-१७, गा०-१२)

अर्थात्-यह शरीर नाशवान् है, स्वयं अशुचिरूप है और अशुचि पुद्गलों से ही निर्मित हुआ है। यह आत्मा का अशाश्वत वासस्थान है जैसे दूर की यात्रा पर निकला हुआ मनुष्य रात्रि में

विश्राम करने के लिये किसी सराय मे ठहर जाता है, इसी प्रकार यह आत्मा थोडी देर के लिये इस शरीररूपी सराय मे ठहर गया है। यह शरीर दुखों और क्लेशों का भाजन है। आत्मा को जो भी दुख सहन करने पडते है, सब शरीर के कारण ही। आत्मा जब अशरीर अवस्था प्राप्त कर लेती है तो उसे किसी भी प्रकार का कष्ट स्पर्श भी नहीं कर सकता।

शरीर अत्यन्त अस्थिर है। इस की नैसर्गिक बनावट ही ऐसी है कि इस के बदलने मे पल भर भी नहीं लगता। हृदय की धडकन बन्द हुई कि खेल खतम हुआ। सास चलते-चलते रुकी और प्राण-पखेरू गायब हुए। फिर न कुटुम्ब, न परिवार, न धन, न वैभव। सब अपने समझे जाने वाले पदार्थ पराये हो जाते हैं। अनादि काल से ससार मे भ्रमण करते-करते इस जीवन ने न जाने कितने परिवार बनाए हैं। एक भी जीव ऐसा नहीं जो अनेक वार इस का सगा-सम्बन्धी न हो चुका हो। किन्तु आखिर सब विराने हो गये। जिन्हे यह आज आत्मीय जन समझ रहा है, वे भी पराये हो जायेगे। ससार के समस्त संयोग वियोगान्त हैं। अतएव यह शरीर भी जब सदा अपना नहीं है तो सम्बन्धी जन अपने कैसे हो सकते हैं?

इस प्रकार वस्तु-स्वरूप का चिन्तन करने से रागभाव की निवृत्ति होती है और वैराग्यभाव की वृद्धि होती है। जिन्होने जगत् के सच्चे स्वरूप को समझ लिया है और अपने चित्त पर अंकित कर लिया है, उन्होंने ऐसे भाव व्यक्त किये हैं—

है भला संसार में धरा क्या?
स्वप्न-सा इक है तमाशा।
हैं दो दिन के सब बहलावे,
आगे चल कर हैं पछतावे।
रेत की सी दीवार है दुनिया,
ओछे का सा प्यार है दुनिया।

बिजली जैसी चमक है इस की,
पल दो पल की झलक है इस की।
पानी का सा है ये पचारा,
जुगनू का सा है चमकारा।
आज यहां जंगल में मंगल,
कल सुनसान पडा है जंगल।
आज है मेला हरदम दूना,
कल ही ग्राम पड़ा है सूना।
आज है रहने की तैयारी,
और कल है चलने की बारी।
आज है पाना कल है खोना,
आज है हसना कल है रोना।
कभी है बाधा कभी है घाटा,
कभी है ज्वार कभी है भाटा।
हार कभी और जीत कभी है,
इस नगरी की रीति यही है।
खुशी में खेद भी मिला हुआ है,
अमृत में विष घुला हुआ है।
गिरते हैं यहा चढने वाले,
घटते हैं यहां बढ़ने वाले।
आ नशे के अन्दर जाने वाले!
खुश ना हो तू ऐ मतवाले।
दुख की घटा है आती देखो,
घंटी मृत्यु बजाती देखो।

निषेध करने की आत्मिक ध्वनि निकलती है, परन्तु वासना की तीव्रता और प्रबलता उस समय उस मनुष्य को अपने इच्छित मार्ग पर चलने की प्रेरणा करती है। मनुष्य इस के अधीन हो कर आत्मिक ध्वनि को सुन कर भी अनसुनी कर देता है, अथवा अपने आप को समझाता है कि--बस अब की वार, अन्तिम रूप से ही मै इस कार्य को करता हू, इस के बाद फिर कभी ऐसा कार्य नहीं करूगा। इस तरह अपनी अन्तर्ध्वनि की अवहेलना कर के वह अनीति के गर्त मे गिर जाता है।

जैसे छोटी-सी आग की चिनगारी कभी-कभी वडे-बड़े नगरों को भस्म कर देती है, इसी प्रकार कभी-कभी थोडी-सी भी असावधानी से सारा जीवन नष्ट हो जाता है। जिस पर एक वार सवार हुआ वासना का भूत अन्दर से उठने वाले नाद को' बस, अब की बार, फिर कभी नहीं' का आश्वासन दे कर अधर्म के मार्ग पर मनुष्य को घसीट ले जाता है। जिस व्यक्ति मे इस प्रकार की दुर्बलता होती है, वह अपनी प्रतिज्ञा पर स्थिर नहीं रह सकता। इस के विपरीत जो भाग्यशाली पुरुष अपने यौवनकाल मे ही सावधान हो जाते है और अपने अन्तर्नाद को सुन कर सन्मार्ग पर चलते हैं, वे अवश्य ही अपने जीवन को सफल बना लेते हैं। फारसी भाषा का एक कवि कहता है—

जवां गोशा नशो शेर मर्दे राहे खुदास्त।
कि पीर खुद नतवानद जि गोशाए बरखास्त॥

अर्थात्–जिन्हों ने अपनी युवावस्था मे, एकान्त में ईश्वर का भजन किया है, वही सच्चे भक्त है। वृद्ध पुरुष यदि एकान्तवासी होने का गर्व करे तो व्यर्थ है, क्योंकि वह तो अपनी निर्बलता के कारण जहा पड़ा है, वहा से सरक ही नहीं सकता।

मगर यौवन-काल में कुमार्ग पर चलने के लिए दृढ़ता और प्रबल सत्सकल्प की आवश्यकता होती है। यह दोनों विशेषतएं अलोचना से सहज ही प्राप्त हो सकती है। जो व्यक्ति अपने राई-राई दोषों को अपने गुरु के समक्ष प्रकाशित कर देता है, उस से यह आशा नहीं की जा सकती कि वह भविष्य में पुन पुन उन दोषों का सेवन

बिजली जैसी चमक है इस की,
पल दो पल की झलक है इस की।
पानी का सा है ये पचारा,
जुगनू का सा है चमकारा।
आज यहां जंगल में मंगल,
कल सुनसान पडा है जंगल।
आज है मेला हरदम दूना,
कल ही ग्राम पड़ा है सूना।
आज है रहने की तैयारी,
और कल है चलने की वारी।
आज है पाना कल है खोना,
आज है हंसना कल है रोना।
कभी है वाधा कभी है घाटा,
कभी है ज्वार कभी है भाटा।
हार कभी और जीत कभी है,
इस नगरी की रीति यही है।
खुशी में खेद भी मिला हुआ है,
अमृत में विष घुला हुआ है।
गिरते हैं यहा चढने वाले,
घटते हैं यहां बढ़ने वाले।
आ नशे के अन्दर जाने वाले!
खुश ना हो तू ऐ मतवाले।
दुख की घटा है आती देखो,
घंटी मृत्यु वजाती देखो।

से उस के चित्त मे स्थित राग, मोह या आसक्ति दूर हो जाएगी और और फिर कोई भी प्रसंग उसे दु खी नहीं बना सकेगा ।

स्मरण रखना चाहिए कि जब तक मानस मोह और आसक्ति का घर बना हुआ है, तब तक चित्त की चचलता नहीं मिट सकती और जब तक चित्त की चंचलता नहीं मिटती, तब तक किसी भी स्थिति मे निराकुलता और शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती । इस का प्रधान और एक मात्र कारण यही है कि ससार के किसी भी पदार्थ मे शान्ति पहुँचाने की शक्ति नहीं है । शान्ति, तृप्ति, संतोष और सुख तो हमारे ही अन्त करण की वृत्तियां हैं ।

वैराग्य के उत्पन्न होने पर ही मनुष्य को सच्चा सुख और वास्तविक शान्ति प्राप्त हो सकती है । अतएव वैराग्य ही सुख का साधन है, वैराग्य ही शान्ति का स्रोत है, वैराग्य ही आनन्द का जनक है, वैराग्य ही सब दु खों से रक्षा करने वाला है और वैराग्य के अभाव मे किसी भी उपाय से इन की उपलब्धि होना सभव नहीं है ।

वैराग्य भावना का विकास करने के लिये यह आवश्यक नहीं कि हठात् बाह्य पदर्थों का परित्याग किया जाए । जैसा कि प्रारभ में कहा गया था, वैराग्य तो मध्यस्थ भाव में है । आप जिन पदार्थों का सेवन करते हैं, उन्हें अनासक्त भाव से अगर सेवन करेंगे तो उन का सेवन करने पर भी वैराग्य की आराधना कर सकेंगे । एक मनुष्य आसक्तिपूर्वक चने चबाता है और दूसरा अनासक्त भाव से मिष्टान्न खाता है' अब आप ही विचार कीजिए कि दोनों में कौन रागी है और कौन विरागी है ? इसी प्रकार एक मनुष्य किसी विषय का सेवन तो नहीं करता किन्तु रात-दिन सेवन करने की भावना किया करता है, तो वह क्या त्यागी या वैरागी कहा जा सकता ? नहीं । जब तक चित्त मे विषयो का चस्का लगा रहता है, तब तक वास्तविक वैराग्य का उदय नहीं हो सकता । वास्तविक वैराग्य तो तभी उत्पन्न होता है जब विषयों की वासना अन्त करण से दूर हो जाती है । अतएव वैराग्य के लिए हृदय में समभाव को जगना चाहिए ।

मन जब पूरी तरह सध जाता है, अर्थात् जब कोई भी पदार्थ अन्त करण में विकार उत्पन्न करने मे समर्थ नहीं होता, तब उतनी

प्रचण्डवासनावातैरुद्धूता नौर्मनोमयी ।
वैराग्यकर्णधारेण विना रोद्धु न शक्यते ॥

अर्थात्-प्रचण्ड वासनाओं की आंधी से डगमगाने वाली मन रूपी नौका को वैराग्यरूपी मल्लाह ही बचा सकता है। वैराग्य के सिवाय और किसी मे उसे बचाने की शक्ति नहीं है।

इस उक्ति से वैराग्य के महत्त्व को समझने में सरलता होगी।

परिपूर्ण सचाई न हो, फिर भी इस से यह बात अवश्य मालूम हो जाती है कि विचारों मे कितनी सर्जक शक्ति रही हुई है ।

जीवन की दृष्टि से जब हम विचारों के महत्त्व पर विचार करते हैं तो प्रतीत होता कि हमारे जीवन का निर्माण हमारे पुरातन विचारों के आधार पर ही हुआ है और वर्त्तमानकालीन विचार हमारे भविष्यत् जीवन का निर्माण करेंगे।

एक पश्चिमी विद्वान् ने कहा है–As you think so shall you be अर्थात्–जैसे तुम्हारे विचार होंगे वैसे ही तुम बनोगे।

यह कथन शत प्रतिशत सत्य है। प्रत्येक मनुष्य अपने विचारों का ही प्रतिबिम्ब है। जैसे विचार होंगे, वैसा ही जीवन-निर्माण होगा।

जीवन पर पडने वाले विचारो के प्रभाव को सभी विद्वान् एक स्वर से स्वीकार करते हैं। किसी हृष्ट पुष्ट और तन्दरुस्त आदमी को बार बार कहा जाय कि तुम्हारा स्वास्थ्य गिरता जा रहा है, तुम दुर्बल हो रहे हो, तुम्हारे शरीर में रोग बैठ गया है, तो निस्सन्देह वह आदमी अस्वस्थ, दुर्बल और रोगी हो जाएगा, यदि उस के मन में भी यही भावना प्रविष्ट हो जाय। यही कारण कि रोगी को ऐसी सूचनाएँ देना वर्जित है ।

धर्मशास्त्र मे भी मन के विचारों को बहुत महत्त्व दिया गया है। उन्हे महत्त्व देने का प्रधान कारण यही है कि जीवन को बनाने और बिगाडने मे उन का भाग मुख्य होता है । शरीर से पापाचरण न करने पर भी जो मन मे पाप की भावनाएँ किया करता है, वह घोर पापी ही समझा जाता है। इस सम्बन्ध मे शास्त्रों में तदुल मत्स्य का उदाहरण प्रसिद्ध है। तदुल मत्स्य का शरीर छोटा-सा होता है। वह महान् अवगाहना वाले मत्स्य की भौंह पर निवास करता है। विशालकाय मत्स्य जब अपना मुँह फाडता है तो बहुत-सी मछलियाँ उस मे चली जाती हैं और उन मे से बहुतेरी बाहर भी निकल जाती हैं। तदुल मत्स्य यह सब दृश्य देख देख कर विचार किया करता है–कितना मूढ़ है यह विशालकाय मत्स्य, जो मुंह के भीतर घुसी हुई मछलियों को बाहर निकल जाने का अवसर देता है। मैं इस की जगह होता तो क्या

मणो साहसिओ भीमो, दुट्ठस्सो परिधावइ।
तं सम्मं तु निगिण्हामि, धम्मसिक्खाइ कंथगं॥
(उत्तराध्ययन, २३-५८)

अर्थात्–हे मुने! यह मन बड़ा ही साहसी और भयकर है। यह दुष्ट घोडे की तरह इधर-उधर दौडता है। मैंने उसे धर्मरूप शिक्षा से जातिवन्त घोड़े की तरह वश मे रक्खा है।

वैदिक शास्त्र गीता मे भी मन के विषय में यही भाव प्रकट किया गया है। अर्जुन के प्रश्न करने पर श्री कृष्ण कहते हैं—

असंशयं महाबाहो! मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय! वैराग्येण च गृह्यते॥
(गीता अ० ६, श्लो० ३५)

अर्थात्–हे महाबाहु अर्जुन! निस्सन्देह मन का निग्रह करना कठिन है। यह मन अति चंचल है। फिर भी अभ्यास और वैराग्य के द्वारा इसे वश में किया जा सकता है।

यह बात तो पहले ही बतलाई जा चुकी है कि जीव को मनुष्य-देह की प्राप्ति बहुत कठिनता से होती है। श्री तुलसीदास जी कहते हैं–

बड़े भाग मानुष तन पावा, सुरदुर्लभ सद्ग्रन्थन गावा।
साधन धाम मोच्छ कर द्वारो, पाइ न जेहि परलोक सुधारा॥
सो मरन्त दुख पावई, सिर धुनि धुनि पछताय।
कालहिं करमहिं ईश्वराहिं, मिथ्या दोष लगाय॥

अर्थात्–मानव-शरीर बडे सौभाग्य से मिलता है। सद्ग्रन्थ इस की प्रशसा करते है और इसे देवों को भी दुर्लभ बतलाते हैं। जीव मनुष्य-तन के द्वारा ही अपने कल्याण की साधना कर सकता है। यही मोक्ष का द्वार है। किन्तु जो जीव नर-देह को पा कर के भी अपना परलोक नहीं सुधारता, वह अन्त मे बहुत दुःख पायेगा और सिर धुन-धुन कर पछताएगा। कभी काल को, कभी अपने कर्मों को और कभी ईश्वर को मिथ्या दोष देगा। किन्तु अपनी करतूत पर विचार नहीं करेगा।

प्रश्न हो सकता है कि मनुष्य-जीवन को सफल बनाने का उपाय क्या है ? इस प्रश्न के उत्तर मे पहले भी कहा जा चुका है कि कल्याण की कामना करने वाला पुरुष संसार के निस्सार और नश्वर पदार्थों से विमुख हो कर आत्मशुद्धि का प्रयास करे, आत्मा के स्वरूप को पहचाने और आत्मतत्त्व को जागृत करे ।

पुन: प्रश्न हो सकता है कि ऐसा करने के लिए किन साधनो का प्रयोग करना उचित है ? इस प्रश्न का उत्तर यही है कि मन की बाग-डोर को फेर देना चाहिए। किन्तु मन की बाग-डोर तभी फिर सकती है जब मन पवित्र हो और विचारों मे पवित्रता हो। इस प्रकार मनुष्य जन्म की सफलता की आधारशिला पावन और निर्मल विचार ही है। एक उर्दू कवि ने क्या ही अच्छा कहा है—

**गिरते हैं जब खयाल तो गिरता है आदमी ।**
**जिस ने इन्हें संभाल लिया वो संभल गया ॥**

हम अपने विचारों को पतवार की उपमा दे सकते हैं। जैसे पतवार को दृढतापूर्वक धारण करने से नौका ठीक तरह चलती है और परले पार पहुँच कर निर्दिष्ट लक्ष्य तक पहुचने मे सहायक होती है, उसी प्रकार यदि हम अपने विचारों पर काबू रखते हैं तो हमारे जीवन की नैया के पार लगने मे कोई सन्देह नहीं हो सकता। जिस के विचार पवित्रतापूर्ण, शान्तिमय, स्नेहासिक्त और दयायुक्त होंगे, उन की जीवन-नैया ठीक और लक्ष्य की ओर अग्रसर होती जायेगी। इस के विरुद्ध विचारो मे यदि घृणा, द्वेष, स्वार्थ और अपवित्रता है और इस कारण जीवन-नौका डगमगाती रहती है तो भवर मे फस कर वह डूब जायेगी।

इस प्रकार विचारों के साथ जीवन का घनिष्ठ सम्बन्ध है। हमारे विचार किस प्रकार अदृश्य रूप में काम करते हैं और उन मे किस प्रकार के परिणाम या नतीजे होते हैं, यह बात समझ लेना अत्यावश्यक है। लोग ससार भर की पोथिया पढते हैं और दुनिया भर का ज्ञान अपने दिमाग में भर लेना चाहते हैं, किन्तु अपने अन्त -

करण को समझने की कोशिश प्राय नहीं करते। जो वस्तु अत्यन्त सरस और महत्त्वपूर्ण है, जिस का जीवन के उत्थान और पतन के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है और जो अनन्त भविष्य के साथ सन्निकट का सम्बन्ध रखती है, उस के प्रति उदासीनता का भाव होना आश्चर्य और खेद की बात है।

हमारे विचार और हमारी भावनाए जिस प्रकार की होती हैं, हमारे मानस-पटल पर उसी प्रकार के आन्दोलन उत्पन्न होते हैं। वस्तुत हमारा जीवन अपने ही विचारों के सांचे मे ढलता है। जो विचार दूषित और स्वार्थमय होते हैं, वे मन में तुच्छ प्रकार के आन्दोलन उत्पन्न करते हैं। इस के विरुद्ध श्रेष्ठ विचार मन में उच्च प्रकार के आन्दोलन उत्पन्न करते है। तात्पर्य यह है क जिस प्रकार के हमारे विचार होते हैं, उसी प्रकार का हमारे आन्तरिक शरीर का निर्माण होता है। उसी प्रकार की हम वाणी बोलते हैं और उसी प्रकार की क्रियाए करते है। इसीलिए कहा गया है —

यद् मनसा ध्यायति तद् वाचा वदति।
यद् वाचा वदति तत् कर्मणा करोति।
यत् कर्मणा करोति तत्फलमुत्पद्यते ॥

तात्पर्य यह है कि हमारी समस्त प्रवृत्तियों का आधार हमारा मन ही है। मनुष्य मन से जैसा विचार करता है, उसी प्रकार की वाणी बोलता है। जैसी वाणी बोलता है वैसी ही उस की क्रियाए होती हैं, और जैसी क्रियाए होती हैं, वैसा ही उस का फल उत्पन्न होता ह।

ससार में अनेक प्रकार की शक्तिया विद्यमान हैं। एक विद्युत् की शक्ति है जो बडे-बडे दुर्गों को छिन्न-भिन्न और खण्ड-खण्ड कर देती है। दूसरी ऐटम (अणु) शक्ति है। यह विद्युत्-शक्ति से भी अधिक प्रबल है। इस का कारण यह है कि अणु, विद्युत् से भी अधिक सूक्ष्म होता है।

वैज्ञानिक सिद्ध कर चुके हैं कि जो वस्तु जितनी अधिक सूक्ष्म

होती है, वह उतनी ही अधिक शक्तिशालिनी होती है। पृथ्वी की की अपेक्षा जल सूक्ष्म है, अत जल पृथ्वी से अधिक बलवान् है। जल की अपेक्षा वायु सूक्ष्म है, अत वह जल से भी अधिक बलवान् है। वायु से विद्युत् अधिक सूक्ष्म होने के कारण अधिक शक्तिशाली है। विद्युत् की अपेक्षा भी 'ऐटम' अधिक सूक्ष्म अतएव बलवान् है।

इस सिद्धान्त के आधार पर जब हम विचार के सम्बन्ध मे विचार करते हैं तो प्रतीत होता है कि विचार 'ऐटम' से भी अधिक सूक्ष्म है, अतएव उस की शक्ति ऐटम से भी अधिक बलवान् होनी चाहिये। वास्तव मे विचार की शक्ति असीम और अपार है। विद्युत् और ऐटम कितने ही सूक्ष्म या सूक्ष्मतर क्यों न हों, आखिर वे भौतिक ही हैं। भौतिक पदार्थ मे स्वभावत स्थूलता के अश होते हैं। किन्तु विचार भौतिक पदार्थ नहीं हैं, अतएव उन मे स्वभावत सूक्ष्मता होती है। इस दृष्टिकोण से दोनों पर विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि विचारों मे ऐटम की अपेक्षा बहुत सूक्ष्मता है। यह सूक्ष्मता ही उन्हे अधिक सामर्थ्यशाली बनाती है।

आज का संसार इस शक्ति का अनुभव नहीं कर रहा है। इस का एक कारण तो यह है कि भौतिक पदार्थों के संबध में चिन्तन और अन्वेषण से उसे इस ओर ध्यान देने की फुर्सत ही नहीं मिल रही है। दूसरा कारण यह हो सकता है कि सूक्ष्म वस्तु के जानने के लिए सूक्ष्म बुद्धि की आवश्यकता होती है। किन्तु आधुनिक मानव की बुद्धि सासारिक भोग-पदार्थों मे रत होने से स्थूल बन गई है। अत स्थूल बुद्धि विचार-शक्ति को तोल ही नहीं सकती।

भौतिक चिन्तन से भी ऊपर उठ कर हमारे ऋषियों-मुनियों ने आध्यात्मिक विचारणा की। उस विचारणा का परिपाक होने पर उन्हें दिव्य ज्ञान की उपलब्धि हुई। उस दिव्य ज्ञान से उन्होंने विचार-शक्ति से भी अधिक सूक्ष्म एक और शक्ति का पता लगाया, जिसे हम आत्मशक्ति कहते हैं। परन्तु आज हमारी बुद्धि जब विचारशक्ति की महत्ता को ही अनुभव करने मे असमर्थ है, तो आत्मशक्ति का भान उसे किस प्रकार हो सकता है ?

अध्यात्मविद्या को समझने के लिए कोई विरल पुरुष शास्त्र का अध्ययन करते है, सत्सग से भी लाभ उठाने का प्रयत्न करते है, किन्तु वह विद्या इतनी गुह्य है कि प्रायः उन की समझ मे कुछ भी नहीं आता। तब वे यह कहते सुने जाते है कि हमे कुछ समझाओ। ऐसा क्यों होता है ? अपने आत्मा को समझना अपने आप को समझना है और अपने आप को समझने मे इतनी कठिनाई क्यो होनी चाहिए ? फिर भी जो कठिनाई उपस्थित होती है उस का कारण यह है कि आत्मशक्ति को समझने से पहले विचारशक्ति को समझना आवश्यक है और उसे समझने का प्रयत्न नहीं किया जाता। जो पहले विचारशक्ति को समझेगा वही आत्मशक्ति को समझने का अधिकारी हो सकेगा। विचारशक्ति की सूक्ष्मता बुद्धिगम्य होने पर ही आत्मतत्त्व की सूक्ष्मता समझने की क्षमता आती है। जहा विचार ही अपवित्र हैं, भावनाएं मन्द हैं और अन्त करण वासनाओं से कलुषित है, वहा तो आत्मतत्त्व को समझने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता।

धर्मोपदेश करने वाले महात्मा गण आज सर्वसधारण के सामने अध्यात्मतत्त्व की व्याख्या करते हैं, किन्तु अधिकांश श्रोताओं के पल्ले कुछ भी नहीं पडता। जैसे कोरे मस्तिष्क से वे आते है, वैसे ही लौट कर चले जाते है। अतएव आवश्यक यह है कि अध्यात्मतत्त्व को समझाने से पूर्व श्रोताओ को विचारतत्त्व समझाया जाय।

जो मनुष्य अशुद्ध विचारों का स्वामी बन कर अन्याय और अधर्म से अर्थोपार्जन करता है। दूसरे के अधिकारो का अपहरण करता है, ब्रह्मचर्य की आराधना नहीं करता, सासारिक भोगों मे सुख समझता है, झूठ बोलने, कपट करने, दूसरो को ठगने और धोखा देने मे किंचित भी सकोच नहीं करता, दूसरों का अनिष्ट करने मे लेश मात्र भी भय का अनुभव नहीं करता, बात-बात मे अपने आग्नेय नेत्रों से क्रोध की चिनगारियाँ निकालता है, जो मद और अहंकार से अकडा रहता है, जिसे आहार और विहार के सम्बन्ध मे कोई विवेक नहीं है, वह भला आत्मतत्त्व के गूढतर मर्म को कैसे समझ सकता है ? जैसे बौना ताड के फल को नहीं पा सकता, उसी प्रकार ऐसे पुरुष आत्मतत्त्व

को नहीं पा सकते। अतएव जो मनुष्य आत्मकल्याण के अभिलाषी हैं और जो कम से कम अपने जीवन को उन्नत बनाने के इच्छुक हैं, उन्हें सर्वप्रथम अपने विचारों की ओर ध्यान देना चाहिए और विचारों को पवित्र, उन्नत और शुचि बनाने का प्रयास करना चाहिए। यह एक निश्चित तत्त्व है कि जैसी मन की स्थिति होती है वैसी ही जीवन की गति होती है। श्री सुन्दरदास जी कहते हैं—

जो परनारी की ओर निहारत,
तो मन होत है ताहि को रूपा।
जो मन काहु सौं क्रोध करे तब,
क्रोधमयी होए ताहि को रूपा॥
जो मन माया ही माया रटे नित,
तो मन बूड़त माया के कूपा।
'सुन्दर' जो मन ईश विचारत,
तो मन होत है ईश-स्वरूपा॥

लोग एक दूसरे की आलोचना करते समय कहा करते हैं कि अमुक मनुष्य अच्छा है और अमुक बुरा। लेकिन मनुष्य की अच्छाई और बुराई क्या चीज़ है? वास्तव में मनुष्य के विचारों की अच्छाई और बुराई ही उस की अच्छाई और बुराई है, क्योंकि उस के बुरे विचार और बुरे विचारों से उत्पन्न होने वाला आचार ही उसे बुरा बनाता है। यही बात उस की अच्छाई के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। इस प्रकार मनुष्य के भाव के अनुसार ही जीवनक्षेत्र का निर्माण होता है। एक कवि कहते हैं—

कुटिलगतिः कुटिलमतिः कुटिलात्मा कुटिलशीलसम्पन्नः
सर्वं पश्यति कुटिलं, कुटिलः कुटिलेन भावेन
सरलगतिः सरलमतिः सरलात्मा सरलशीलसम्पन्नः
सर्वं पश्यति सरलं, सरलः सरलेन भावेन।

अर्थात्–एक दुर्जन अपनी खोटी भावना के कारण मन्दगति, मन्दमति, दुष्टात्मा और निकृष्टशील से युक्त होकर सब प्राणियों को खोटा ही समझता है। इस के विपरीत एक सज्जन पुरुष अपने सरलतापूर्ण विचार के कारण सब को शुद्धगति, शुद्धमति, शद्धात्मा और सुशील ही समझता है।

इस कथन का आशय यह है कि मनुष्य का जैसा विचार होता है, वैसा ही उसे वस्तुस्वरूप दृष्टिगोचर होने लगता है। अर्थात् विचार के अनुरूप दृष्टि बन जाती है।

मनुष्य की प्रसन्नता और अप्रसन्नता का आधार भी उस के विचार हैं। दो मनुष्य एक सी परिस्थति में होते हैं, किन्तु एक अपने विचारों की बदौलत प्रसन्नता का अनुभव करता है और दूसरा विषाद, चिन्ता और परेशानी का अनुभव कर के दुःखी होता है, जब समान परिस्थिति में दो व्यक्तियों के भिन्न-भिन्न अनुभव होते हैं, तो स्पष्ट हो जाता है कि वास्तव मे परिस्थिति प्रसन्नता या अप्रसन्नता का कारण नहीं किन्तु उन की अनुभूतियां ही प्रसन्नता या अप्रसन्नता को उत्पन्न करती हैं। एक उर्दू भाषा के कवि कहते हैं—

रहो ख्याल पै हावो खुशी है अगर मंजूर।
ख्याल पर है फक्त इनहिसारे सूदो सरूर॥

अर्थात्–यदि तुम प्रसन्नता के इच्छुक हो तो, अपने विचारों पर विजय प्राप्त करो, क्योंकि समस्त लाभ और हर्ष के आधार विचार ही हैं। फारसी मे एक विद्वान् ने यही बात यों कही हैं—

दिल चूं गरिफ्त, बाशद मातम सरास्त आलिम।
बारां कि दिल शगुफ्ता मालम जहां शगुफ्ता॥

अर्थात्–यदि किसी मनुष्य के दिल के भाव खोटे हैं तो उसे समस्त संसार दुःखमय प्रतीत होगा, किन्तु यदि भावों में पवित्रता है तो सारा जगत प्रसन्नता से परिपूर्ण दिखाई देगा।

आशय यह है कि मनुष्य को यह संसार और इस में रहने वाले प्राणी उसी रूप में दिखाई देंगे जो रूप उस के मन ने धारण किया होगा। सिक्ख-शास्त्र भी यही बात कहता है—

**आप भला सब जग भला, भला भला सब जग कर देखे।**
**आप बुरा सब जग बुरा, सब को बुरा बुरे को लेखे॥**

मुसलमानों के धर्मशास्त्र में लिखा है—

**मन हमना जन्नाहू तावा ऐशाहू।**

अर्थात्–जिस के विचार भले हैं, उस का जीवन भी सुखमय होता है। वैदिकशास्त्र मुण्डकोपनिषद् विचारों की प्रबल शक्ति के विषय में बड़े सुन्दर शब्दों मे निरूपण करता है। कहा है—

**यं यं लोकः मनसा संविभाति विशुद्धसत्त्वः।**
**कामयते यांश्च कामान् तं तं लोकं जयते॥**
(३-१-१०)

अर्थात–यह जीवन शुद्ध भावना से जिस जिस लोक की कामना करेगा। या जो भी उस की इच्छा होगी' उसे वह अवश्य प्राप्त करेगा।

जैन शास्त्रों मे धर्म के मुख्य चार रूपों में भावना को भी स्थान दिया गया है। भावना कहो या विचार कहो, एक ही बात है। यों तो दान, शील, तप और भाव, यह चार प्रकार का धर्म है, किन्तु भावरूप धर्म प्राण के समान है। जैसे शरीर का महत्त्व प्राणों से ही है, जब तक प्राण हैं तभी तक शरीर प्रतीत होता है और उस से इच्छानुसार लाभ उठाया जा सकता है, इसी प्रकार भाव के होने पर ही दान आदि धर्म फलप्रद होते हैं। भाव के अभाव मे सभी धर्म निष्फल हैं। कहा भी है—

**यस्मात् क्रियाः प्रतिफलन्ति न भावशून्याः।**

अर्थात्–भाव के बिना, केवल शरीर से की जाने वाली क्रियाएं निष्फल साबित होती हैं।

जैन शास्त्रों में भावना को लेश्या का नाम दिया गया है और उस का बड़ा विस्तृत विशद और वैज्ञानिक वर्णन किया गया है। लेश्या के छः भेद हैं—(१) कृष्णा (काली), (२) नीला, (३) कापोती–कपोत के रंग की, (४) पीता-पीली, (५) पद्मा-पद्म वर्ण की और (६) शुक्ला-

धवल वर्ण की। इन मे पहले की तीन लेश्याए निकृष्ट हैं और आगे की तीन लेश्याएँ श्रेष्ठ है। किन्तु कृष्णा लेश्या की अपेक्षा नीला, नीला की अपेक्षा कापोती, कापोती की अपेक्षा पीता, पीता की अपेक्षा पद्मा और पद्मा की अपेक्षा शुक्ला लेश्या विशुद्ध है।

इन लेश्याओं की विशुद्धि की तरतमता समझाने के लिए जैन शास्त्रों में एक उदाहरण प्रसिद्ध है। वह इस प्रकार है—

छ पुरुष आम्र के बगीचे में गये वहां उन्हों ने आम्रफलों से युक्त एक वृक्ष देखा। प्रथम पुरुष उसे देख कर कहने लगा—इस वृक्ष को मूल से काट लें और फिर इच्छानुसार आम तोड़ ले। इस पुरुष की भावना को कृष्णलेश्या कहते हैं।

दूसरा बोला वृक्ष को मूल से मत काटो, जिस शाखा में ज्यादा आम लगे है उसी को काट कर गिरा लो अपना काम बन जाएगा। इस पुरुष की भावना अशुद्ध होने पर भी प्रथम पुरुष की अपेक्षा शुद्ध है। इसे नीललेश्या समझना जाहिए।

तीसरे पुरुष ने दूसरे की यात काटते हुए कहा इतनी मोटी शाखा काटने से क्या लाभ है? जिन टहनियों में आम हैं उन्हीं को काट लेना पर्याप्त है। इस प्रकार की विचारधारा को कपोत लेश्या कहते हैं। यह नील लेश्या की अपेक्षा भी विशुद्ध है।

चौथे पुरुप ने कहा—टहनिया काटने से भी क्या लाभ है। हमें तो फल चाहिए। पत्थर मार-मार कर फल गिरा लें। पक्के खा लेंगे। कच्चे-कच्चे छोड़ देंगे। इस पुरुष के विचार को पीत या तेजोलेश्या कहते हैं। इस के विचार तीसरे पुरुप की अपेक्षा भी अधिक शुद्ध हैं।

चौथे का परामर्श सुनकर पॉचवें ने कहा—कच्चे फलों की आवश्यकता नहीं है तो उन्हें गिराने से भी क्या लाभ है? पके-पके फल ही क्यों न गिरा लिए जाएँ? इस पुरुप की भावना पद्मलेश्या कहलाती है।

अन्त मे छठे पुरुप ने कहा—'वृक्ष के नीचे बैठ कर प्रतीक्षा करो। जो-जो पका फल स्वयमेव गिरता जाय उस का सेवन कर लो। यह भावना सर्वश्रेष्ठ है। इस का आशय यह है कि शुक्ललेश्या वाला पुरुप वह है जो अपने निर्वाह के लिए दूसरो को लेशमात्र भी कष्ट नहीं

पहुँचाना चाहता। इस के विपरीत कृष्णलेश्या अर्थात निकृष्ट भावना वाला पुरुष अपने क्षुद्र स्वार्थ के लिए अथवा विना ही स्वार्थ के दूसरों की बडी से बडी हानि करने को उद्यत हो जाता है।

कृष्णलेश्या वाला पुरुष नरक की यातनाएं भोगता है और शुक्ललेश्या का धनी स्वर्गीय सुखों का भाजन बनता है।

प्राय. लोग निरर्थक ही अपने विचारों को अपवित्र बनाते है। उन्हें यह विदित नहीं है कि प्रशस्त विचारो का परित्याग कर के अप्रशस्त विचारों में रमण करने से हाथ तो कुछ आता नहीं, फिर क्यों अपने भविष्य को व्यर्थ ही बिगाडा जाय ? कल्पना करो कि तुम ने किसी का बुरा सोचा तो क्या तुम्हारे सोचने से ही उस का बुरा हो जाएगा ? नहीं, उस का बुरा या भला होना तो उसी के विचार या भाग्य पर निर्भर है, तुम्हारे विचार करने से कुछ होना जाना नहीं है। अलबत्ता तुम अपने बुरे विचारों से अपना ही अहित कर लोगे। तुम चाहते हो कि दूसरे की सम्पत्ति का विनाश हो जाय, पर न तुम्हारे चाहने से किसी को सम्पत्ति प्राप्त हुई है और न वह नष्ट ही हो सकती है। ऐसी स्थिति में तुम अपध्यान कर के अपनी आत्मा को क्यों कलुषित करते हो ? याद रक्खो, यह निरर्थक बुरे विचार तुम्हारे जीवन के लिए अत्यन्त घातक हैं। इन से बचने का प्रयत्न करोगे तो सहज ही पापकर्मों से बच सकोगे।

दान देने के लिए कुछ खर्च होता है, तपस्या करने में कुछ कष्ट उठाना पडता है, किन्तु बुरे विचारों से दूर रह कर सुन्दर विचारो को अपनाने में न कुछ खर्च करना पड़ता है और न कष्ट ही उठाना पड़ता है, फिर अच्छे विचारों को क्यों नहीं अपनाते ?

यदि तुम भाव के प्रभाव को भली भाँति समझ लो तो क्षण भर भी बुरे भावों को अपने अन्त करण में स्थान देना पसंद नहीं करोगे। भगवान् आदिनाथ के ज्येष्ठ पुत्र चक्रवर्त्ती भरत की जीवनी पर विचार करो। उन्हों ने भावना के बल से श्रेष्ठ लोकोत्तर सम्पत्ति प्राप्त की थी। इन के विषय में कहा गया है—

> षट्खण्डराज्ये भरतो निमग्नस्ताम्बूलवक्त्रः सविभूषणाश्च।
> आदर्शहर्म्ये जटिते सुरत्नैर्ज्ञानं स लेभे वरभावतोऽत्र॥

अर्थात्-महाराज भरत छह खण्ड राज्य के अधिपति थे, उन के मुँह मे पान का बीडा रहता था और शरीर बहुमूल्य आभूषणों से विभूषित रहता था, सुन्दर-सुन्दर रत्नों से जटित महल में निवास करते थे, फिर भी उन्हे केवलज्ञान प्राप्त हो गया। वह किस का प्रभाव था? सुन्दर विचारों का ही, उन के अन्तःकरण में अनासक्ति की भावना अत्यन्त प्रबल थी। वे चक्रवर्ती होकर भी समभाव मे रमण किया करते थे। अपने इन सुन्दर विचारों के कारण उन्हे वह परम-ऋद्धि अनायास ही प्राप्त हो गई जिस के लिए दूसरों को घोर तपश्चरण करना पड़ता है।

सचमुच सुन्दर विचारों का जीवन पर बड़ा ही सुन्दर प्रभाव पडता है। अतएव जो कल्याण का अभिलाषी है, जो अपने वर्तमान जीवन के साथ ही साथ भविष्य को भी मगलमय बनाना चाहता है, उसे बुरे विचारों को सर्प के समान भयानक समझ कर उन से बचना ही चाहिए और उत्तम समभाव की सुरम्य वाटिका में ही विहार करना चाहिए।

सुन्दर विचार किस प्रकार के होते है?, यह बतलाने की आवश्यकता नहीं। यह बात तो सभी जन अपने-अपने अनुभव से समझ सकते हैं। फिर भी उन का एक नमूना यह है—

**सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयाः।**
**सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद् दुःखमाप्नुयात्॥**

अर्थात्-ससार के सभी प्राणी सुखी हों, सभी नीरोग हों, सब का कल्याण हो और किसी भी प्राणी को दु ख की प्राप्ति न हो।

इस प्रकार परहित का चिन्तन करने से चित्त शुद्ध होता है और चित्त की शुद्धि से आत्मा का हित होता है। अतएव हे भव्य पुरुषो! अच्छे और भले विचार ही स्व-परकल्याणकारी हैं। उन्हे अपनाओ। निरन्तर पवित्र विचारों का ही आश्रय लो। दुर्भावों का परित्याग करो। विषय-कषाय की भावनाओं को पास भी न फटकने दो। ऐसा करने से तुम्हारा भविष्य उज्ज्वल और आनन्दमय बनेगा।

———

# धर्म और शान्ति

भारत का प्राचीन नाम आर्यावर्त है। यह आर्य जनता की निवासभूमि है। जो हेय कार्यों से दूर रह कर धम का यथाशक्ति आचरण करते है, वे शिष्ट और सस्कारी पुरुष आर्य कहलाते हैं। आर्यों की भूमि होने के कारण भारत को धर्मभूमि का गौरवमय अभिधान प्राप्त हुआ है। किसी युग मे यह अभिधान पूरी तरह सार्थक होता था। इस देश की प्रजा धर्म को अपने प्राणों से भी प्रिय समझती थी। उस के लौकिक आचार-विचार में भी धर्म का पुट होता था। भारतीय धर्मों का गभीर भाव से अध्ययन किया जाय तो स्पष्ट विदित हो जाता है कि यहां की जनता को जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त की समस्त क्रियाओं में धर्म की दृष्टि अवश्य रहा करती थी।

भारतीय इतिहास ऐसे अनेक धर्मवीरों के वृत्तान्तों से उज्ज्वल है, जिन्होंने अपने सर्वस्व का परित्याग कर देना तो उचित समझा किन्तु धर्म का परित्याग करना उचित नहीं समझा। यही नहीं, उन्होंने प्राणों का भी त्याग कर के धर्म को रक्षा की। उन लोगा की यह निश्चल धारणा थी कि—

धर्म एव हतो हन्ति, धर्मो रक्षति रक्षितः।

अर्थात् जो अपने धर्म का विनाश करता है, उस का विनाश हो जाता है और जो धर्म की रक्षा करता है, उस की रक्षा होती है।

तात्पर्य यह है कि वे धर्मवीर लोग धर्मरक्षा को ही आत्मरक्षा और धर्मविनाश को ही आत्मविनाश समझते थे। यही कारण है कि उन्होंने प्राण तो जाने दिये परन्तु धर्म नहीं जाने दिया।

इस प्रकार की धर्मप्रधान मनोवृत्ति होने के कारण उस समय का भारतीय जीवन बड़ा सुखमय था। लोग सन्तोष और शान्ति के साथ अपना जीवन यापन करते थे। जीवन में आज जैसी असन्तुष्टि

अशान्ति, व्याकुलता और दौड़ धूप नहीं थी। धर्म उन की तृष्णा पर अकुश लगाता रहता था और संयमपूर्वक जीवन-निर्वाह की प्रेरणा किया करता था। अतएव उस समय का व्यक्तिगत जीवन उच्च और पवित्र रहता था।

सामाजिक जीवन भी बड़ा सुन्दर था। लोग एक दूसरे के प्रति सहानुभूति, सवेदना और प्रीति रखते थे। उन के पारस्परिक व्यवहार मे एक अनूठी मधुरता होती थी। एक ग्रामवासी दूसरे ग्रामवासियों को अपना कुटुम्बी समझता था और दु:ख-दर्द में उन का हाथ बटाता था। कोई किसी को ठगने, धोखा देने और किसी के अधिकार को हडपने की ऐसी चेष्टा नहीं करता था जैसी कि आज सर्वत्र दिखाई देती है। धर्म के कारण जनता में जबर्दस्त नैतिक भावना थी और इस कारण उन का इहलौकिक जीवन अत्यन्त पवित्रतापूर्ण होता था।

किन्तु ज्यो-ज्यों समय बीतता गया, लोगों की विचारधारा भी बदलती गई। वैज्ञानिक साधनों की प्रचुरता की सुविधा से भारतीय जनता विदेशी लोगों के सम्पर्क मे आई। दुर्भाग्य से इस देश पर विदेशियो का शासन भी स्थापित हो गया। वे विदेशी भी ऐसे थे जिन्हे धर्म की गंभीरता और महत्ता का पता न था, जिन के पास न अध्यात्मवाद था और न भारत जैसा दर्शनशास्त्र ही था। ऐसे लोगों के सपर्क के कारण भारतीय जनता मे भी धर्म के प्रति उदासीनता का भाव आ गया है। आज भारतीय भी अनात्मवाद के पुजारी बनते जाते है और अपनी परम्परागत विरासत को भूलते चले जा रहे हैं।

देखा जा रहा है कि आजकल धर्म के सम्बन्ध मे अनेक प्रकार की अज्ञान और अनुत्तरदायित्व से परिपूर्ण आलोचनाए की जाती हैं। कोई कहता है—धर्म का युग बीत चुका है। जब विश्व अज्ञान के अन्धकार मे निमग्न था तब धर्म की कल्पना हुई थी। आज विज्ञान के प्रकाश मे धर्म ठहर नहीं सकता। विचार और विवेक की रोशनी मे धर्म का कहीं स्थान नहीं है।

ऐसा कहने वाले लोग धर्म के सम्बन्ध मे सर्वथा अज्ञात है।

उन्हे धर्म की वास्तविकता का पता नहीं है। उन्हे समझना चाहिए कि धर्म कभी नष्ट नहीं हो सकता। वह नष्ट होने वाली वस्तु ही नहीं है। धर्म का कोई विशेष युग नहीं होता और इस कारण धर्म कभी असामयिक नहीं हो सकता। जैसे आकाश किसी समय-विशेष के लिए नहीं है और वह किसी भी समय में नष्ट नहीं हो सकता, उसी प्रकार धर्म भी। धर्म शाश्वत है, स्थायी है। वह अहिंसा और सत्य के सुदृढ स्तम्भों पर अवलम्बित है और विश्वमैत्री तथा समता की वज्रमय दीवारों से सुरक्षित है। व्यक्ति मिट सकता है, जातिया मिट सकती हैं, साम्राज्य समाप्त हो जाते है, किन्तु धर्म कभी नहीं मिट सकता। धर्म वस्तु का स्वभाव है, अतएव जब तक वस्तु विद्यमान है तब तक धर्म भी विद्यमान रहेगा। वस्तु का कभी अभाव नहीं हो सकता, इस कारण धर्म का भी कभी अभाव नहीं हो सकता।

लोगों की यह धारणा भ्रमपूर्ण है कि विज्ञान और धर्म एक दूसरे के विरोधी है। सत्य यह है कि वे एक दूसरे के पूरक और सहायक हैं। धर्म-हीन विज्ञान मानवजाति के घोर अमगल और विनाश का कारण है और विज्ञानहीन धर्म अन्धश्रद्धा मात्र है। दोनों सम्मिलित हो कर ही विश्व का कल्याणसाधन कर सकते हैं।

कई लोगों का आक्षेप है कि धर्म की बदौलत ससार में बहुत मार-काट मची है। धर्म ने रक्त की नदिया बहाई है। एक समूह को दूसरे समूह से लड़ाया है। किन्तु धर्म के सम्बन्ध में यदि कोई बड़े से बडा भ्रम हो सकता है तो वह यही भ्रम है। धर्म की तो पहली शिक्षा ही यह है कि प्राणी मात्र को आत्मा के समान समझो। तुम अपने प्रति दूसरों का जैसा व्यवहार चाहते हो, वैसा ही व्यवहार दूसरों के प्रति करो। दूसरों का अनिष्ट और अहित करने का विचार भी मन में मत लाओ। जिन का आचरण तुम्हे अप्रिय है, जो तुम से विरुद्ध व्यवहार करते है, उन के प्रति भी द्वेष न करो, वरन् मध्यस्थ भाव धारण करो। कहा भी है—

सत्वेषु मैत्रीं गुणिषु प्रमोदं,
क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्।

मध्यस्थभावं विपरीतवृत्तौ,
सदा ममात्मा विदधातु देव !

अर्थात्–हे प्रभो ! मेरी आत्मा प्राणी मात्र पर मैत्रीभाव धारण करे, गुणी जनों के प्रति प्रमोद भाव को धारण करे, दु खी जीवों को देख कर दयाभाव को धारण करे और अपने से विरोधी व्यवहार करने वालों पर मध्यस्थ-भाव का धारण करे।

अब विचार कीजिए कि जो धर्म अपने विरोधियो के प्रति समभाव रखने का विधान करता है, वह कभी खून-खराबी के लिए प्रेरणा कर सकता है ? जो धर्म प्राणी मात्र को अपना मित्र और भ्राता समझने का आदेश देता है, क्या उस से यह आशा की जा सकती है कि वह अन्य सम्प्रदाय के अनुयायियों का रक्त बहाने की अनुमति देगा? कदापि नहीं। धर्म करुणा करने की शिक्षा देता है, परोपकार और परहित के लिए प्रेरणा देता है और उदारता रखने का विधान करता है। वह किसी भी प्रकार की मतविभिन्नता के कारण ईर्षा करना, द्वेष करना, किसी को सताना, किसी के प्रति अप्रीति एवं अरुचि करना नहीं सिखलाता। ऐसी स्थिति मे धर्म के विरुद्ध रक्त बहाने का आरोप करना सर्वथा निर्मूल है।

कहा जा सकता है कि इतिहास क्या असत्य है ? क्या ईसाई धर्म के दो सम्प्रदायो में से एक ने दूसरे का खून नहीं बहाया ? क्या इस्लाम धर्म के अनुयायियो ने धर्म के लिये विधर्मियों के गले नहीं काटे ? क्या शैवों ने जैनों का क़त्लेआम नहीं किया ? इतिहास की यह घटनाएं यदि सत्य है तो धर्म को निर्दोष कैसे कहा जा सकता है ? आखिर इस प्रश्न का समाधान क्या है ?

इस मे सन्देह नहीं कि इतिहास मे इन घटनाओं का जो उल्लेख है, उस मे सचाई है, किन्तु इन अन्यायों, अत्याचारों और हत्याओं का कारण धर्म नहीं, धर्मोन्माद है। धर्मोन्माद को ही धर्म समझ लेना काच का हीरा समझ लेने के समान भ्रम मात्र है। अन्धकार और प्रकाश मे जितना अन्तर है, धर्म और धर्मोन्माद मे भी उतना ही अन्तर है। जैसे राष्ट्रीयता अपने आप मे कोई बुरी वस्तु नहीं है, किन्तु राष्ट्रीयता

का उन्माद भयानक होता है। राष्ट्रियता के उन्माद ने संसार को तबाह किया है, समय समय पर घोर नरसंहार किया है, महायुद्धों की सर्जना की है और विश्व को अशान्ति की आग में झोंक दिया है, फिर भी राष्ट्रियता—सच्ची राष्ट्रियता पर यह आरोप नहीं लगाया जा सकता। इसी प्रकार धर्मोन्माद के कारण होने वाले अत्याचारों के कारण धर्म को बदनाम करना भी उचित नहीं कहा जा सकता।

प्राय' देखा जाता है कि लोग अपना स्वार्थसाधन करने के लिए जनता को बहकावे में डालना चाहते हैं। साधारण जनता की आस्था धर्म पर प्रगाढ़ होती है। धर्म के नाम पर जल्दी बहक जाती है। चतुर स्वार्थी लोग जनता की इस दुर्बलता को समझ कर उसे धर्म के नाम पर बहका लेते हैं और अपना लौकिक स्वार्थ सिद्ध कर लेते हैं। राजनीतिज्ञ लोग अकसर इस प्रकार के हथकंडे किया करते हैं। उन के ऐसे प्रयत्नों के कारण धर्म को बदनाम होना पड़ता है।

इन सब बातों को अलग करके हम धर्म के असली स्वरूप पर विचार करें तो पता चलेगा कि संसार का कोई भी धर्म मनुष्यों को गला काटने का उपदेश नहीं देता, वरन दया और करुणा का, सहानुभूति और उदारता का ही उपदेश देता है। अतएव धर्म पर किये जाने वाले समस्त आक्षेप वास्तव में निराधार हैं। धर्मोन्माद के कारण या धर्म का बहाना लेकर किये जाने वाले स्वार्थियों के प्रयत्नों के कारण ही धर्म पर आक्षेप किये जाते हैं और वह समस्त आक्षेप धर्म का सच्चा स्वरूप समझ लेने पर टिक नहीं सकते।

जो लोग कहते हैं कि धर्म का युग समाप्त हो गया, उन्होंने धर्म की महत्ता को लेश मात्र भी नहीं समझा है। धर्म देश और काल की समस्त सीमाओं से परे है। उस का स्वरूप शाश्वत है। धर्म ने मानवजाति को जो महान सिद्धान्त दिये हैं वे किसी विशेष समय के लिये ही नहीं, वे सभी समयों में समानरूप से हितकर और उपयोगी हैं। अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य संतोष, दया, क्षमा आदि की पावन भावनाएं धर्म का महान उपहार हैं। और कौन कह सकता है कि ये भावनाएं आज असामयिक हो गई हैं? कैसे कहा जा सकता है कि किसी भी युग में इन भावनाओं का परित्याग कर के मनुष्य-समाज जीवित रह

सकता है? आशय यह है कि जब तक इस भूतलपृष्ठ पर मनुष्य जाति का अस्तित्व है तब तक धर्म की अनिवार्य रूप से आवश्यकता है। हो सकता है कि कोई धर्म के सिद्धान्तों को धर्म के बदले कोई नया अभिधान दे, किन्तु इस से वस्तु तो बदलने वाली नहीं है, नामपरिवर्तन भले ही हो जाय। जिन्हें धर्म का नाम ही अप्रिय है, वे सन्तुष्ट भले हो लें, परन्तु इस से जगत् का कोई भला होने वाला नहीं।

वास्तव मे धर्म व्यक्ति और समाज दोनों के लिए श्वास की तरह अनिवार्य है। जो लोग धर्म के विरोधी हैं, उन का जीवन भी धर्म के ही आधार पर टिका हुआ है। धर्म से इहलोकसम्बन्धी अभ्युदय ही नहीं सिद्ध होता, परलोकसम्बन्धी अभ्युदय का कारण भी धर्म ही है। धर्म ही एक ऐसी वस्तु है जो जीव के साथ परलोक मे भी जाता है शेष सब पदार्थ यहीं रह जाते हैं। इसी लिये कहा है—

धनानि भूमौ पशवश्च गोष्ठे,
नारी गृहद्वारि जनाः श्मशाने।
देहश्चितायां परलोकमार्गे,
धर्मानुगो गच्छति जीव एकः॥

अर्थात मृत्यु के अवसर पर धन पृथ्वी में ही गडा रह जाता है, पशु पशुशाला मे खडे रह जाते है, स्त्री घर के द्वार तक आ कर लौट जाती है, अन्य मित्रजन और आत्मीय जन श्मशान तक शव के साथ जाते है,शरीर चिता मे भस्म हो जाता है इस प्रकार केवल धर्म ही जीव के साथ परलोक मे जाता है।

भगवान महावीर ने धर्म के विषय मे कहा है—

धम्मो ताणं सरणं, धम्मो गई पइट्ठा य।
धम्मेण सुचरिएण य, गम्मइ अजरामरं ठाणं॥
(तंदुलवेयालिय, गा० ३६)

अर्थात–धर्म त्राण करने वाला है, शरण देने वाला है, धर्म ही गति है और धर्म ही जीवों के लिए आधार है। धर्म की सम्यक् आराधना करने से जीव अजर-अमर स्थान-अर्थात मोक्ष को प्राप्त करता है।

सिक्खों के धर्मशास्त्र में कहा है—

धरम सरब सुखखानि जान सब को हितकारी ।
धरम धरे बुद्धिमान् निरन्तर चित्त मंझारी ॥
धरम सरब सुख हेत निरवन किल झिलमिल खोवत ।
गुर संगत के माहिं धरम कर परापत होवत ॥

धर्म प्राणी मात्र को सुखकारी और हितकारी है। संसार की अन्य वस्तुएं ऐसी हैं कि उन्हे एक आदमी संचित कर लेता है तो उन के अभाव मे दूसरों को कष्ट होता है, किन्तु धर्म इस से सर्वथा विपरीत है। धर्म को धारण करने के कारण उस को भी सुख होता है जो उस को धारण करता है और दूसरों को भी सुख होता है। अतएव धर्म संसार मे एक अपूर्व वस्तु है। धर्म में किसी प्रकार की संकीर्णता नहीं है। वह जातिवाद और वर्गवाद के बखेडे से कोसों दूर है। ब्राह्मण हो या चाण्डाल हो, सब समान रूप से धर्म का आचरण कर सकते हैं। धर्म उस कल्पवृक्ष के समान है जिस की शीतल छाया मे बैठ कर प्राणी मात्र को अपना सन्ताप दूर करने का समान अधिकार प्राप्त है। धर्म वह दिव्य गंगा है जिस में अवगाहन कर के कोई भी अपनी आत्मिक मलिनता को धो सकता है। धर्म का द्वार सब के लिये और सर्वदा के लिए खुला हुआ है। केवल मनुष्य ही नहीं, पशु भी धर्म का पालन और आचरण कर सकते हैं। इहलोक और परलोक मे धर्म का आचरण करने वालों को किसी प्रकार का कष्ट नहीं होता। एक उर्दू के कवि ने कहा है—

सब महल हो नजा की अजीयत ।
ईमान गर रहे मेरा सलामत ॥

अर्थात्—यदि मेरा धर्म बना रहे तो अन्त काल मे मुझे कोई कष्ट न होगा, कष्ट से बचाने का सामर्थ्य सिर्फ धर्म में ही है, क्योंकि धर्म के सिवाय परलोक मे कोई दूसरी वस्तु साथ नहीं जाती। अतएव जिस ने धर्म को बचाया उस ने सभी कुछ बचा लिया और जिस का धर्म चला गया उस का सभी कुछ चला गया—

हमनशीं कहता है कुछ परवा नहीं ईमां गया ।
मैं यह कहता हूँ कि भाई ! यह गया तो सब गया ॥
हम यही कहते हैं साहिब सोच लो अंजामकार ।
दूसरा फिर क्या ठिकाना है अगर ईमां गया ॥

आज लोगो ने धर्म को सब से गई बीती वस्तु समझ लिया है। एक पैसा जायगा तो चिन्ता करेंगे, शोक करेंगे किन्तु धर्म चला जायगा तो कहेंगे कोई परवा नहीं। धर्म गया तो गया, कौन से उस के पैसे उपजते है। किन्तु जिन्हो ने धर्म के माहात्म्य को समझ लिया है वे ऐसा नहीं सोचते। उन के लिए धर्म का मूल्य प्राणों से भी अधिक है। हिन्दी के एक कवि कहते है—

चारु धर्म को सदा प्राण सौ अधिक विचारो,
प्राण तजन सो अधिक डरो जब धर्म न धारो।
भारी विपदा परे हू भूलि सुत न तनिक घबराओ,
नही धर्म सो तब हूँ रंच विश्वास हटाओ।

अधिकाश लोग जब सुख मे समय व्यतीत करते हैं, तब तो धर्म को याद नहीं करते और जब आपत्ति आकर टूट पड़ती है, तो धर्म का स्मरण करते है। किन्हीं-किन्हीं को धर्म का आचरण करते करते भी आपत्ति आ जाती है। ऐसे अवसर पर यही समझने योग्य है कि यह आपत्ति पूर्वकालीन अधर्म के आचरण का परिणाम है। धर्म कदापि आपत्तिजनक नहीं हो सकता, यही नहीं बल्कि धर्म ही समस्त आपत्तियों से बचाने वाला है।

अब प्रश्न हो सकता है कि जिस धर्म की ऐसी महिमा है, उस का स्वरूप क्या है ? अर्थात् मनुष्य क्या आचरण करे तो समझा जाय कि वह धर्म का आचरण कर रहा है ? इस प्रश्न का सक्षेप में उत्तर इस प्रकार है—

धम्मो मंगलमुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो।

अर्थात्-किसी भी प्राणी को मन वचन काया से कष्ट न

पहुचाना और कष्ट में पडे हुए को यथाशक्ति छुड़ाने का प्रयत्न करना, अपनी इन्द्रियो पर और मन पर सयम रखना और यथाशक्ति तपश्चरण करना धर्म है। यह धर्म अत्यन्त कल्याणकारी है।

इसी तथ्य को मध्यम विस्तार के साथ कहे तो इस प्रकार कह सकते है—

क्षमा अहिसा दया मृदु सत्य वचन तप दान।
शील शौच तृष्णा विना, धर्मलिंग दस जान॥

क्षमा, अहिंसा आदि धर्म के दस लक्षण है। इन दसो का निरन्तर आचरण करना, इन्हे अपने जीवन का आधार बना लेना और किसी भी व्यवहार मे इन का उल्लंघन न करना धर्म का आचरण करना कहलाता है।

प्रत्येक प्राणी दु:ख से छुटकारा पाना चहाता है। अपने इस उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए लोग नाना उपाय करते हैं। शरीर मे रोगोत्पत्ति होने पर भाँति भाँति की चिकित्सा, औषधियों के अनुसार उपचार किये जाते हैं। दूसरे दु:खों को दूर करने के लिये अर्थ का उपार्जन किया जाता है, कुटुम्ब परिवार बसाया जाता है और नाना प्रकार के कष्ट भी सहन किये जाते हैं। इतना सब करते हुए भी ससारी जीव दु:ख से छुटकारा नहीं पाते। कोई न कोई दु:ख इन्हे घेरे ही रहता है। इस से स्पष्ट प्रतीत होता है कि ससारी जीवों ने दु:खरूपी बीमारी का ठीक ठीक निदान नहीं किया है और इसी कारण उस की स्थायी चिकित्सा नहीं होती।

प्राणी मात्र के असली दु:ख जन्म, जरा और मरण हैं। इन से मुक्त होने का उपाय किये विना शाश्वत सुख का प्राप्त होना सभव नहीं है। अतएव इन से मुक्त होने के लिये जो उपचार किया जाता है, उसी को धर्म कहते है। धर्म के अतिरिक्त इन दु:खों से छूटने का कोई उपाय नहीं। धर्म से आत्मा का परम उत्कर्ष तो होता ही है। ससार का भी परम कल्याण होता है। इसलिये कहा है—

जो तू दया प्रेरित हो न आता,
ससार में जो न सुधा वहाता।

स्वर्गीय आलोक नही दिखाता,
तो दीखता गौरव का नजारा ॥
माता पिता बन्धु सखा अनोखा,
तू है हमारा वर देवता भी ।
साथी सगा है परलोक का तू,
सर्वस्व मेरा इस लोक का है ॥

धर्म का फल बतलाते हुए कहा गया है—

विना धर्मं न सौख्यं स्या-द्दुर्गतेर्न निरोधनम् ।
नारोग्यं न बलं कीर्तिर्न च कर्मविमोचनम् ॥

अर्थात्–धर्म के बिना सुख नहीं होता, धर्म के बिना दुर्गति का निरोध नहीं होता, धर्म के बिना शारीरिक आरोग्य नहीं होता, धर्म के बिना बल और कीर्त्ति नहीं मिलती और धर्म के बिना कर्मों से छुटकारा अर्थात् मोक्ष भी नहीं मिलता।

इसी आशय को विधिरूप मे आचार्य हरिभद्र सूरि ने यों प्रकट किया है—

धम्मेण कुलपसूई, धम्मेण य दिव्वरूपसंपत्ती।
धम्मेण धणसमिद्धी, धम्मेण सुवित्थडा कित्ती ॥

अर्थात्–धर्म से उत्तम कुल मे जन्म होता है, धर्म से दिव्य सौन्दर्य की प्राप्ति होती है, धर्म से धन और ऐश्वर्य मिलता है तथा धर्म मे विस्तृत कीर्त्ति का लाभ होता है ।

इतने विवेचन से स्पष्ट हो गया है कि धर्म व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के लिए मगलमय है और इस लोक तथा परलोक मे भी मगलमय है। धर्म के विषय मे भगवान महावीर ने जो शिक्षाएं जगत् को दी है, वे अत्यन्त महान है । धर्म की एक प्रधान शिक्षा यह है कि मानवजाति एक है। आज जो अनेक जातियां विद्यमान है और एक-एक जाति मे भी अनेक जातिया हो गई है, वे सब मनुष्यकृत हैं, काल्पनिक

है उन का आधार वास्तविक नहीं है। धर्म की दृष्टि से इन की कोई महत्ता और सत्ता नहीं है।

भगवान महावीर ने तत्काल में प्रचलित जातिवाद का बड़े प्रबल स्वर में विरोध किया था। उन्होंने धर्म को जाति के प्रबल बन्धनों से छुटकारा दिलाया था और घोषणा की थी कि किसी भी जाति में उत्पन्न हुआ पुरुष या नारी धर्म की साधना करने का अधिकारी है, इस विषय में उच्च से उच्च जाति वालों को जो अधिकार प्राप्त हैं, वही सब अधिकार हीन से हीन समझी जाने वाली जाति में जन्म लेने वालों को भी प्राप्त है। धर्म उस वायु के समान है जो प्राणी मात्र को जीवन देती है। धर्म उस सूर्य के समान है जो प्राणी मात्र को प्रकाश देने में किसी भी प्रकार का भेद भाव नही करता। धर्म पृथ्वी के तुल्य है जो अभेदभाव से सब को सहारा देती है। किसी भी प्राकृतिक वस्तु में जाति का भेदभाव नहीं देखा जाता तो धर्म में यह भेद कैसे हो सकता है? धर्म भी तो प्रकृति का ही स्वभाव है। कहा भी है—

पयडिमहावो धम्मो।

अर्थात्—धर्म प्रकृति का स्वभाव है।

शेख सादी ने भी इस विषय में एक महत्त्वपूर्ण बात कही है—

बनी आदम आजाए यक दीगरन्द,
कि दर आफरीनश जि यक जौहरन्द।
चो उजवे बदर्द आवरद रोजगार,
दिगर उजवहारा नमानद करार॥

अर्थात् सभी मनुष्य परस्पर ऐसे सम्बन्धित हैं जैसे एक शरीर के अंग, क्योंकि उन की उत्पत्ति एक ही जैसे तत्त्वों से हुई है। इस लिए जैसे शरीर के एक अंग के पीडित होने पर दूसरे अंग भी सुखी नहीं रहते, इसी प्रकार एक मनुष्य को दूसरे मनुष्य के दुःख का अनुभव होना चाहिए।

भगवान महावीर की दृष्टि में राव रंक का भी कोई भेद नहीं था उन का सब पर पूर्ण समभाव था। इन्हों ने धनवानों को उपदेश का जो

अमृत पिलाया वही दरिन्द्रों को भी। आचारांगसूत्र मे बतल

जहा पुण्णस्स कत्थइ तहा तुच्छस्स कत्थइ
जहा तुच्छस्स कत्थइ तहा पुण्णस्स कत्थइ।

अर्थात् श्रमण भगवान् महावीर धनवानो और वै
को जिस भाव से उपदेश दिया करते थे, दीनों और दरि
उसी भाव से धर्मोपदेश सुनाते थे। और जिस भाव से
दरिद्रों को धर्मोपदेश सुनाते थे उसी भाव से धनवानों को।
अपने शिष्यों को ऐसा ही करने का उपदेश दिया था।

तात्पर्य यह है कि धर्म के उदार क्षेत्र मे किसी भी
कोई भेदभाव नहीं किया जाता। वहा न जाति पॉति के
और न धन वैभव के आधार पर किसी को महत्त्व दिया
जैसे छोटी और बडी नदियॉ समुद्र मे मिल कर एकाकार हो ज
उसी प्रकार मनुष्य मात्र धर्म के पावन प्रागण में पदन्यास क
समान धर्म का अधिकारी बन जाता है। भेद हो सकता है तो
योग्यता के आधार पर। जिस की जैसी योग्यता है वह उतना ह
का आचरण कर सकता है। किन्तु वह योग्यता भी किसी जाति
से सम्बन्ध नहीं रखती। वह आत्मा के गुणों के विकास पर निर्भर

इस प्रकार धर्म ने मुष्य-मनुष्य के बीच समताभाव की स्थाप
करने मे महत्त्वपूर्ण योग दिया है।

धर्म सिखलाता है कि मनुष्य अपने भाग्य का और अप
भविष्य का स्वय ही निर्माता है। प्रत्येक मनुष्य अपने पुरुषार्थ द्वार
ससार के दु खों और बन्धना से छुटकारा प्राप्त कर सकता है। मनुष्य
को अपने कल्याण के लिए किसी से भीख मागने की आवश्यकता नहीं
मनुष्य के भाग्य का निर्माण करने वाला और उसे स्वर्ग या नरक मे
भेजने वाला कोई दूसरा नहीं है। इस सिद्धान्त को विशेष तौर पर
जैनधर्म ने उपस्थित कर के मनुष्य के सामने आत्मनिर्भरता और
स्वाधीनता का एक सुनहरी आदर्श रक्खा है। मनुष्य के लिए यह बड़े
से बडा आश्वासन है। आचाराग सूत्र मे कहा है—

## पुरिसा ! तुममेव तुमं मित्तं,
## किं बहिया मित्तमिच्छसि ?

अरे पुरुष ! तू स्वयं ही अपना मित्र है, बाहर के मित्र की क्यों अभिलाषा करता है ?

यह परम प्रेरणाप्रद प्रवचन उन लोगों को चुनौती देता है और उन के भ्रम का उन्मूलन कर देता है, जो लोग कहते हैं कि धर्म गुलामी करना सिखलाता है। धर्म का स्वर गुलामी का नहीं स्वाधीनता का स्वर है और स्वतंत्रता का बडे से बडा उपासक भी इस से बढ़ कर और क्या कह सकता है ?

भगवान् महावीर ने महान हितकारी धर्म का उपदेश दिया है। उन के समय में, धर्म के सम्बन्ध मे, नाना प्रकार की भ्रमणाएं फैली हुई थीं। लोग बाह्य क्रियाकाण्ड को ही धर्म की कसौटी समझते थे। यज्ञ-याग करना, नदियों में स्नान करना, तिलक-छापे लगा लेना आदि बाह्याचार ही धर्म समझा जाता था। किन्तु भगवान् ने अनेक-विध प्रतिकूल परिस्थितियों मे भी धर्मसंबन्धी इस भ्रम का निराकरण किया और आन्तरिक शुद्धि को धर्म का स्वरूप प्रतिपादित किया। उन्हों ने बतलाया कि बाह्य क्रियाएं अपने मे धर्म नहीं है, किन्तु वे यदि आत्मशुद्धि में सहायक होती है तो धर्म या बाह्य रूप हो सकती हैं। और जिन बाह्यक्रियाओं का आन्तरिक शुद्धि के साथ कुछ भी सबन्ध नहीं है, वे धर्म का अंग नहीं है। इस प्रकार भगवान् महावीर ने संसार को अन्तर्मुखी दृष्टि प्रदान कर के मनुष्य जाति का महान् उपकार किया है।

आज जो लोग धर्म की आलोचना करते हैं, उन्होंने निस्सार क्रियाकाण्ड को ही धर्म समझा है। भगवान महावीर के द्वारा उपदिष्ट धर्मतत्त्व जब उन की समझ में आएगा तो उन के नेत्र खुल जाएंगे और वे धर्म का विरोध नहीं कर सकेंगे। क्योंकि इस धर्म के बिना जगत् की स्थिति ही संभव नहीं है। कहा है—

माता दया है जननी मनोज्ञा ।
सम्यक्त्व तेरा सुपिता कहाता ॥
भाई क्षमा मार्दव आर्जवादि ।
हैं साम्यभावादि सपूत तेरे ॥
दानादि हैं रूप अनेक तेरे ।
जो विश्व को स्वर्ग बना रहे हैं ॥
निष्पाप निस्ताप विशुद्ध तेरा ।
हे चित्त ही आलय एक रम्य ॥
संसार सारा जिस के बिना है ।
अत्यन्त निस्सार मसान जैसा ॥
साकार है शान्ति वसुन्धरा की ।
हे धर्म ! तू ही जग का सहारा ॥

इस घोर अशान्ति और यातनाओं के घर ससार में भी यदि कुछ सुख और शान्ति क्वचित् दृष्टिगोचर होती है तो वह धर्म का ही प्रताप है। धर्म-व्यवस्था ने मनुष्य के अन्त.करण में इतनी गहरी जड जमा रक्खी है कि ज्ञात और अज्ञात रूप मे मनुष्य को वह सन्मार्ग की प्रेरणा करता ही रहता है। क्रूर से क्रूर प्राणी मे भी दया और सहानुभूति आदि की जो दिव्य भावनाए उपलब्ध होती है, वह धर्म का ही प्रताप है। धर्म के इसी प्रताप से जगत् की व्यवस्था चल रही है। जिस दिन धर्मव्यवस्था बिलकुल बिगड जाएगी, उसी दिन जगत् की व्यवस्था भी लुप्त हुए बिना नहीं रहेगी। उस समय यह भूमि श्मशान का रूप धारण कर लेगी।

अतएव मानवीय सुख-शान्ति को बढ़ाने के लिए भी और आत्मा के चरम मगल-साधन के लिए भी धर्म की अनिवार्य आवश्कता है। हे भद्र पुरुषो! वीतराग सर्वज्ञ द्वारा उपदिष्ट धर्म का स्वरूप समझो। इसी मे इस बहुमूल्य और पुण्योपार्जित जीवन की सार्थकता है।

———o———

# मांसाहारनिषेध

आहार का वास्तवकि प्रयोजन शरीरयात्रा का निर्वाह करना है। प्राणियों का शरीर नैसर्गिक रूप से इस प्रकार का बना है कि आहार के बिना वह लम्बे समय तक स्थिर नहीं रह सकता। यही कारण है कि शरीर के प्रति ममता का त्याग कर देने वाले मुनियों और तपस्वियों को भी आहार करना ही पडता है। इस दृष्टि से आहार करना अनिवार्य है और इसी कारण ससार के किसी भी धर्म शास्त्र ने आहार करना वर्जित नहीं किया है।

किन्तु खेद है कि मनुष्य जाति ने आहार के मुख्य प्रयोजन को भुला सा दिया है। कुछ अपवादों को छोड़ कर मनुष्य शरारनिर्वाह की दृष्टि का गौण और जिह्वातृप्ति को मुख्य प्रयोजन मान रहे हैं। यही कारण है कि नाना प्रकार के व्यसनों का, चटपटी चीजों का और सत्त्वहीन खुराक का सर्वत्र आदर किया जा रहा है।

भोजन को जिह्वातृप्ति का साधन आजकल ही समझ लिया गया हो सो बात नहीं है। प्राचीन काल में भी ऐसा समझने वाले लोग मौजूद थे। ऐसे ही लोगो की कृपा से मासाहार मनुष्य के भोजन मे शामिल हो गया है। किन्तु ऐसे लोग जिह्वालोलुपता के ऐसे वशीभूत हो गए हैं कि वे मासाहार के तथ्य पर विचार ही नहीं करते। मास मनुष्य का आहार है या नहीं? इस प्रश्न पर विचार करने का अवकाश ही उन्हें नहीं है।

बिना हिंसा के मांसाहार का निष्पादन नहीं होता और जैन धर्म हिंसा का प्रबल प्रतिषेधक है। जैनदृष्टि किसी प्राणी को मार डालना तो दूर कष्ट पहुँचाना और कष्ट पहुँचाने का विचार करना भी महापाप मानता है। किन्तु हमे यहाँ विचार करना है कि मांस मनुष्य का स्वाभाविक आहार है या नहीं? अर्थात प्रकृति मे वह आमिषभोजी है या निरामिषभोजी?

मानवशरीर की रचना और उस के अंगों की बनावट के आधार पर जब हम विचार करते है तो स्पष्ट प्रतीत होने लगता है कि मनुष्य प्रकृति से मासाहारी नहीं है। यहा मासभोजी प्राणियो की कुछ विशेपताओं पर ध्यान दीजिए और देखिए कि वह मनुष्य मे पाई जाती है या नहीं ? वे इस प्रकार है—

१—मासाहारी पशु रात्रिकाल मे छोटे जन्तुओं का शिकार करते है और दिन को सोते है, किन्तु मनुष्य इस श्रेणी मे नहीं आता। वह रात्रि को सोता है।

२—मासाहारी पशुओं और पक्षियो का चमडा कठोर होता है। उस पर घने बाल होते हैं, किन्तु मनुष्य का शरीर ऐसा नहीं होता।

३- कुत्ता, सिंह आदि मासाहारी पशु जिह्वा से चाट चाट कर पानी पीते है, गाय भैंस आदि की तरह घूंट भर कर नहीं। मनुष्य कुत्ता या सिंह की तरह नहीं किन्तु गाय भैंस की तरह पानी पीता है। अतएव वह मासाहारी प्राणियो की श्रेणी मे नहीं आता।

४—मासाहारी पशुओ के शरीर से पसीना नहीं निकलता, परन्तु म ष्य के शरीर से पसीना निकलता है, अत मनुष्य मासाहारी नहीं है

५—मासाहारी पशुओं के मुख मे थूक नहीं रहता, परन्तु अन्नाहारी या फलाहारी प्राणियो के मुख से थूंक निकलता।

६—मासाहारी पशु आदि गर्मी से हापने पर जीभ बाहर निकाल लेते हैं, किन्तु मनुष्य ऐसा नहीं करता।

७—मासाहारी प्राणियों के नाखून नुकीले होते है, मनुष्य के नहीं। मासाहारा पशुओं की आतें और पेट की नालिया भिन्न प्रकार की होना है, मनुष्य आदि वनस्पतिभोजी प्राणियों की भिन्न प्रकार की। मनुष्य के उदर मे मास का पचाने वाली गिल्टिया होती ही नहीं हैं।

८—मासाहारी पशुओं का आखे गोल होती हैं, मनुष्य की वैसी नहीं होती।

९—मासाहारी जीवो को गर्मी बहुत लगती है। थोड़ी-सी गर्मी लगते ही वे हाफने लगते हैं, किन्तु अन्नाहारी या फलाहारी जीवों

को न इतनी गर्मी लगती है और न वे इतना ज्यादा हांफते ही हैं। मनुष्य की गणना ऐसे ही प्राणियों मे है। अत वह मांसाहारियों मे नहीं गिना जा सकता।

१०—मांसाहारी पशु कच्चा मास खाकर उसे पचा लेने मे समर्थ होते हैं, किन्तु मनुष्य मे ऐसी शक्ति नहीं है।

११—मासाहारी पशुओ के दात लम्बे गाजर के आकार के से पैने होते हैं और अलग-अलग होते है, किन्तु फलाहारियो के दात छोटे-छोटे चौड़े और परस्पर मिले होते है, जैसे कि मनुष्य के भी है।

१२—मनुष्य को मनोरंजन के लिये जाना हो तो वह बगीचे, फुलवाडी और खेत आदि मे जाना पसन्द करता है, किन्तु अपनी प्रकृति के कारण मासाहारी जीव वहा जाते है जहा मृतक जीवों की दुर्गन्ध से वायुमण्डल दूषित हो रहा हो।

१३—मनुष्य को मृतक जीवो की दुर्गन्ध से व्याप्त वायुमण्डल मे बहुत समय तक रक्खा जाय तो वह शीघ्र ही रोगी होकर समाप्त हो जाएगा, किन्तु मासाहारियो के सम्बन्ध मे यह बात नहीं है। वे ऐसे दुर्गन्धपूर्ण स्थान मे चाहे जितने काल तक ठहर सकते हैं। उन के स्वास्थ्य को किसी प्रकार की हानि न होगी।

१४—मनुष्य के छोटे बालक के सन्मुख यदि फल और मास दोनों रक्खे जाए तो वह फलो की ओर आकर्षित होगा और उन्हे मुह मे डाल कर उन के रसास्वाद से आनन्दित होगा, किन्तु कदाचित् मास को उठा ले तो मुख में डाल कर फैंक देगा। किन्तु मासाहारी पशुओं के बच्चों की परिस्थिति इस से विपरीत होती है। वे मास के लोथडो पर ही झपटेंगे, चाहे सैकडों प्रकार के उत्तमोत्तम खाद्य पदार्थ उन के सामने मौजूद हों।

आमिषभोजी और निरामिषभोजी प्राणियो की यह जो प्राकृतिक विशेषताए यहा दिखलाई गई हैं उन पर ध्यान देने से स्पष्ट हो जाता कि मनुष्य प्रकृति से मासभोजी नहीं किन्तु अन्नाहारी है।

प्राकृतिक दृष्टिकोण से विचार करने के बाद अब आयुर्वेद और स्वास्थ्य की दृष्टि से इस प्रश्न पर विचार करें

१—जिन देशों के मनुष्यों को अधिकतया मांस खा कर ही जीवननिर्वह करना पडता है, वे प्राय कुरूप और कुबुद्धि होते हैं। उन के स्भाव मे निर्दयता, क्रूरता तथा कठोरता होती है। उन में रक्तदोप और विशूचिका की बीमारी शीघ्रता से फैलती है।

२—प्रोफैसर सर चार्ल्स बेल ने अपने अनुभवो के आधार पर लिखा है कि मनुष्यों मे दातो के रोग मांसाहार के कारण बढ़ गए हैं।

३—आयुर्वेद के प्रसिद्ध ग्रन्थ चरकसहिता के पांचवे अध्याय में लिखा है कि मास मनुष्य के पेट में शीघ्र नहीं पचता, अतएव वह मनुष्य का आहार नहीं है।

४—सुश्रुतसहिता (सूत्र ४६) में कहा है कि मांस से कफ और पित्त के विकार उत्पन्न होते है और वह देर से पचता है। अतएव उस का भक्षण करना उचित नहीं है।

५—डाक्टर एल्फ्रेड साहब ने लंदन के डाक्टरों की संसद् में अपना निबंध पढते हुए कहा था कि मांस ८० से ६० प्रतिशत रोग के कीड़ों से भरा रहता है।

६—डाक्टर फोर्ड एम डी कहते हैं कि मटर, चना आदि अन्नों में २३ से ३० प्रतिशत तक नाइट्रोजन होता है और ५५ से ५८ प्रतिशत तक नशास्ता और तीन प्रतिशत के लगभग नमक वाले पदार्थ होते हैं, किन्तु मांस में नाइट्रोजन केवल ८ से ६ प्रतिशत तक होता है और नशास्ता तो न होने के समान ही है। इस आधार पर उन का कहना है कि मास का आहार मनुष्य के लिए लाभकारी नहीं हो सकता।

७—मास में चीनी और नशास्ता के अश भी नहीं होते। इस लिए वह मस्तिष्क की नसों को शक्ति नहीं पहुँचा सकता। वनस्पति और फलो मे ये तत्त्व बहुलता मे होते हैं अतएव स्पष्ट है कि जिन्हें मस्तिष्क और बुद्धि का काम करना है, उन के लिए मासहार हानिप्रद है।

८—पश्चिम के कई डाक्टरों ने, जिन के प्रधान डा० जोनहैरन साहब थे, अपने अनुसन्धान के फलस्वरूप यह सिद्ध किया है कि मासाहारियों की आयु सब्जी खाने वालो की अपेक्षा कम होती है, क्योंकि मासाभक्षण करने वाले मनुष्य की हृदयगति तीव्र हो जाती है। उसे क्रोध भी शीघ्रता से आता है। यही कारण है कि योगाभ्यासी व्यक्ति,

जो प्राणायाम के द्वारा दीर्घायु बनते हैं, वे मास का आहार कदापि नहीं करते।

६—पशुओं के प्राण निकलने के पश्चात् शीघ्र ही उन के मांस में विषैले पदार्थ उत्पन्न हो जाते हैं। जब पशु काटा जाता है तब पसीना आदि मलयुक्त पदार्थ, जो उस के रक्त और शरीर से निकलने वाले होते हैं, वे शरीर अर्थात् मांस के अन्दर ही रुक जाते हैं और इस प्रकार मांसाहारी मनुष्य उस मांस के साथ-साथ उन दूषित पदार्थों को भी खा जाता है, जिस से अनेक प्रकार के रोगों की उत्पत्ति होती है।

१०—जिन देशों में मांसभक्षण करने का प्रचार अधिक है, वहां स्वभावतः रोग भी अधिक होते हैं। और जहा रोगों का आधिक्य होता है वहा वैद्यों और डाक्टरों की संख्या भी अधिक पाई जाती है, यहां तुलना की दृष्टि से कुछ देशों के नाम और वहा पाये जाने वाले डाक्टरों की सख्या दी जाती है, जिससे यह विषय स्पष्ट प्रमाणित हो सके—

| देश का नाम | प्रतिमनुष्य मास का खर्च | दस लाख मनुष्य सख्या के पीछे डाक्टरों की संख्या |
|---|---|---|
| जर्मनी | ६४ पौण्ड | ३५५ |
| फ्रांस | ७७ ,, | ३८० |
| ब्रिटेनिया | ११८ ,, | ५७८ |
| आस्ट्रेलिया | २७६ ,, | ७८० |

ऊपर दिये नक्शे से स्पष्ट प्रकट होता है कि आस्ट्रेलिया मांसभक्षण में सब से आगे है वहा के निवासियों में मासभक्षण का सब से अधिक प्रचार है। यही कारण है कि वहा पर अन्य देशों की अपेक्षा डाक्टरों की सख्या भी अत्यधिक है।

भारतवर्ष में हम देखते हैं कि ज्यों-ज्यों मांसाहार का प्रचार बढ़

रहा है त्यों-त्यों रोगों की संख्या भी बढती जा रही है और इसी कारण डाक्टरो की संख्या भी बढ़ रही हैं। आज से सौ-पचास वर्ष कहीं-कहीं कोई वैद्य या हकीम दिखाई देता था, किन्तु आजकल तो नगर का कोई मुहल्ला या गली ऐसी नहीं यहां डाक्टर साहब का शफाखाना मौजूद न हो। बल्कि कई बड़े नगरों में तो डाक्टरों के ही विशेष बाजार या मुहल्ले बन गए हैं। इस रोगवृद्धि का सब से बड़ा कारण मासाहार का प्रचार ही है।

११—यदि कारागार में जाकर दण्ड भोगने वाले अपराधियों के भोजन का पता लगाया जाय तो प्रकट होगा कि उन में अधिक संख्या मासाहारियो की है। इस का एक कारण तो यह है कि मासाहारी को मदिरापान, व्यभिचार तथा अन्य कुकर्मों की आदत पड जाती है और इस आदत के कारण वह चोरी, हत्या आदि घोर से घोर कृत्य करता हुआ भी शंकित नहीं होता। दूसरा कारण यह है कि मांसाहारी की बुद्धि कुंठित हो जाती है, मस्तिष्क विचारशील नहीं रहता और दिल कठोर बन जाता है। जहा यह त्रिदोष मिल कर आक्रमण करते हैं वहा मनुष्य किसी भी अधम से अधम कृत्य को निस्संकोच हो कर कर बैठता है। जहा बुद्धि, विवेक और दिल का दिवाला निकल गया वहा मनुष्य की खैर नहीं।

१२—मास, वनस्पति और अन्न की अपेक्षा महंगा भी पड़ता है। यही कारण है कि यूरोप के देशों में आवश्यकता होने पर मास का राशन हो जाता है किन्तु वनस्पति का राशन कभी नहीं होता।

१३—मृतक को छू कर लोग अपने आप को अपवित्र समझते हैं और पवित्र होने के लिए स्नान आदि क्रियाएं करते हैं। किन्तु इस से अधिक आश्चर्य की बात और क्या हो सकती है कि वह जीभ की लोलुपता का शिकार हो कर मृतक के कलेवर को अपने पेट मे डाल लेते हैं। छि कितनी अधमता है। जरा सी देर की जिह्वातृप्ति के लिए मनुष्य एक चलते फिरते अपने ही जैसे, प्राणी का अन्त कर देता है और अपने जीवन को भी निकृष्ट और पापमय बना लेता है। जिसे अपने पैर में कांटा चुभना भी सहन नहीं होता, वही दूसरे प्राणियों का

गला काटने में संकोच नहीं करता। मांसभक्षण मनुष्य जाति का बड़े से बड़ा कलंक है।

कुछ लोग अपने बचाव के लिए एक तर्क उपस्थित करते हैं। कहते हैं कि हम स्वयं पशु की हत्या नहीं करते। हत्या करने वाला कोई और होता है और हम सीधा मांस खरीद लेते हैं। ऐसी स्थिति में हमें जीवहिंसा का पाप नहीं लग सकता।

ऐसा कहने वाले लोग दूसरों को तो धोखा देते ही हैं, अपने आप को भी ठगते हैं। वे अपने चित्त को झूठा आश्वासन देते हैं। क्या वे यह नहीं जानते कि मांस खाने वाले न हों तो कत्लखाने स्वतः बंद हो जाएं। आज लाखों पशु मौत के घाट उतारे जाते हैं, वह मांस-भक्षियों की जीभ को तृप्त करने के लिए ही। अतएव वे उस हिंसा के उत्तरदायित्व से नहीं बच सकते। मनुस्मृति में कहा है —

अनुमन्ता विशसिता, निहन्ता क्रयविक्रयी।
संस्कर्त्ता चोपहर्त्ता च, खादकश्चेति घातकाः॥

अर्थात् पशु को मारने की अनुमति देने वाला, शस्त्र से मरे हुए जीवों के अंगों का पृथक्-पृथक् करने वाला, मोल लेने वाला, बेचने वाला, पकाने वाला, लाने वाला, परोसने वाला और खाने वाला, यह सब उस पशु के घातक ही कहलाते हैं।

इस कथन से और अपने अपने अन्तःकरण की साक्षी से तथा तर्क से भी यह बात भलीभाँति सिद्ध होती है कि मांस खरीद कर खाने वाले पशुहत्या के पाप से बरी नहीं हो सकते।

# कुछ शंकाएं और उन के

१—कहा जाता है कि वनस्पति में भी जीव होता है, ह
वनस्पति-भोजन भी हिंसामय है। फिर मांसभोजन में पाप व
वनस्पतिभोजन मे अपाप मानना कैसे उचित हो सकता है ?

इस शका का समाधान यह है कि सजीव वनस्पति का भोज
भी एकदम निष्पाप नहीं है। किन्तु इस का अर्थ यह नहीं कि व
मासाहार के समान घोर पाप है। किसी के मकान की दीवाल में से
लगा कर और ताले तोड कर धन का अपहरण कर लेना भी अदत्ताद
(चोरी) है और किसी के घर मे पडे हुए घास के तिनके को दात खुरच
के लिए उठा लेना भी अदत्तादान है। दोनो जगह बिना दी हुई वस्
का ग्रहण किया गया है, फिर भी इन दोनों अदत्तादानों में कुछ अन्तर
है या नहीं ? शास्त्रीय दृष्टि और व्यावहारिक दृष्टि इन में महान् अन्तर
देखती है। धन का अपहरण करने वाला राजदण्ड का पात्र होता है
तिनका उठाने वाला नहीं। इसी प्रकार शास्त्रीय दृष्टि से धन चुराने
वाले गृहस्थ का व्रत भग हो जाता है, तिनका उठाने वाले का नहीं।
धन चुराने वाले को ससार चोर कहता है। तिनका उठाने वाले को
नहीं। इस का कारण यह है कि धन चुराते समय आत्मा मे भयानक
सक्लेश भाव उत्पन्न होते हैं, और चोरी की उत्कट भावना होती है,
किन्तु तिनका उठाने समय ऐसा नहीं होता।

कोई जीव एकेन्द्रिय, कोई द्वीन्द्रिय, कोई त्रीन्द्रिय, कोई चतुरिन्द्रिय और कोई पचेन्द्रिय होते है। एकेन्द्रिय की अपेक्षा द्वीन्द्रिय की हिंसा में अधिक पाप माना गया है और यही क्रम पचेन्द्रिय की हिंसा तक समझना चाहिए। इस पर अधिक विवेचन करने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि प्रत्येक विवेकशील पुरुप का अन्त.करण स्वयमेव इस सचाई का साक्षी है।

२—कई लोक प्रश्न करते हैं कि यदि मासाहार इतना अधिक हानिकारक है तो मनुष्यों की अधिक सख्या उस का सेवन क्यो करती है?

इस शका का समाधान यह है कि कुसस्कारों के कारण मनुष्य की प्रकृति हीन हो गई है। इसी कारण मनुष्य अपने हिताहित का विचार न कर के मदिरा, गाजा, चरस, अफीम तथा तमाखू जैसे विपैले पदार्थों का भी सेवन करने लग गया है, जिस से उस की बुद्धि और स्वास्थ्य का सर्वनाश हो जाता है। इसी प्रकार मनुष्य ने मास का सेवन भी आरम्भ कर दिया है।

३—कई लोग कहते हैं कि सिंह, सर्प, बिच्छू और भेडिया आदि हिंसक पशु, जो मनुष्य जाति के शत्रु हैं, उन का वध क्यों न किया जाए? किन्तु ऐसा कहने वालों से प्रश्न किया जा सकता है कि क्या मृग, बकरी, मेढ़ा, कुक्कुट, तीतर बटेर और मछली भी हिंसक जन्तु है? यदि नहीं, तो फिर उन की हत्या क्यो की जाती है?

इस के अतिरिक्त हिंसक जीव यदि मनुष्य पर आक्रमण करे तब अपनी प्राणरक्षा के लिए उस पर आक्रमण करना तो समझ मे आ सकता है, किन्तु शान्तरूप मे बैठे अपने बच्चों के साथ मौज मे विचरने वाले, निर्दोप और निरपराध जन्तुओं पर अस्त्र-शस्त्र चलाना किस प्रकार संगत, न्याययुक्त और निष्पाप कार्य कहा जा सकता है?

४—कई लोगों की धारणा है कि मास न खाने से मनुष्य दुर्बल और कायर बन जाता है। उस मे युद्ध की भावना नहीं रहती। उन की इस भावना से देश गुलाम बन जाता है और अत्याचार का प्रतीकार करने का उस मे सामर्थ्य नहीं रहता। परिणाम यह होता है कि अत्याचार करने वालों की सख्या बढ जाती है।

इस कथन के उत्तर में कहा जा सकता है कि यदि मनुष्य मोटा और भद्दा बनना चाहता है तब तो और बात है; अन्यथा वीर और वीर बनने के लिए मांसाहार की कोई आवश्यकता नहीं है। मांस खाने से मांस भले ही बढ़ जाता हो, किन्तु बल और शौर्य नहीं बढ़ता। अनेक फलाहारी पुरुषों के उदाहरण हमारे सामने विद्यमान हैं जो बड़े शूरवीर और योद्धा हुए हैं और आज भी मौजूद हैं। जैसे कि—

(क) प्रोफैसर राममूर्त्ति के नाम से कौन अपरिचित है ? वह चलती हुई मोटरों को अपने हाथों से रोक लेता था। हाथी को अपनी छाती पर खड़ा कर लेता था। लोहे की मोटी जंजीर को तड़ाक से तोड़ देता था। इतना बलशाली होने पर भी राममूर्त्ति ने कभी मांस नहीं खाया।

(ख) वीर तथा बली मरहठे मांसाहारी नहीं थे

(ग) राजा विक्रमादित्य और सम्राट् अशोक की वीरता, बुद्धिमत्ता और साहसिकता आज तक प्रसिद्ध है। वे मांसाहारी नहीं थे।

(घ) श्री रामचन्द्र, श्रीकृष्ण, बाबा नानक, अरस्तू, सुकरात, मिस्टर एडीसन, सरबर्नार्ड शा, जनरल बोथा, ब्रिगेडियर उस्मान, महात्मा गांधी आदि बड़े-बड़े योद्धा और महात्मा फलाहारी ही थे—मांसाहारी नहीं।

(ङ) संसार में अनेक पशु ऐसे हैं जो बहुत बलवान हैं, किन्तु मांसाहारी नहीं हैं, जैसे बैल, हाथी, गैंडा आदि।

(५) कोई-कोई यह युक्ति देते हैं कि सृष्टि का नियम ही ऐसा है कि बलवान जन्तु निर्बल को खा जाता है। जैसे मच्छर को मक्खी खा जाती है, मक्खी को मेंढक खा जाता है, मेंढक को सर्प खा जाता है, और सर्प को न्योला खा जाता है। छोटी मछली को बड़ी मछली खा जाती है। ऐसी स्थिति में, मनुष्य सब प्राणियों में बलवान् होने के कारण दूसरे सभी प्राणियों को खाने का अधिकारी है। कहा भी है—

जीवो जीवस्य जीवनम्।

अर्थात्-एक जीव का जीवन दूसरे जीव पर अवलम्बित है। इस

युक्ति से मांसाहार का समर्थन करना अज्ञानपूर्ण है। मनुष्य बुद्धि और विवेक से विभूषित प्राणी है। पशु-पक्षी और कीट-पतंग बुद्धिहीन हैं। अतएव मनुष्य को पशु-पक्षी आदि का अनुकरण न कर के अपने निर्मल विवेक का ही अनुसरण करना चाहिए। पशुओं में प्रचलित ढंग यदि मनुष्य-समाज में भी प्रचिलत हो पड़ा तो प्रत्येक सबल मनुष्य निर्बल मनुष्य की हत्या करने पर उतारू हो जाएगा। ऐसी भयकर दशा में सृष्टि का क्रम भी गड़बड़ में पड़ जाएगा। अतएव मनुष्य को मनुष्य बन कर ही रहना चाहिए, पशु बन कर नहीं।

**जीवो जीवस्य जीवनम्**, का तो अर्थ ही उलटा समझा जा रहा है। उस का सही आशय यह है कि प्रत्येक जीव, दूसरे जीव के जीवन का सहायक होना चाहिए, विघातक नहीं। इसी अभिप्राय से जीव को जीव का जीवन, कहा है, यह नहीं कहा कि जीव जीव की मृत्यु है।

६—कई सज्जनों का कहना है कि मांसाहारी मनुष्य बड़े साहसी और बलवान् होते हैं, जैसे यूरोपियन लोग और पठान लोग। वीरता और शौर्य अन्य वस्तु है तथा अत्याचारी और निर्दय होना अन्य बात है।

गत दोनों महायुद्धों में यह बात सिद्ध हो चुकी है कि मासाहारी सैनिकों ने भीरुता दिखलाई। वे अल्प श्रम करते ही थक जाते थे और उन का श्वास फूलने लगता था। निरामिषभोजियों की दशा उन से विपरीत थी। अतएव यह निरा भ्रम है कि मासाहारी अधिक वीर और साहसी होते हैं।

७—यह शका भी उठाई जाती है कि जब झाड़ू लगाने और गदी मोरियों की शुद्धि करने मे सहस्रों जीव मारे जाते है तो मास-प्राप्ति के लिए जीवहत्या करने मे क्या दोष है? किन्तु यह तर्क अबोध बालकों का सा है। विचारवान् पुरुष तो जानता है कि किसी भी कार्य का शुभ या अशुभ फल भावना के अनुसार मिलता है। एक जीव को हम इरादा कर के मारें अपनी जीभ की लोलुपता के वशी भूत हो कर मारें, अपनी क्षणिक तृप्ति के लिए मारें और दूसरे की हिंसा विवशता से या अनजान से हो जाय, तो दोनों में पूर्व-पश्चिम का सा

अन्तर है। इस के अतिरिक्त यह कोई सगत युक्ति भी नहीं कि हम जीवन मे किसी बुराई से पूरी तरह नहीं बच सकते, अत उस बुराई को जान बूझ कर करे।

८—लोग यह तर्क उपस्थित करते है कि हम गाय भैंस का दूध निकालते समय उन्हे अमुक स्थान पर खडा कर देते हैं और थनो को दबा-दबा कर उन्हें पीडा पहुँचाते हैं। इसी प्रकार घोडा और ऊट आदि पर सवारी कर के उन्हे कष्ट देते हैं। प्राणी की हत्या करना भी एक प्रकार का कष्ट देना ही है। अतएव उस मे कोई पाप नहीं कहा जा सकता।

यह तर्क मूर्खतापूर्ण है। सेवा लेना और प्राण लेना एक ही बात कैसे हो सकती है? माता-पिता अपनी सन्तान से, स्वामी अपने सेवक से, गुरु अपने शिष्यों से सेवा लेते है, क्या इस का अर्थ यह है कि वे उन पर अत्याचार करते है, ससार के प्राणियों का एक दूसरे की सहायता से ही काम चलता है। पशुओं की सेवा और पालन-पोषण करने के बदले उन से जो सेवा ली जाती है, उस की तुलना हत्या के साथ करना नितान्त अनुचित है।

९—कुछ लोग कहते है—कस्तूरी, मधु और रेशम की प्राप्ति के लिए अनेक जीवों का वध किया जाता है, तब मास के लिए ही जीवहत्या करना क्यों पाप है? इस प्रश्न का समाधान यह नहीं कि एक हिंसाजनित वस्तु का उपयोग किया जाता है, अत. दूसरी हिंसाजनित

नली लगा कर बड़ी सावधानी से मधु ले लेते है और किसी भी मक्षिका का हनन नहीं होने देते, क्योकि उन्ही मक्षिकाओं से ही मधु प्राप्त करना होता है। वे उन का हनन करेंगे तो फिर मधु कैसे प्राप्त कर सकेंगे? मधुमक्षिकाओं की हत्या कर के मधु लेना दुष्ट और अज्ञानियो का काम है।

यही बात रेशम के सम्बन्ध में है। जो रेशम जीववध के द्वारा तैयार होता है उस का उपयोग करना सर्वथा अयोग्य है, किन्तु रेशम जीववध के बिना भी तैयार होता है। जो प्राणियो की हत्या कर के रेशम बनाते है वे घोर पाप के भागी होते है और ऐसे रेशम का उपभोग करने वाले भी पाप से नहीं बच सकते। अतएव इस घोर पाप से बचने की इच्छा रखने वालों को रेशम का उपयोग नहीं करना चाहिए।

१०—कई भाई कहते है—पशुवध से कई लाभ हैं। उन का मास खाने के काम आ जाता है, चमड़ा जूता आदि बनाने के काम आ जाता है और चर्बी आदि दूसरे काम आ जाती है। किन्तु यह तो वही बात हुई कि किसी ने आम का वृक्ष लगाया हो और उस से प्रतिवर्ष पचास-साठ मन आम लेता हो, किन्तु इस से सन्तुष्ट न हो कर वह सींचे-फले हुए आम के इस वृक्ष को मूल ही से काट लूं जिस से फल तो प्राप्त हो ही जाएंगे, साथ ही उस का काष्ट भी काम आ जाएगा। ऐसे मूर्ख को यह विचार नहीं कि भविष्य में फलो से ही वंचित होना पडेगा। यही बात चमड़े आदि के लिये पशुवध का विचार करने वालों पर भी लागू होती है।

## शास्त्रीय दृष्टिकोण से मांसाहार

कई लोगों का कथन है कि अनेक धर्मशास्त्रों में मांसाहार का विधान है। उन का कथन भ्रमपूर्ण है। जिस मे मांसाहार का विधान हो, वह शास्त्र ही नहीं कहला सकता। शास्त्र तो वह है जो मनुष्य को कुमार्ग पर जाने से रोकता है। वह शास्त्र ही कैसा जो मनुष्य को मांसभक्षण जैसी गंभीर बुराई की ओर आकर्षित करे।

जैनशास्त्रों के सम्बन्ध में तो इस प्रकार शंका हो ही नहीं सकती, क्योंकि जैनधर्म की नींव ही अहिंसा पर है। किसी जीव की हत्या करना तो दूर रहा, वह तो किसी का अनिष्ट-चिन्तन करना भी पाप समझता है। जैनशास्त्रो मे नरकगति के चार कारण बतलाये हैं-(१) महा आरंभ-हिंसा (२) महापरिग्रह-लोभ-लालच (३) पंचेन्द्रिय प्राणी का वध और (४) मासाहार। जैनशास्त्र का कथन है—

सव्वे पाणा पियाउआ, सुहसाया, दुक्खपडिकूला, अप्पिय-वहा, पियजीविणो, जीविउकामा, सव्वेसि जीवियं पिय।

(आचारांगसूत्र, अ०-२, उ०-३. सू०-८१)

अर्थात्-सभी जीवों को अपनी आयु प्रिय है। सभी सुख चाहते हैं। सभी दु ख से द्वेष करते है। सब को वध अप्रिय लगता है और जीवन प्रिय लगता है। सब दीर्घायु चाहते हैं, सब को अपना-अपना जीवन प्यारा है।

सव्वे अक्कान्तदुक्खा य, अओ सव्वे अहिंसिया।

(सूत्रकृतांग अ-१, उ०-४, गा०-६)

अर्थात-सब प्राणियों को दु ख अप्रिय लगता है, अतएव किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करनी चाहिए।

जैनशास्त्र तो इस प्रकार की शिक्षाओं से भरपूर है ही, किन्तु अन्य मतों के धर्मशास्त्र भी इसी सिद्धान्त का समर्थन करते है। कुछ प्रमाण लीजिए-

नकिर्देवा मिनीमसी न किरा योपयामसि।

(ऋग्वेद, १-१३४-७)

अर्थात-हम न किसी को मारें और न धोखा दें।

न स्रेधन्तं रयिर्नशत्।

(ऋग्वेद, ७-३२-२१)

अर्थात-हिंसक को धन नहीं मिलता।

सर्वे वेदा न तत्कुर्युः, सर्वे यज्ञाश्च भारत !
सर्वे तीर्थाभिषेकाश्च, यत्कुर्यात् प्राणिनां दया ॥

(महाभारत, शान्तिपर्व)

अर्थात् प्राणियो की दया जो फल देती है, वह चारो वेद भी नहीं दे सकते, समस्त यज्ञ भी नहीं दे सकते और तीर्थों के स्नान तथा वन्दन भी वह फल नहीं दे सकते। और भी कहा है—

अहिंसालक्षणो धर्मो, ह्यधर्मः प्राणिनां वधः ।
तस्माद् धर्मार्थिभिर्लोकैः, कर्त्तव्या प्राणिनां दया ॥

अर्थात्-अहिंसा धर्म और प्राणियो का वध अधर्म है। अतएव धार्मिक पुरुषों को सदा दया ही करनी चाहिए।

मनुस्मृति के पाचवे अध्याय मे लिखा है—

यो हिंसकानि भूतानि, हिनस्त्यात्मसुखेच्छया ।
स जीवंश्च मृतश्चैव, न क्वचित् सुखमेधते ॥

अर्थात्-जो अहिंसक जीवों को अपने सुख की इच्छा से मारता है वह मनुष्य जीता हुआ भी मरे के समान है, क्योंकि उस को कहीं सुख नहीं मिल पाता।

यो बन्धनवधक्लेशान् , प्राणिनां न चिकीर्षति ।
स सर्वस्य हितप्रेप्सुः, सुखमत्यन्तमश्नुते ॥

(मनु० अ० ५ श्लो० ५३)

अर्थात्-जो मनुष्य प्राणियों के वध, बन्धन और क्लेश उत्पन्न करने की इच्छा नहीं करता, वह सब का शुभेच्छु अत्यन्त सुख पाता है।

वर्षे वर्षेऽश्वमेधेन, यो यजेत शतं समाः ।
मांसानि च न खादेत्, यस्तयोः पुण्यफलं समम् ॥

समान है। पुराणों में भी हिंसा का स्थान स्थान पर निषेध किया गया है। जैसे—

प्राणिघातात्तु यो धर्ममीहते मूढ़मानसः।
स वाञ्छति सुधावृष्टिं, कृष्णाहिमुखकोटरात् ॥

अर्थात्—प्राणियों का घात कर के जो मूर्ख धर्म उपार्जन करने की इच्छा करता है, वह काले साँप के मुख से अमृत की वर्षा की इच्छा करता है।

एकतः काञ्चनो मेरुर्बहुरत्ना वसुन्धरा।
एकतो भयभीतस्य, प्राणिनः प्राणरक्षणम् ॥

अर्थात्—एक तरफ सुवर्णमय सुमेरु और बहुत से रत्नों से परिपूर्ण पृथ्वी का दान तथा दूसरी तरफ भयग्रस्त प्राणी के प्राणों की रक्षा करना दोनों का फल समान है।

महाभारत में और भी कहा है—

अधृष्या सर्वभूतानामायुष्मान्नोरुजः सदा।
भवत्यभक्षयन्मांस दयावान्प्राणिनामिह ॥
हिरण्यदानैर्गोदानैर्भूमिदानैश्च सर्वशः।
मांसस्याभक्षणे धर्मो, विशिष्ट इति नः श्रुतिः ॥

अर्थात् जो लोग मांसभक्षण न कर के प्राणियों के विषय में दयावान् होते हैं वे सब के माननीय, आयुष्मान् और रोग से रहित होते हैं। हमारी यह श्रुति है कि सोने का दान, गायों के दान की अपेक्षा मांसभक्षण का त्याग करने से विशिष्ट धर्म होता है।

अहिंसा परमो धर्मस्तथाऽहिंसा परो दमः।
अहिंसा परमं दानमहिंसा परमं तपः ॥
अहिंसा परमो यज्ञस्तथाऽहिंसा परं फलम्।
अहिंसा परं मित्रमहिंसा परमं सुखम् ॥

अहिंसा ही परम मित्र है और अहिंसा ही परम सुख है । इस के अतिरिक्त और भी देखिए—

सर्वयज्ञेषु वा दानं, सर्वतीर्थेषु वाऽऽप्लुतम् ।
सर्वदानफलं वाऽपि, नैतत्तुल्यमहिंसया ॥
अहिंस्रस्य तपोऽक्षय्यमहिंस्रो यजते सदा ।
अहिंस्रः सर्वभूतानां, यथा माता तथा पिता ॥
एतत्फलमहिंसाया, भूयश्च कुरुपुङ्गव !
न हि शक्या गुणा वक्तुमपि वर्षशतैरपि ॥

अर्थात्—समस्त यज्ञों में दान देना, सब तीर्थों की यात्रा करना और समस्त दान देना भी अहिंसा के आचरण की बराबरी नहीं कर सकता ।

अहिंसक का तप अक्षय है, अहिंसक सदैव यज्ञ करता रहता है, अहिंसक समस्त भूतों का माता-पिता है । हे कुरुश्रेष्ठ ! अहिंसा का फल इतना महान् है कि लगातार सौ वर्षों के कहने पर भी पूरा नहीं कहा जा सकता ।

वैदिक धर्म के ग्रंथों के इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि वैदिक धर्म के ग्रंथकार अहिंसा और मांसभक्षण न करने पर कितना अधिक बल देते हैं । अब भारत के तीसरे प्रधान धर्म बौद्धधर्म की ओर दृष्टि दौड़ाइए । वहाँ कहा है—

इत एकनवते कल्पे, शक्त्या मे पुरुषो हतः ।
तेन कर्मविपाकेन, पादे विद्धोऽस्मि भिक्षवः ॥

अर्थात इस भव से एकानवे भव पहले मैंने बलपूर्वक एक पुरुष की हत्या की थी । उस से उत्पन्न हुए पाप कर्म के फलस्वरूप मेरे पैर में यह कांटा चुभा है ।

इस कथन से प्रकट है कि जीवहत्या का पाप जन्म जन्मान्तरों तक अपना अशुभ फल देता है ।

आर्यसमाज के प्रसिद्ध ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश के दसवें समुल्लास में लिखा है—'जो लोग मांसभक्षण और मद्यपान करते हैं उनके शरीर

तिल भर मछली खाय के, करोड़ गऊ का दान।
काशी करवत ले मरे, तो भी नरक निदान॥
मुसलमान मारे करद से, हिन्दू मारे तलवार।
कहे कबीर दोनों मिली, जायें यम के द्वार॥

सिक्ख शास्त्रों में भी मांसभक्षण के विरुद्ध कई प्रमाण मिलते हैं। जैसे—

जे रक्त लागे कापडे, जामा होय पलीत।
जो रक्त पीवें मानुषा, तिन क्यों निर्मल चीत॥

अर्थात्—हमारे वस्त्र को यदि रक्त का स्पर्श हो जाय तो उसे अपवित्र मानते हैं, किन्तु जो मनुष्य रक्त का सेवन करते हैं, उन का चित्त निर्मल कैसे रह सकता है?

ग्रन्थसाहब में और भी प्रमाण मिलते हैं। जैसे कि—

भंग मछली सुरापान, जो जो प्राणी खाये।
धर्म नियम जितने किये, सभी रसातल जाये॥
इन झटका उन बिसमिल कीन्हीं, दया दुहूँ ते भागी।
कहत कबीर सुनो भाई साधो! आग दोहां घर लागी॥
सुच्चम कर के चौका पाया, जीव मार के चढाया मांस।
जिस रसोई चढाया मांस, दया धर्म का होया नास॥

हो सकता है कि मुसलमान और ईसाई लोगों की धर्मपुस्तकों में मांसभक्षण का अधिक विरोध न किया गया हो, किन्तु उन के धर्म-ग्रन्थों में भी जीवदया की सराहना की गई है। शेख सादी कहते हैं—

(१) एक बार शेख शिबली एक बनिये की दुकान से आटा मोल लेकर घर गये। उन्होंने देखा कि आटे के अन्दर एक कीडी बडी व्याकुलता से चारों ओर दौड़ रही है। उन्होने रात को सोना हराम समझा। उसी समय उस बनिये की दुकान पर जाकर उन्हों ने उस कीड़ी को छोड दिया और कहा मेरे कारण इस बेचारी चिउँटी का घर नहीं छूटना चाहिए।

(२) हजरत मुहम्मद का कथन है कि थोडा सा भी रहम अर्थात दया बहुत सी भक्ति से उत्तमतर है।

(३) कुरान के सूरत मायदा, मांजिल २ आयत ३ मे लिखा है— ऐ ईमान वालो! जब तुम भक्ति करते हो तो शिकार मत करो।

४—कुरान के पारा १७, सुरत हज्ज, रुक ५, आयत ३८ मे लिखा है कि खुदा को पशुओं का मास और खून कदापि न पहुँचेगा, बल्कि तुम्हारी परहेजगारी पहुचेगी।

५—हजरत मुहम्मद का कथन है कि जहा पशु मरते हो वहा नमाज पढने का निषेध है।

६ - मुसलमानो को आज्ञा है कि जिस दिन से हज्ज करने का विचार बने उस दिन से ले कर मक्का मे पहुचने तक किसी जीव की हत्या न करो। यहा तक कि जू को भी दूर हटा दो, मारो मत।

ईसाई धर्म की मान्य पुस्तक इजील मे निम्नलिखित प्रमाण मिलते हैं—

१—Thou shalt not kill (मति अ० १७, आ० १८)

अर्थात्—तू किसी जीव का घात मत कर।

२—धन्य हैं वे पुरुष जो दयायुक्त हैं, क्योंकि उन पर दया की जायगी। (मति अ० ५, आयत ७)

३—यदि तुम इस का अर्थ समझते कि मैं कुर्बानी नहीं, परन् दया को अच्छा समझता हूँ तो निरपराध जीवों पर अत्याचार न करो।

कबूल नेस्त, गर खातरे बयाजारी ॥

अर्थात्–चाहे मनुष्य धैर्य मे उच्च श्रेणी का हो, हजार खजाने प्रतिदिन दान करता हो, हजारों रातें केवल भक्ति मे व्यतीत करता हो, हजारों सिजदे (नमस्कार) करे और एक-एक सिजदे के साथ हजार-हजार नमाज पढे, तो यह सब पुण्य-क्रियाएं व्यर्थ ही होंगी, यदि वह पुरुष किसी को कष्ट देने वाला होगा।

## अंडा सजीव है

कई लोगों की यह मान्यता है कि अडे मे जीव नहीं होता, अतएव उस का सेवन करने में कोई पाप नहीं है। यह उन लोगो का भ्रम है। यदि उन का यह कथन इस आधार पर है कि जब अडे को तोडा जाता है, तब उस मे से गति करने वाला जीव नहीं निकलता, तो यह बात तो मनुष्य के आदि काल की गर्भावस्था पर भी लागू होती है। तीन-चार मास का गर्भपात हो जाय तो एक लोथडा-सा ही निकलता है। उस मे भी गति नहीं होती। फिर भी ऐसे गतिहीन गर्भ का पात करना भी कानून की दृष्टि से दण्डनीय है। इस दण्ड का कारण यही है कि कुछ काल के पश्चात उस गर्भ में गति आ जाने वाली थी। इसी प्रकार अण्डे के अन्दर भी गतिशील जीव का बन जाना अनिवार्य होता है। ऐसी स्थिति मे यह कहना कि अण्डे में जीव नहीं होता, एक बडी भूल है।

कई लोग यह कह कर अपना मन बहला लेते है कि बहुत से अण्डे गदे निकल जाते है, अतएव निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा

सकता कि अण्डे से अवश्य ही जीव की उत्पत्ति होगी मगर विचारशील व्यक्ति जानते हैं कि यह कथन सारहीन है। प्रथम तो अण्डा खाने वाले गंदा अण्डा खाते ही नहीं है। वे ऐसा ही अण्डा खाते हैं जो स्वस्थ हो। दूसरे, अण्डे को तोडे विना उस की स्वस्थता या अस्वस्थता का पता लगना भी कठिन है। तीसरे मानवजाति के गर्भ की अवस्था मे भी कई गर्भ स्वयमेव गिर जाते है, किन्तु उन्हे स्वत गिरने से पूर्व ही यदि गिरा दिया जाये तो वह मनुष्यहत्या समझी जाती है और उस के लिए भी दण्ड का विधान है, अतएव इस प्रकार के मन-बहलावे मे कोई तथ्य नहीं है।

वैज्ञानिकों का कथन है कि यदि सूक्ष्म पदार्थों का निरीक्षण करने वाले यंत्र से अडे के अन्दर के पदार्थ का निरीक्षण किया जाय तो उस मे जीव की सत्ता का अनुभव होता है।

कई पश्चिमी डाक्टरों की सम्मति है कि अण्डा सेवन करने योग्य पदार्थ नहीं है, क्योंकि वह रक्त मे उष्णता और पेट मे तेजाबी मादा उत्पन्न करता है। इस रूप से अण्डा हानिकारक है।

वस्तुत अण्डा सजीव है और उस की सजीवता मे किसी प्रकार की शका को कोई स्थान नहीं है। किन्तु चटारे लोग यद्वा तद्वा युक्तिया दे कर दूसरो को धोखे मे डालना चाहते है। वे दूसरो को धोखा दे सके या नहीं, किन्तु अपनी आत्मा को अवश्य धोखा देते है।

# अंडा सजीव है

कई लोगों की यह मान्यता है कि अंडे में जीव नहीं होता, अतएव
का सेवन करने में कोई पाप नहीं है। यह उन लोगों का भ्रम है।
उन का यह कथन इस आधार पर है कि जब अंडे को तोड़ा जाता है
उस में से गति करने वाला जीव नहीं निकलता, तो यह बात तो ग
के आदि काल की गर्भावस्था पर भी लागू होती है। तीन-चार मास
गर्भपात हो जाय तो एक लोथड़ा-सा ही निकलता है। उस में भी
नहीं होती। फिर भी ऐसे गतिहीन गर्भ का पात करना भी कानून
दृष्टि से दण्डनीय है। इस दण्ड का कारण यही है कि कुछ का
पश्चात उस गर्भ में गति आ जाने वाली थी। इसी प्रकार अण्
अन्दर भी गतिशील जीव का बन जाना अनिवार्य होता है।
स्थिति में यह कहना कि अण्डे मे जीव नहीं होता, एक बड़ी भूल

कई लोग यह कह कर अपना मन बहला लेते है कि बहु
अण्डे गंदे निकल जाते है, अतएव निश्चित रूप से यह नहीं कहा

सकता कि अण्डे से अवश्य ही जीव की उत्पत्ति होगी मगर विचारशील व्यक्ति जानते है कि यह कथन सारहीन है। प्रथम तो अण्डा खाने वाले गंदा अण्डा खाते ही नहीं है। वे ऐसा ही अण्डा खाते हैं जो स्वस्थ हो। दूसरे, अण्डे को तोडे बिना उस की स्वस्थता या अस्वस्थता का पता लगना भी कठिन है। तीसरे मानवजाति के गर्भ की अवस्था मे भी कई गर्भ स्वयमेव गिर जाते है, किन्तु उन्हे स्वत गिरने से पूर्व ही यदि गिरा दिया जाये तो वह मनुष्यहत्या समझी जाती है और उस के लिए भी दण्ड का विधान है, अतएव इस प्रकार के मन-बहलावे मे कोई तथ्य नहीं है।

वैज्ञानिकों का कथन है कि यदि सूक्ष्म पदार्थों का निरीक्षण करने वाले यन्त्र से अंडे के अन्दर के पदार्थ का निरीक्षण किया जाय तो उस मे जीव की सत्ता का अनुभव होता है।

कई पश्चिमी डाक्टरों की सम्मति है कि अण्डा सेवन करने योग्य पदार्थ नहीं है, क्योंकि वह रक्त मे उष्णता और पेट मे तेजाबी माद्दा उत्पन्न करता है। इस रूप से अण्डा हानिकारक है।

वस्तुत अण्डा सजीव है और उस की सजीवता मे किसी प्रकार की शका को कोई स्थान नहीं है। किन्तु चटारे लोग यद्वा तद्वा युक्तिया दे कर दूसरो को धोखे मे डालना चाहते है। वे दूसरो को धोखा दे सके या नहीं, किन्तु अपनी आत्मा को अवश्य धोखा देते है।

की रचना नहीं कर सकता। हम जिसे उत्पाद और विनाश कहते हैं, वह वस्तु का रूपान्तर मात्र ही है। एक वस्तु अपने योग्य निमित्त पाकर एक अवस्था से ही दूसरी अवस्था ग्रहण करती रहती है। कुम्हार का निमित्त पाकर मिट्टी घट का रूप धारण करती है। कपास, रूई, सूत वस्त्र आदि के रूप मे पल्टता है। भोजन रस, रक्त आदि तथा मल, मूत्र आदि के रूप मे परिणत होता है। इन सभी वस्तुओ की विभिन्न अवस्थाओं में मूल द्रव्य ज्यों का त्यों बना रहता है।

यह प्रणाली प्रत्यक्षसिद्ध प्रणाली है। इस मे शका को लेश मात्र भी अवकाश नहीं है। ऐसी स्थिति मे सृष्टिरचना का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। दूसरे शब्दो मे यह कहा जा सकता है कि सृष्टि अनादि-कालीन है। उस का किसी कालविशेष मे उत्पाद होना सभव ही नहीं है। क्योंकि जब भी उस की रचना मानी जायगी तब उस से पहले उपादान कारण को भी स्वीकार करना होगा, बिना उपादान कारण कोई भी कार्य उत्पन्न नहीं होता। इस प्रकार सृष्टि का प्रारभ मानना ही भ्रमपूर्ण है।

इस तरह विचार करने पर जगत् का अनादित्व सिद्ध होता है, और जब जगत् अनादि है तो उस का कोई कर्ता नहीं हो सकता। फिर भी कई लोगों ने सृष्टि का रचा जाना माना है। सृष्टि का कर्ता मानने वाले कई पथ हैं, जो परस्पर विरोधी मान्यताए प्रकट करते हैं। उन मान्यताओं का श्री सूत्रकृताङ्ग सूत्र मे उल्लेख किया गया है। सक्षेप मे वे मत इस प्रकार है —

(७) किसी की मान्यता है कि ब्रह्मा ने तत्त्वों की रचना की है।

(८) कहीं उल्लेख है कि सृष्टिरचना से पूर्व स्वयम्भू अकेला था, उस ने दूसरे की अभिलाषा की। यह अभिलाषा होते ही शक्ति की उत्पत्ति हो गई। तत्पश्चात यह जगत बन गया। फिर यमराज भी पैदा हो गया।

इस प्रकार सृष्टि की उत्पत्ति में नाना लोग नाना प्रकार की कल्पनाएं करते हैं। प्रथम तो ये मान्यताएं परस्पर मे विरोधी हैं और निराधार भी हैं, फिर विवेकपूर्वक तर्क करने से भी इन सब मान्यताओं की अवास्तविकता प्रकट हो जाती है। यहां सक्षेप मे इसी सम्बन्ध मे विचार किया जाएगा।

जो लोग देव द्वारा सृष्टि की उत्पत्ति मानते हैं, वे यह नहीं बता सकते कि वह देव पहले स्वयं उत्पन्न होता है और बाद मे सृष्टिरचना करता है या अपनी उत्पत्ति के बिना ही जगत की रचना कर देता है। उपनिषद् कहते है —

असदेव इदमग्र आसीत्।

वह पहले असत् ही था। यदि यह मान्यता सत्य है तो वह सृष्टि की रचना किस प्रकार कर सकता है? जो व्यक्ति असत् है अर्थात् है ही नहीं, वह किसी की रचना कैसे कर सकता है? यदि कहा जाय कि पहले देव स्वय उत्पन्न हुआ तो प्रश्न होता है कि उस की उत्पत्ति का कारण कौन था? किसी भी कार्य की उत्पत्ति कारण के बिना संभव नहीं है। अगर देव आप ही आप प्रकट हो गया तो उसी प्रकार सृष्टि भी आप ही आप क्यो नहीं प्रकट हो सकती? अगर उस देव की सृष्टि उत्पत्ति करने वाला कोई दूसरा कर्त्ता था तो उस कर्त्ता का भी कोई और कर्त्ता होना चाहिए। इस प्रकार सृष्टि की रचना की तो बात ही दूर रही, कर्त्ता की उत्पत्ति का ही क्रम समाप्त न होगा। और जब कर्त्ता की उत्पत्ति का ही क्रम समाप्त न होगा तो सृष्टि की उत्पत्ति का अवसर ही कैसे आएगा?

कर्त्तावादी कहते हैं कि देव अनादी है, अतएव उस की उत्पत्ति का प्रश्न ही निर्मूल है, किन्तु देव यदि अनादि है तो सृष्टि को भी

अनादि क्यों न माना जाय ? जब देव अनादि माना जा सकता है तो सृष्टि को अनादि मानने मे क्या आपत्ति हो सकती है ?

इस के अतिरिक्त एक और शंका उपस्थित होती है कि देव यदि नित्य है तो उस में सृष्टि-रचना करने की शक्ति भी नित्य है या नहीं ? यदि रचना करने की शक्ति नित्य नहीं है तब तो देव भी नित्य नहीं रहेगा, क्यों कि जिस की शक्ति अनित्य है वह पदार्थ भी अनित्य ही होना चाहिए। इस प्रकार देव की अनित्यता से बचने के लिए उस की शक्ति को अगर नित्य मान लिया जाय तो प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या वह समस्त कार्यों को एक ही साथ कर डालता है या एक के पश्चात् दूसरा और दूसरे के पश्चात् तीसरा-इस तरह क्रम से करता है ? क्रम से कार्य करता है तो शंका होती है कि एक क्रिया करते समय दूसरी क्रिया करने मे वह समर्थ है या नहीं ? यदि समर्थ है तो सब क्रियाएं एक ही समय क्यो नहीं कर डालता ? और यदि एक क्रिया के समय दूसरी क्रिया करने में देव को असमर्थ माना जाय तो न वह नित्य ही ठहरेगा और न सर्वशक्तिमान् ही। कभी असमर्थ होना और कभी समर्थ हो जाना अनित्यता का लक्षण है। नित्य पदार्थ तो सदैव एक-सा रहता है। वह जिस कार्य मे समर्थ है उस मे समर्थ ही रहेगा और जिस मे असमर्थ है उस में सदैव असमर्थ ही रहेगा।

यदि यह मान लिया जाय कि वह देव समस्त क्रियाएं एक साथ कर डालता है तो सभी क्रियाएं एक ही क्षण मे समाप्त हो जाएगी। तत्पश्चात् वह देव क्या करेगा ? क्या वह निकम्मा रहेगा ? उस की क्रियाशक्ति स्थगित रहेगी ?

कर्त्तावादी कहते हैं—देव सदैव सब कार्य करने मे समर्थ होता है, किन्तु जब जिस कार्य के सहकारी कारण मिलते है, तब उसे करता है और जब सहकारी कारण नहीं मिलते, तब नहीं करता है। इस कारण देव की कर्तृत्व शक्ति नित्य होने पर भी कार्य क्रमश होते है। किन्तु इस पर प्रश्न यह होता है कि सहकारी कारणों के होने पर कार्य होता है और उन के बिना नहीं होता तो फिर उस मे देव का कर्तृत्व ही क्या रहा ? फिर तो उन कारणो मे ही कार्य की उत्पत्ति

करना ईश्वर का स्वभाव है तो ईश्वर निष्प्रयोजन क्रिया के स्वभाव वाला सिद्ध होगा-और ऐसा स्वभाव बुद्धिमानों का नहीं होता।

कदाचित् यह कहा जाय कि करुणाभाव से प्रेरित हो कर देव सृष्टि की रचना करता है तो करुणा तो दुःखी जीवों पर की जाती है। किन्तु सृष्टि रचने से पहले जीवों के न शरीर थे, न इन्द्रियां थीं और न इन्द्रियों के विषय ही थे। फिर उन जीवों को दुःख ही क्या था? ऐसी स्थिति में किस दुःख का प्रतीकार करने के लिए उस ने सृष्टि रची?

यह भी कहा जाता है कि ईश्वर राजा के सदृश है। जैसे एक राजा अपनी प्रजा के शुभ-अशुभ कर्मों का फल देता है, उसी प्रकार ईश्वर भी जीवों को उन के कर्मों का फल देता है। इस सम्बन्ध में हमारा वक्तव्य यह है कि जब ईश्वर दयालु, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान है तो वह जीवों को अशुभ कर्म करने ही क्यों देता है? उस के सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान होते हुए भी लोग मन्द-कर्म करते हैं। सर्वज्ञ होने के कारण वह सभी कुछ जानता है और सर्वशक्तिमान होने के कारण उस में रोक देने की क्षमता भी है। किन्तु पहले तो दुष्कृत्य करने से रोकता नहीं, और फिर जीवों को दण्ड देता है। तब उसे दयालु कैसे माना जाय? ईश्वर के लिए उचित है कि वह जीवों को खोटे कर्म करने से रोक दे, अन्यथा उस की सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता और दयालुता मन कल्पित ही ठहरती है। कोई भी विवेकवान पिता जान बूझ कर अपनी सन्तान को कूए में नहीं गिरने देता। फिर परमपिता कहलाने वाला ईश्वर ऐसा क्यों करता है?

कदाचित् यह कहा जाय कि जीव ईश्वर के आदेश का उल्लंघन कर के मनमानी क्रियाएं करता है, तो ईश्वर की अपेक्षा जीव अधिक शक्तिशाली ठहरता है।

कर्त्तावादी कहते हैं कि देव सदैव जीवों का भला चाहता है और किसी को दुःखी नहीं देखना चाहता। यदि यह कथन सत्य है तो वह जीवों को कुमार्ग पर चलने से दूर क्यों नहीं रखता? जब वह जानता हुआ भी और रोक देने की क्षमता रखता हुआ भी प्राणियों को नीच कर्म करने देता है तो या तो वह जीवों की भलाई का इच्छुक

नहीं, या वह इतना निर्बल है कि जीव उस के शासन की परवाह नहीं करते, या वह इतना अल्पज्ञ है कि उसे जीवो के भले-बुरे कर्म करने की सूझ ही नही पडती।

इस सम्बन्ध से एक बात और है। ईश्वर सब को सुखी और नीरोगी देखने का अभिलाषी है, दयालु है और इच्छानुसार कार्य करने मे समर्थ भी है, तो फिर संसार के प्राणी नाना प्रकार की पीडाओं से युक्त, सतापो से सतप्त और दु खो से युक्त क्यो है ? यदि कहा जाय कि रोग, शोक और दु ख जीवो के अपने-अपने कर्मों के फल है, तो स्वर्ग-नरक, दु ख-सुख आदि फल देने वाले जीव के कर्म ही ठहरते है। फिर ईश्वर की सत्ता व्यर्थ है।

ईश्वर को कर्त्ता समझने वाले कहते है कि वह सब का पिता है और सब पर दया करता है। किन्तु ससार मे हम देखते है कि एक अल्पज्ञ और अल्पशक्ति वाला मनुष्य भी पिता के रूप में अपने एक पुत्र को दूसरे पुत्र पर अत्याचार करते नहीं देख सकता। वह अपने निर्बल पुत्र को सब प्रकार से सहायता करता है। मगर परमपिता कहलाने वाला ईश्वर इतना भी नहीं करता। ससार मे एक जीव दूसरे को लूट रहा है, एक प्राणी दूसरे प्राणी का भक्षण कर रहा है, किन्तु ईश्वर उन अत्याचारियो को न रोकता है और न निर्बलो की रक्षा ही करता है, ऐसी स्थिति मे वह ईश्वर या तो सब का दयालु पिता नही कहा जा सकता, या फिर इतना शक्तिशाली नही कि निर्बलो की सहायता कर सके।

जब ईश्वर अपराधी जीवो को दण्ड देने का सामर्थ्य रखता है तो उन्हे दण्डनीय कर्मों से पहले ही क्यो नही रोक देता ? हम देखते है कि लाखो की सख्या मे पशु-पक्षी प्रतिदिन वध किये जाते है, मगर वह परम दयालु कहलाने वाला ईश्वर इस घोरतम अत्याचार को नही रोकता।

दण्ड देता है। यह कितनी अनुचित बात है। संसार में कोई भी राजा अपनी प्रजा को स्वतंत्र रूप से मनमानी क्रियाएं करने की स्वाधीनता नहीं देता, और इसी कारण उसे दण्डनीय कार्यों के लिए दंड देने का अधिकार होता है, लेकिन ईश्वर, जो सब प्रकार की बुद्धिमत्ता का स्रोत कहलाता है, इस प्रकार की गड़बड़ पैदा करने वाली और अत्याचार का प्रसार करने वाली और साथ ही जीवों को दुःखों के पाश में फंसाने वाली स्वतन्त्रता दे कर क्यों अव्यवस्था फैलाता है ?

हम देखते हैं कि अग्नि का स्वभाव उष्णता और दूसरे पदार्थों को भस्म करना है। इस स्वभाव को न किसी ने बदला और न कोई बदल सकता है यही बात अन्य तत्त्वों के सम्बन्ध में कही जा सकती है। किसी भी तत्त्व का स्वभाव बदला नहीं जा सकता। और यही तत्त्व अपने अपने स्वभाव के अनुसार सृष्टि की क्रिया चला रहे हैं। इस में ईश्वर की स्थिति निरर्थक बन जाती है। जब ईश्वर विभिन्न पदार्थों के स्वभाव को और सृष्टि के विभिन्न नियमों को नहीं पलट सकता और सभी क्रियाएं एक विशेष क्रम से चल रही हैं तो उन पर शासन करने वाले ईश्वर की आवश्यकता ही कहां रह जाती है ?

कहा जाता है कि दुष्ट कर्म करने वाला जीव अपनी इच्छा से, अपने दुष्कर्म का फल भोगने को तैयार नहीं होता। अतएव किसी अन्य सत्ता की आवश्यकता है। वह सत्ता दुष्कर्मों का दण्ड देती है। इस सम्बन्ध में जैन दर्शन का कथन है कि प्रत्येक जीव अपनी भली और बुरी क्रियाओं का सुफल या कुफल निमित्तों से भोगता है। अर्थात कर्मों में स्वयं ही फलीभूत होने की शक्ति है। जैसे-एक मनुष्य अगर हथेली पर दहकता हुआ अंगार रख लेता है तो अग्नि स्वयमेव ही अपने स्वभाव के अनुसार निमित्त पा कर, हथेली को जला देती है। हथेली जलाने के लिए ईश्वर को भाग कर आने की आवश्यकता नहीं है। इसी प्रकार विभिन्न कर्मों का फल भुगताने के लिए किसी दूसरी शक्ति की कुछ भी आवश्यकता नहीं रहती। मदिरापान करने वाला आप ही मदोन्मत्त हो जाता है। विष-भक्षण करने वाला विष के प्रभाव से स्वयं प्राण-त्याग कर देता है। उसे मदोन्मत्त बनाने या मार डालने के,

लिए ईश्वर की आवश्यकता नहीं है। इसी प्रकार निमित्त पा कर दुष्कर्म स्वयं अपना-अपना फल दे देते हैं।

कोई कोई यह तर्क उपस्थित करते हैं कि निर्जीव पदार्थों में स्वयमेव एकत्रित हो कर एक नवीन वस्तु का निर्माण करने की शक्ति नहीं है। अतएव उन को मिलाने वाली, जोड़ने वाली और परस्पर सम्बन्धित करने वाली परशक्ति की आवश्यकता है। यदि यह नियम सर्वदा और सर्वथा लागू समझा जाय तो प्रश्न हो सकता है कि नीले २ बादलों को कौन बनाता है? वायु और तूफान किस की रचना है? प्रातःकाल और सायंकाल आकाश में चित्र विचित्र वर्णों की घटाएं किस के द्वारा निर्मित होती हैं? यह सब तो प्रकृति की क्रीडाएं हैं। इनके लिए ईश्वर की कल्पना करना बोधहीन भावुकता ही है।

कइयों का कहना है कि सृष्टि की रचना शब्द से हुई है। ईश्वर ने कहा—'एकोऽहम् बहु स्याम्।' अर्थात् मैं अकेला हूं, बहुत हो जाए। इस मान्यता के सम्बन्ध में भी अनेक शंकाएं उपस्थित होती हैं, जिनका कोई सही सन्तोषजनक समाधान नहीं मिल सकता। पहली बात तो यह है कि आखिर शब्द भी एक तत्त्व है। जब ईश्वर अकेला ही था और सृष्टि बनी ही नहीं थी तो शब्द तत्त्व कहाँ से आ गया? और ईश्वर ने किसे शब्द सुनाया? अपने आपको शब्द सुनाने की आवश्यकता नहीं होती। अपने लिए तो संकल्प ही पर्याप्त है।

तो मायामय वस्तुएं तो झूठी होती है। उन वस्तुओं मायावी से यह सृष्टिप्रवाह कैसे चल सकता है ?

सृष्टिरचना में सजीव और निर्जीव दोनों प्रकार के पदार्थों का का सृजन होता है। ईश्वर को चेतन माना गया है। अतएव ईश्वर द्वारा चेतन सत्ताओं का बनना तो समझ में आ सकता है, किन्तु चेतन से जड़ पदार्थों की रचना किस प्रकार संभव हो सकती है? यदि चेतन उपादान से अचेतन की ही उत्पत्ति हो सकती है तो चेतन और अचेतन में कोई मौलिक अन्तर नहीं रह जाएगा।

कहा जाता है कि परमात्मा ने परमाणुओं को एकत्रित करके सृष्टिरचना की, किन्तु साथ ही यह भी कहा जाता है कि परमात्मा निराकार है। यहाँ विचारने की बात है कि निराकार सत्ता, परमाणुओं को किस प्रकार एकत्रित कर सकती है? किस प्रकार उन का सम्मिश्रण कर सकती है? कहा जाय कि ईश्वर ने अपनी इच्छा से काम लिया तो निराकार में इच्छा भी कैसे हो सकती है? इच्छा का होना मान भी लिया जाय तो नित्य परमात्मा की इच्छा भी नित्य ही हो सकती है। और जब इच्छा नित्य है तो सदैव एक सी रहनी चाहिए और तब कभी सृष्टि रचना, कभी न रचना और कभी संहार करना आदि परस्पर विरोधी बातें उस में किस प्रकार घटित हो सकेंगी?

ईश्वर का अर्थ है—स्वामी या मालिक। स्वामित्व किसी प्रदेश, सम्पत्ति या प्रजा का ही हो सकता है। कर्त्तावादियों का सिद्धान्त है कि ईश्वर सृष्टिरचना से पूर्व भी विद्यमान था। इस पर प्रश्न होता है कि जब सृष्टि नहीं रची गई थी और ईश्वर के सिवाय कोई दूसरी वस्तु नहीं थी, तब वह किस का स्वामी था? ईश्वर का अनादिकालीन ईश्वरत्व तो नहीं कहा जा सकता। जब सृष्टि अनादि काल से मानी जाय और उस का कोई कर्त्ता न स्वीकार किया जाय। जैनदर्शन की मान्यता यही है कि सृष्टि अनादि है।

जो मत ईश्वर को सृष्टिकर्त्ता मानते हैं वे ईश्वर का स्वभाव और और लक्षण भिन्न भिन्न बतलाते हैं। एक मूर्त्तिपूजक हिन्दू कहता है, कि ईश्वर मूर्त्तिपूजा से प्रसन्न होता है तो मुसलमान कहता है,

कि ऐसा करने से वह प्रसन्न होता है । इस प्रकार की और भी अनेक विरोधी मान्यताएं हैं । ऐसी स्थिति में प्रश्न होता है कि ईश्वर एक है या अनेक ? अर्थात् क्या हिन्दुओं का ईश्वर और मुसलमानों का खुदा अलग अलग है ? हिन्दू मानते हैं कि वेद ईश्वरकृत है और मुसलमान कहते हैं कि कुरान खुदा का इल्हाम है फिर भी दोनों की शिक्षाओं में आकाश पाताल सा अन्तर है । ऐसी अवस्था में या तो ईश्वर अनेक मानने पड़ेंगे अथवा यह स्वीकार करना पड़ेगा कि ईश्वर कभी कुछ और कभी कुछ शिक्षा देता है । वह हिन्दुओं को कुछ आज्ञा देता है और मुसलमानों को कुछ और ही सिखलाता है ।

सत्यार्थप्रकाश के सातवें समुल्लास में लिखा है ईश्वर सब को आदेश देता है कि हे मनुष्यो ! मैं सब का स्वामी, सब को सुख देने वाला हूँ इत्यादि । इस से प्रतीत होता है कि ईश्वर जिह्वा से उपदेश देता है और साकार है । किन्तु दूसरी ओर उसे निराकार बतलाया जाता है । इस के अतिरिक्त यह भी आश्चर्य की बात है कि ईश्वर जैसी अद्वितीय सत्ता अपने मुख से अपनी बड़ाई करती है और यहां तक कहती है कि तुम लोग मुझ को ही मानो ।

वेद ईश्वरकृत माने जाते हैं किन्तु वेदों के अनुयायी इन में प्रतिपादित ईश्वरीय आदेशों का अर्थ भिन्न-भिन्न लगाते हैं । कोई वेदों में मूर्तिपूजा का निषेध बतलाते हैं तो दूसरे उन्हीं वेदों से मूर्तिपूजा का समर्थन करते हैं । कोई ईश्वर का रूप निराकार और कोई साकार बतलाता है । कोई मांसाहार और पशुबलि का समर्थन करता है और कोई निषेध करता है । यह सब परस्पर विरोधी मन्तव्य वेदों के आधार पर ही प्रकट किये जाते हैं । ईश्वर को इन सब बातों का पता तो अवश्य होना चाहिए क्योंकि वह सर्वज्ञ माना जाता है ! ऐसी स्थिति में वह अपने आदेशों को स्पष्ट क्यों नहीं कर देता ? वह जनता को भ्रम में क्यों पड़ा रहने देता है ?

पहले बतलाया जा चुका है कि ईश्वर को सृष्टिकर्त्ता मानने वाले विभिन्न प्रक्रियाओं के अनुसार इस जगत की रचना होना बतलाते हैं । कई लोगों का कहना है कि सृष्टि की उत्पत्ति अण्डे से हुई है । सृष्टि की

आपत्ति होगी ।

थोड़ी देर के लिए मान लिया जाय कि ईश्वर का सृष्टिरचना करने का स्वभाव है, तो फिर सृष्टि का संहार कौन करता है? यदि संहारक्रिया भी ईश्वर द्वारा ही होनी मान ली जाये तो प्रश्न उपस्थित होता है कि ईश्वर यह दोनों कार्य एक ही स्वभाव से करता है या भिन्न-भिन्न स्वभावों से? यदि दोनों कार्य एक ही स्वभाव से करता है तो सृष्टिक्रिया करते समय संहार भी होना चाहिए, अर्थात् सृष्टि और संहार साथ-साथ होने चाहिएं। ऐसी स्थिति से सृष्टि स्थिर कैसे रहेगी? एक ही स्वभाव से होने वाले दो कार्य भिन्न भिन्न समयों से नहीं हो सकते और भिन्न-भिन्न समयों में होने वाले कार्यों को एक स्वभाव जनित नहीं कहा जा सकता।

कदाचित् यह माना जाय कि सृष्टि करते समय ईश्वर का स्वभाव भिन्न होता है और संहार करते समय भिन्न होता है तो ऐसा मानने से ईश्वर में अनित्यता का प्रसंग आ जाएगा।

कर्त्तावादी मानते हैं कि ईश्वर रजोगुण से युक्त हो कर सृष्टि रचता है, सतोगुण से विशिष्ट हो कर पालन करता है और तमोगुण से युक्त हो संहार करता है। इस प्रकार जब ईश्वर के गुण-धर्म बदलते रहते हैं तो ईश्वर की नित्यता कैसे स्वीकार की जा सकती है? आखिर धर्म का बदलना ही किसी पदार्थ की अनित्यता का लक्षण है।

सृष्टि और संहार परस्पर विरोधी कार्य है, अतएव उन की उत्पत्ति परस्पर विरोधी दो स्वभावों से ही मानी जा सकती है। ऐसी स्थिति में एक ही ईश्वर में विरोधी दो स्वभाव किस प्रकार रह सकते हैं? सृष्टि का स्वभाव ईश्वर में माना जाय तो संहार करने का स्वभाव घटित नहीं हो सकता और संहार-स्वभाव स्वीकार करने पर सृष्टि-स्वभाव नहीं बन सकता। अगर ईश्वर दोनों कार्य करता है तो उस में एक स्वभाव और एक विभाव (औपाधिक भाव) मानना पड़ेगा और विभाव की सत्ता स्वीकार कर लेने पर ईश्वर शुद्ध-स्वरूप न रह कर अशुद्ध-स्वरूप बन जाएगा। फिर संसारी जीवों में और ईश्वर में क्या

खण्डित हो जाती है, अतएव नित्य ईश्वर को जगत् का कर्त्ता मानना न तो बुद्धिसंगत ही है, न तर्कसंगत है और न सत्य से ही संगत है।

कोई कोई कहते हैं कि ईश्वर तो कृतकृत्य है। उसे कुछ भी करना नहीं है, प्राप्त करना भी नहीं है, किन्तु जीवों के दुःखों को दूर करने के लिए वह जगत का निर्माण करता है। जब इस कथन पर विचार करते हैं तो यह भी निस्सार प्रतीत होता है। आखिर सृष्टि-रचना से पूर्व जब जीवों को दुःख था ही नहीं तो दुःख को दूर करने का प्रश्न ही कहा उपस्थित होता है? दुःख तो तभी होता है जब इन्द्रियों सहित शरीर हो और विषयों के साथ इन्द्रियों का सम्पर्क किया जाय। इन सब के अभाव में कोई जीव दुःखी नहीं हो सकता। सृष्टिरचना से पूर्व अगर यह सब वस्तुएँ नहीं थीं तो दुःख का कोई कारण भी नहीं था और दुःख के कारण के अभाव में दुःख भी कैसे हो सकता है? ऐसी स्थिति में दुःख के दूर होने का कोई प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता।

इस प्रकार ईश्वर के सृष्टिकर्तृत्व का विचार करने पर स्पष्ट प्रतिभासित होने लगता है कि वास्तव में इस सृष्टि का निर्माता न ईश्वर है, न कोई और है। सृष्टि अनादि और अनन्त है। निरन्तर पलटती रहती है किन्तु किसी भी काल में सर्वथा विनष्ट नहीं होती। ईश्वर को सृष्टिकर्त्ता मानने से ईश्वर का स्वरूप विकृत और दूषित हो जाता है, उसे अनेक दोषों का पात्र बनना पड़ता है। इसी कारण जैन-दर्शन मुक्तात्मा के रूप में ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करता हुआ भी उसे कर्त्ता नहीं स्वीकार करता।

सृष्टिकर्ता न मानने के कारण कई लोग अज्ञानवश जैनधर्म को अनीश्वरवादी कह देते हैं और कई नास्तिक कहने में भी संकोच नहीं करते। किन्तु इस सम्बन्ध में एक पृथक् प्रवचन में विचार किया जा चुका है। जैनधर्म ईश्वर (मुक्तात्मा) के विषय में कहता है --

अच्चेइ जाइमरणस्स वट्टमग्गं विक्खायरए, सव्वे सरा णियट्टंति, तक्का जत्थ न विज्जइ, मई तत्थ न गाहिया, ओए अप्पइट्ठाणस्स खेयण्णे.... न इत्थी, न पुरिसे, न अन्नहा, परिण्णे सण्णे

परमात्मा कृतकृत्य होने से संसारसम्बन्धी किसी झंझट में नहीं पड़ता। वह मोक्ष से लौट कर पुनः ससार में अवतरित भी नहीं होता। अनन्त काल तक सदा अव्याबाध सुख और अनन्त अप्रतिहत ज्ञान दर्शन से सम्पन्न हो कर लोकाग्र भाग में विराजमान रहता है। इस प्रकार ईश्वर के द्वारा सृष्टि मानना और प्रलय की कल्पना नितान्त भ्रमपूर्ण ही सिद्ध होती है।
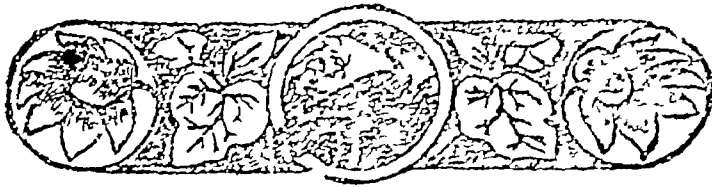
उवमा न विज्जइ, अरूवी सत्ता, अपयस्स अरूवी णत्थि। से न सद्दे न रूवे, न रसे, न गंधे, न फासे।

(आचारांग प्र० अ० ५ उ० ६)

अर्थात् मुक्तात्मा जन्म मरण के मार्ग को उल्लघन कर जाता है, मुक्ति में रमण करता है। उस का स्वरूप प्रतिपादन करने में समस्त शब्द हार मान जाते हैं, वहां तर्क का प्रवेश नहीं होता, बुद्धि अवगाहन नहीं करती, वह मुक्तात्मा प्रकाशमान है। ... वह न स्त्रीरूप है, न पुरुषरूप है, न अन्यथारूप है। वह समस्त पदार्थों का विशेष और सामान्य रूप से ज्ञाता है। उस की कोई उपमा नहीं है। वह अरूपी सत्ता है। उस अनिर्वचनीय को किसी भी वचन के द्वारा नहीं कहा जा सकता। वह न शब्द है, न रूप है, न रस है, न गंध है और न स्पर्श है।

जैन दर्शन के अनुसार जीव अनादि काल से है और अनादि काल से कर्म कर रहा है और स्वय ही अपने कर्मों का फल भोग रहा है। इस का अर्थ यह न समझा जाय कि कोई ऐसे कर्म परमाणु भी हैं जो अनादि काल से जीव के साथ लगे हैं। प्रत्येक कर्मपरमाणु किसी विशिष्ट काल मे ही जीव को लगता है और अपनी कालमर्यादा पूर्ण होने पर अलग हो जाता है, फिर भी कर्मों की प्रवाह—सन्तति अनादिकालीन है। जब आत्मा मे ज्ञानचेतना बलवती होती है तो वह नवीन कर्मों के आगमन को रोक देती है और तपस्या आदि के द्वारा पूर्वसंचित कर्मों का क्षय कर डालता है। तब उसे परिपूर्ण निष्कर्मदशा अर्थात् मुक्ति प्राप्त होती है।

कर्म ही इस जीव का बन्धन मे डालते हैं और कर्म ही संसार में परिभ्रमण कराते हैं। कर्मों के फंदे मे से जीव निकल जाता है तो भवसागर से पार हो जाता है। भवसागर से पार होने का अर्थ अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त कर लेना है। आत्मा का जो शुद्ध स्वरूप है, उस को प्राप्त कर लेना मुक्ति है। ऐसा मुक्त जीव ही ईश्वर, अथवा परमात्मा कहलाता है।

परमात्मा कृतकृत्य होने से संसारसम्बन्धी किसी झंझट मे नहीं पडता। वह मोक्ष से लौट कर पुनः संसार में अवतरित भी नहीं होता। अनन्त काल तक सदा अव्यावाध सुख और अनन्त अप्रतिहत ज्ञान दर्शन से सम्पन्न हो कर लोकाग्र भाग मे विराजमान रहता है। इस प्रकार ईश्वर के द्वारा सृष्टि मानना और प्रलय की कल्पना नितान्त भ्रमपूर्ण ही सिद्ध होती है ।

मिलने का पता—

# ला. गुजरमल प्यारेलाल जैन

चौड़ा बाज़ार, लुधियाना, (पंजाब)

# जैनशास्त्रमाला कार्यालय

जैनस्थानक लुधियाना, (पंजाब)

निकट—जैनधर्मशाला।

—:o:—

# चन्द्र-ज्योति

# श्र
# द्धा
# ञ्ज
# लि
# ख
# ण्ड

प्रकाशक

श्री जैन शास्त्रमाला कार्यालय
जैनस्थानक. लुधियाना. (पंजाब)

# कहां क्या है ?

# ज्योतिपुञ्ज

(लेखक—प्रान्तमन्त्री भूतपूर्व युवाचार्य पं० श्री शुक्लचन्द्र जी महाराज)

संसार जब प्रभाकर की प्रखर किरणों से उत्तप्त हो जाता है, और यह पृथ्वी दावानल के समान उष्ण हो जाती है। पृथ्वी के प्राणी आत्मरक्षा के लिये इधर उधर मुखावलोकन करते हैं। नाना प्रकार के जीव जन्तु अपनी उत्पीड़न की शान्ति के लिये करुण क्रन्दन करते हैं तब उन की शान्ति के लिए दयामय देव अपनी पर्जन्यवृष्टि से जग का ताप हरते हैं। इसी प्रकार जब जीवजगत् में प्राणी स्वार्थान्ध हो जाता है और अपने निजत्व को खो बैठता है। धर्ममर्यादा का उल्लंघन करता है और अपने को ही सब कुछ समझ कर साधारण जनता को गुमराह कर धर्म को विपाक्त करता है। तब उसकी ओर जनकल्याण की भावना से अलौकिक शक्तियां उद्भूत होती हैं। वे अपने प्रारम्भ जीवन में ही जगत्त्राण करती हैं। इस प्रकार जब हमारे जीवन में कुछ धर्म के प्रति विरक्तता पैदा हुई ठीक उसी समय श्री श्री १००८ श्री वैराग्यमूर्ति, विदुषी, महासती श्री चन्दा जी महाराज संसार में धर्म के रूप में उद्भूत हुईं। अपने शैशव काल से ही सांसारिक सुखों से अनास्था प्रकट की। सांसारिक वस्तुएं उन्हें अपनी ओर आकृष्ट न कर सकीं। वे जग की मोह-माया से दूर रह कर अनन्त ईश्वर में विलीन होना चाहती थीं। अतः संसार के अज्ञान से दूर करने वाले प्रकाशस्तम्भ की शरण ली। हृदय ज्ञान की प्रबल इच्छा से उन्हें श्री प्रवर्तनी, विदुषी, श्री श्री १००८ श्री पार्वती जी महाराज और महासती राजीमती जी महाराज की अनन्य अनुकम्पा से धर्मज्ञान उपलब्ध हुआ और आचार्यसम्राट् श्री श्री १००८ परमपूज्य श्री सोहनलाल जी महाराज की अनन्य कृपा से द्रव्यानुयोग, गणितानुयोग, चारित्रानुयोग, कथानुयोग तथा तत्त्वज्ञान-गर्भित सद्शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त किया, और सद्ग्रन्थों का अनुशीलन

कर प्रौढ़ पाण्डित्य प्राप्त किया। उन का शास्त्र ज्ञान अति विस्तृत था। उन के भाषण मे अद्भुत आकर्षण था। जब वह प्रवचन करती थीं, तो जनसमुदाय आनन्दविभोर हो उठता था। नास्तिक वर्ग भी उन की ज्ञानगरिमा की मुक्तकण्ठ से प्रशसा कर के अपने आप को धन्य समझता था। उन जैसी तपोमयी और ज्ञानमयी आत्मा अलौकिक धर्मज्ञान दे कर स्वर्ग को प्राप्त हुई। ऐसी सद् आत्माए अपने ज्ञान से धर्मक्षेत्र को आप्लावित करती है। उन के स्वर्गवास से भारत वर्ष की तथा जैन समाज की जो क्षति हुई, उस की पूर्ति निकट भविष्य मे अति असम्भव है। ऐसी सद्आत्मा के प्रति हम हार्दिक श्रद्धाजलि समर्पित करते है।

# आदर्श साध्वी

(लेखक—पण्डितरत्न श्री हेमचन्द्र जी महाराज)

महासती श्री चन्दा जी एक आदर्श जैन साध्वी थीं। उन का व्यक्तित्व महान् एव उच्चकोटि का था। उन्हों ने कठोर साधना के द्वारा महत्ता तथा उच्चता को प्राप्त किया था। उन्हों ने नाना प्रकार के सकटों, विघ्न-बाधाओं और प्रतिकूलताओं का अपूर्व साहस से मुकाबला किया था। परीषहरूपी शत्रुओं से वे कभी पराजित न हुई थीं। वे अबला नारी नहीं किन्तु सबला वीरांगणा थीं। वे तेजस्विनी ओजस्विनी और वचस्विनी थीं। उन मे आश्चर्यजनक वक्तृत्व शक्ति थी। स्थान स्थान पर उन के प्रभावशाली व्याख्यानों से बहुसख्यक जैन-जैनेतर जनता लाभ उठाया करती थी। वे प्रतिभासम्पन्न थीं। उन्हों ने कई एक सुन्दर पद्य कथानकों की रचना की थी, जो उन की योग्य शिष्याओं के पास लिखित रूप मे विद्यमान है और जिन्हे वे प्राय व्याख्यानों में सुनाया करती है। महासती जी की वाणी मे मृदुता और चातुरी थी। वे व्यवहारकुशल थीं। उन में आवश्यक

शिष्टता और सभ्यता थी। अन्त में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि उन का जीवन अनेकानेक सद्गुणों से अलंकृत था। पाठक उन के आदर्श जीवन से अधिकाधिक लाभ उठाएं, और उन की समुज्ज्वल कीर्ति चिरस्थायिनी हो, यही हार्दिक कामना है।
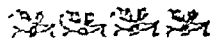
## चारु-चन्द्रिका

(लेखक—भूतपूर्व उपाध्याय, मुनि श्री प्रेमचन्द जी महाराज, पंजाबी)

यह बात सुप्रसिद्ध है कि रात्रि के समय में आकाशमण्डल में अनेक कोटि तारागण उदित होते हैं। अपनी दिव्य प्रभा और अद्भुत छटा से आकाशमण्डल को सुशोभित कर देते हैं। किन्तु सूर्योदय होने पर वे सब के सब आकाश-मण्डल में ही तिरोहित हो जाते हैं। ठीक इसी प्रकार इस जगतीतल पर संख्य, असंख्य, अनन्त जीव जन्म धारण कर आते हैं और अपना २ स्वल्प या दीर्घ जीवन काल यापन कर चल बसते हैं, यह एक अनादि-काल से लम्बी परम्परा चली आती है। इस कालकराल के आगे किसी का भी जोर नहीं चलता, क्या देव, क्या दानव, क्या राव क्या रङ्क और योगी, भोगी, धनी-निर्धन, बलदेव-वासुदेव, प्रतिवासुदेव, तीर्थंकरादि को भी इस काल ने अछूता नहीं छोड़ा। अन्तत सभी शरीरधारी इस सर्वभक्षी काल के भोग्य बनते हैं।

यह भौतिक जीवन किसी का भी स्थिर नहीं रहता, किन्तु जो भव्य आत्माएं इस जगतीतल पर आकर अपना और दूसरों का कुछ भला कर जाती हैं वे इस विश्व में अपने जीवन की अमर कथाएं शेष छोड़ जाती हैं। उन की पुनीत कथाओं से अनेक जीव प्रकाश लेकर अपने अन्धकारमय जीवन को आलोकित करते हैं। ठीक आज स्वर्गीय बालब्रह्मचारिणी महाविदुषी महासती श्री चन्दा जी भौतिक रूप से आज हमारे सामने नहीं हैं किन्तु महासती जी की जीवन-गुणा-[illegible] में आज भी इस विश्व में विचरण कर रही हैं।

वास्तव मे महासती जी का जीवन एक आदर्श जीवन था। स्वर्गीया आत्मा ने छोटी उम्र मे ही वैराग्य से प्रभावित हो कर जैन-साध्वी-दीक्षा धारण की। वह शुक्ल-पक्ष का चन्द्र छोटे से रूप मे उदय हुआ था किन्तु उस ने त्याग, वैराग्य, ज्ञान, ध्यान, मार्दव, आर्जव, विनय-शीलता, वचनमृदुता आदि गुणकलाओं से उत्तरोत्तर प्रभासित होते हुए पूर्णमासी के पूर्ण कलासयुक्त चन्द्ररूप को धारण किया।

चन्द्र मे दो मुख्य विशेषताएं होती है—शीतलता और प्रकाश। ठीक महासती जी के जीवन मे भी प्रकृति की शान्तिरूपी शीतलता और ज्ञानरूप प्रकाश खूब ओत-प्रोत हो रहे थे। आज जो बाल-ब्रह्मचारिणी, जैनधर्मोद्धारिका, विदुषी महासती लज्जावती जी और समयज्ञा, वाक्पटु, विचारशीला, विदुषी महासती सौभाग्यवती जी आदि शिष्या सतिया विराजमान है, वे महासती चन्दा जी की देन है। महासती जी ने स्थानीय और सार्वजनिक अपने ओजस्वी प्रवचनों द्वारा अनेक भूले भटके जीवो को सत्पथ पर लगाया और उन्हे दारु, मास, जूआ आदि दुर्व्यसनों का त्याग कराया। महासती जी ने जैन ससार को ही नहीं, बल्कि समुच्चय मानव ससार को पवित्र जीवन से लाभान्वित किया। मानव-ससार को महासती जी का पवित्र जीवन चिर-स्मरणीय रहेगा। इत्यल। सुज्ञेषु किं बहुना।

<br>
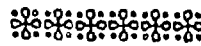
## अमर साध्वी श्री चंदा जी

(लेखक—जैनदिवाकर श्री चौथमल जी म० के सुशिष्य भूतपूर्व युवाचार्य श्री रामलाल जी म०)

जा की यहां चाहना है, वा की वहां चाहना है।
जा की यहां चाह, ना है, वा की वहां चाह, ना है॥

मुझे यह जान कर महान् दु ख हुआ कि धर्म-धुरन्धरा, शास्त्र-वेत्ता, भारतप्रसिद्धा एव महान् पण्डिता महासती श्री चन्दा अपने

भौतिक शरीर को त्याग कर निर्वाणलोक को सिधार गई। मुझे कई वर्ष पहले दिल्ली में, उन से मिलने व उन के साथ विचार-विनिमय करने का सुअवसर सम्प्राप्त हुआ था तथा दो ढाई वर्ष तक वहां एक साथ रहने के कारण, महासती जी के आदर्श गुणों की महकती महक में मैं बहुत ही अधिक प्रभावित हुआ, और महासती जी के धार्मिक स्नेह की पवित्र छाप मुझ पर भी विशेषरूप से पड़ी। और उन का मातृवत् स्नेह मेरे जीवन का भी एक अंग बन गया। कारण कि, महासती जी के अनुशासन में मृदु स्नेह का ऐसा पुट रहता था कि वह अनुशासन कठोर एवं बन्धन न हो कर जीवन का शृंगार बन जाता था, अधिक क्या, इस के लिए आप की शिष्याएं प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। अस्तु।

आज उन के निधन से जैन जगत् साधु-समाज व देश सभी को अपूरक क्षति पहुँची है और व्यक्ति-गत क्षति मुझे उस से कम अनुभव नहीं हुई। पंजाब प्रान्त की तो महासती जी प्रत्यक्षत शुभ्र एवं जीवित ज्योत्स्ना ही थीं। आप के अनथक परिश्रम, वाणी-माधुर्य, बुद्धिमत्ता एवं विद्वत्ता की अमिट छाप, जैन और अजैन सभी पर एक रूप से पड़ी थी। जैन धर्म का जो अनन्त उपकार आप ने किया वह हमारे युग के इतिहास में सदैव स्वर्णाक्षरों में अंकित रहेगा। आप ने अपने जीवनकाल के ७८ वर्षों में ६६ वर्ष साधना में बिताए और उत्कृष्ट संयम पाला। अजैन विद्वानों से शास्त्रार्थ कर के जैन धर्म की विजय-पताका फहराई। आप की इस शूरता, वीरता, धीरता को जैन जगत भूल भी तो कैसे सकता है ?

आज आप के सद्गुणों की स्मृति मेरे मानस-पटल पर ऐसे अंकित हो रही है जैसे कोई कल ही की बात हो। आज आप की वियोग-व्यथा से जनसमाज महान व्यथित एवं चिन्तित है। आप अवर्णनीय मनस्ताप के कारण सज्ञाहीन कर देने वाले उष्ण अश्रुपात बरस रहा है, दु:ख-सन्ताप के काले बादलों ने घिर कर क्या अनुभव कर रहा है। किन्तु किया ही क्या जाये ? प्रकृति का नियम अटल है। यह संसार ही चला चली का मार्ग है। यहां जो भी आया, स्थिरत्व उसे

है ही कहां ? किन्तु इस विनश्वर जगत् मे आकर भी, चिरकाल के लिए, अमरत्व उसी ने प्राप्त किया, जिस की कान्त कान्ति एव धवल यशोकीर्त्ति दिशा विदिशाओ मे व्याप्त हो रही है। वह मर कर के भी अमर है। जिस ने मानव-जीवन पाकर शास्त्रकथन के अनुसार अपने जीवन को सार्थक बनाया । परहित मे जिस ने भी अपने आप को लगा दिया, उसी की कीर्ति, उसी की सच्ची कमाई सदैव जीवित रहेगी और वह अमिट है। युगयुगान्तरो तक मानव-हृदय उसे सदा याद करते रहते हैं। आज महाकवि कालीदास, रामचरित-मानस के रचयिता तुलसीदास, एव प्रसिद्ध-वक्ता, पण्डित-रत्न जैनदिवाकर श्री चौथमल जी महाराज आदि अपने भौतिक शरीरों में यहां नहीं हैं। किन्तु अपनी अमिट कीर्ति की व्यापकता से वे अमर है। ठीक, इसी भान्ति श्री महासती जी की अभिनन्दनीय लेखनी की सुकृतिया सदैव उन की कीर्ति को अमर रखेगी और उन के सद्गुणों की सुगन्ध से जैन जगत् को चिरसुरभित करती रहेगी।

अन्तत दिवंगत आत्मा के प्रति, स्व-करबद्ध श्री वीर प्रभु से प्रार्थना करता हूँ कि उस महान् पवित्रात्मा को असाधारण सद्गति एव परम शान्ति प्राप्त हो और इन्हीं शब्दों के साथ मैं महासती जी को अपने श्रद्धासुमन समर्पित करता हूँ।

——o——

# चंदा सी निर्मल सती

(लेखक—भूतपूर्व युवाचार्य श्री राम लाल जी महाराज)

तर्ज—राधेश्याम

चन्दा सी निर्मल सती, सुन्दर सुखद ललाम।
हाय! छोड हम को गई, सीधी शिवपुर धाम॥

मैं पूछ रहा हूँ! ज्योतिमयी, वो चन्दा है कहां पर कह दो।
झोली पसार कर माग रहा, मेरा चन्दा मुझ को दे दो॥

तेरे दर्शन को उठा शीश, हम नभमण्डल में देखते हैं।
तब तारे आंख उठा हम को, वे प्रति-उत्तर यों देते हैं॥
असली चन्दा को छुपा लिया, अब नकली चन्दा को देखो।
अब उस पर भी ननु नच की तो, कर-रेख के चन्दा को देखो॥
वह ज्ञान, ध्यान, व्याख्यान तेरा, अब याद बहुत ही आता है।
हा सती! जुदाई में तेरी, सब का जी भर-भर आता है॥
समभावों से यह देह-त्याग, जो अमरपुरी में जाते हैं।
वे लौट कभी नहीं आते हैं, यों वीर प्रभु फरमाते हैं।
सती जी की सद् शिक्षाओं को, सर पर धारण कर, काम करो।
उस दिव्य आत्मा के गम में, लेखनी जरा विश्राम करो॥

—❧❦☙—

## साध्वी--शिरोमणि

(लेखक—कविवर्य्य श्री चन्दन मुनि जी महाराज, पंजाबी)

यूं तो जगतीतल पे आईं, सैकड़ों सुकुमारियां।
पर 'श्री चन्दा सती' सी विरली जन्मी नारियां॥
बन के जो अबला से सबला, जगत को दिखला गईं।
[illegible] उनको और चार चांद लगा गईं॥

उच्च शिक्षण आपने फिर, प्राप्त कर सौभाग्य से।
मन को अपने रंग लिया था, सर्वथा वैराग्य से॥

पितु मात ने चर्चा चलाई, मगनी की चाव से।
अणुमात्र भी सहमत हुई न, आप इस प्रस्ताव से॥

करबद्ध विनति आपने की, शील पालूंगी सदा।
झूठे जग सुख भोग पर, न मैं लुभाऊंगी कदा॥

आप जागूंगी जागाऊंगी मैं इस ससार को।
सत्य का सदेश सुखकर, दूंगी हर नर नार को॥

मन्त्र फूंकूंगी मैं नारी, वृन्द मे जागृति का।
पाठ सब को है पढ़ाना, हिन्द की सस्कृति का॥

रोको मत सत्कर्म से, जीवन बनाने दीजिए।
शुभ अहिंसा धर्म का, झंडा उठाने दीजिए॥

वीर बाला के वचन सुन, हो गए खामोश सब।
दृढ़ प्रण की धारिका को, रोक सकता कौन कब॥

ले लिया फिर जैन सयम, जा नगर 'करनाल' में।
मास फागुन और उन्नीसौ चौमाली साल में॥

ज्ञान गहरा आगमों का, पा लिया फिर आप ने।
आत्मा उज्ज्वल बनाई, सत्य के शुभ जाप ने॥

नारी जाति को जगाया, मुख्यत उपदेश से।
जनसमूह को भी सुधारा, वीर के सन्देश से॥

हिन्दू, मुस्लिम, सिक्ख सेवक, सहस्रश' ही बन गए।
आप की वाणी-पवन से, पाप के उड़ घन गए॥

एक जादू सा असर रखती थी वाणी आप की।
दिन प्रतिदिन बढ़ रही थी, पुण्यवानी आप की॥

अशआर उर्दू फारसी के, बोलती थीं आप जब॥
मुन्शी आलिम, मुन्शीफाजिल झूम जाते सुन के सब॥

शुद्धोच्चारण आप की जिह्वा की, खूबी खास थी।
एक दुनिया इस लिए भी, भाषणों की दास थी॥

प्राकृत और संस्कृत का भी तो गहरा ज्ञान था।
सारगर्भित शान्त रस का, आप का व्याख्यान था॥

साम्प्रदायिकता से बिल्कुल, आप का दिल दूर था।
पाप और पाखण्ड का करना खतम दस्तूर था॥

भयभीत होना आपने, सीखा नहीं था भूल कर।
शेर जंगल में मिला इकबार न घबराई पर॥

देखते ही आप को वो झट किनारा कर गया।
तेज के सन्मुख बली हृदय भी उस का डर गया॥

आप के अद्भुत गुणों का पार आ सकता नहीं।
मैं तो क्या कोई भी मुख से, उन को गा सकता नहीं॥

दो सहस्र और नव का सवत्, अन्त में जब आगया।
चार अनशन स्वर्ग पहुंची, शोक सारे छा गया॥

'लुधियाना' से हजारों, रो रहे नर-नार थे।
पालकी की धूम से, चलते रहे नाचार थे॥

सब प्रशंसा कर रहे थे, आप के तप त्याग की।
आप थीं तस्वीर उज्ज्वल, ज्ञान की वैराग्य की॥

दोष बहुविध टाल कर आहार चुन सरस पान कर।

# सती श्री चन्दा जी

(लेखक—मधुर व्याख्याता मुनि श्री लाभ चन्द जी म०)

मेरे जीवनोन्नति की ज्योतित सहायिका, मेरी वैराग्य वृत्ति की पावन प्रेरिका, आत्मप्रगति पर प्रतिपल प्रवरता, प्रधी प्रदान करने वाली, संयमसाधिके ! आप का यशोगान गाऊ किहि भांति ?

भाषा भावों का समन्वय, शब्दों का निखिल कोष, यह सब मुझे आप की उपमा में उपयुक्त नहीं जंच रहे है। उपमातीत पावनप्रवरा अनगारिनी आप के उपकारों का आभारी आजन्म रहूँगा।

'तिन्नाणं तारयाणं' का पाठ बड़ी सफलता से हृदयंगम कर भवपीड़ित भवि-वृन्द को सत्पथ निर्देश देने वाली पुङ्गव साध्वी ! आपके गुणानुवद गाने की आन्तरिक अभिलाषा मन की मतवाली मनो-कामना कब पूर्ण हो ! मैं उस समय की सदा प्रतीक्षा में हूँ।

आप का निधन सुना। ससार का यही स्वरूप है। मुझे निधन के प्रति विस्मयजनक विषाद नहीं है। मेरा मानस शोकाकुल नहीं है। मैं तो आप की इस सिद्धि पर, जीवन की सार्थकना पर, सफलता पर हर्षित हूँ। साधुवाद देता हू कि आपने अपने आत्मलक्ष्य को चूडान्त चारुता से चमका दिया। आप का वियोग सदा के लिये हो गया। आप का अभाव अब आजीवन खटकेगा। जब जब जीवन मे पथप्रदर्शक की आवश्यकता होगी, जब सत्परामर्श के प्रति उत्सुकता होगी, नाना प्रकार की प्रवृत्तियों से जब प्राण पीड़ित होगे, तब तब आप का सयमभरा सान्निध्य, तप त्याग भरा प्रेरक उपदेश और आप की पौद्गलिक शरीरस्थिति याद आये बिना न रह सकेगी।

काश ! मैं भी आप की तरह पडित मरण के मोद भरे महोत्सव को मनाता हुआ अपने को आप की तरह सफल बना सकू।

आप के द्वारा शासन की सर्वोच्च सेवाए हुई हैं जिन का उल्लेख जैन इतिहास मे स्वर्णाक्षरों से होगा। आप की साधना, आप का व्यक्तित्व, आप का सौजन्य सराहनीय है। शत शत अभिनन्दन

के योग्य है। आने वाली पीढियां आप के चरणचिन्हों पर चल कर अपना और अपने देश, जाति, धर्म का मुख गौरव से उज्ज्वल कर सकेगी। यही है आप के चरित्र की चारु चारु विशेष विशेपता। आप का साधक जीवन मुझे ज्योतिर्मय हो।

## अमर--विभूति

(लेखक—कविरत्न पं० मुनि श्री केवल चन्द जी म०, साहित्यरत्न)

गुणवान थी, पुण्ययान थी, चन्दा जी महासती।
और जैन की एक शान थी चन्दा जी महासती॥

तेजस्विनी मनस्विनी थी शात वीर थी।
विदुपी थी पडिता थी विचक्षणा थी, वीर थी॥
भक्तों मे एक प्रेम की ज्योति थी जगाई।
ज्योति मे अनेको ने अपनी निधिया थी पाई॥
गुणवान ..
सहस्रो जनों ने उन से पाया है उजेला।
सहस्रो घरो मे सत्य का प्रकाश है फैला॥
सहस्रो गिरे हुओ की आत्मा उठा गई।
सहस्रो के बिगडे भाग्य को फिर से बना गई॥
गुणवान
देहली मे एक बार मिली थी सौभाग्य से।
संयम चमक रहा था उन्हो का वैराग्य से॥

सदियों ही उन की दुनिया सदा करती रहती याद ॥

गुणवान् थी पुण्यवान् थी चन्दा जी महासती।

और जैन की एक शान थी चन्दा जी महासती ॥

गुणवान् ॥

# समुज्वल ज्योति

(लेखक– जैनधर्मदिवाकर, साहित्यरत्न, श्रमणसंघ के प्रधानाचार्य श्री आत्माराम जी म० के सुशिष्य श्री ज्ञानमुनि जी म०)

एक बार गोस्वामी तुलसीदास जी कहीं जा रहे थे। नगर के मध्य मे से हो कर निकले। एक ओर से गाने बजाने तथा आमोद-प्रमोद की ध्वनि कानों में पडी। स्वामी जी के कान खडे हो गए। कारण पूछने पर पता चला—नगर-सेठ के घर एक बालक उत्पन्न हुआ है। पुत्र-जन्म की खुशी मे यह सब कुछ हो रहा है। सुनते ही आप आगे चल दिए। ठीक उस सेठ के घर के पिछले भाग के निकट से जब जाने लगे तो कानो मे किसी नवजात शिशु के रोने की ध्वनि सुनाई दी। सुनते ही ठिठक गए। सोचने लगे—अभी तो गायन सुन कर आ रहा हूँ, आमोद-प्रमोद देख कर आया हू, अभी रोना भी हो रहा है। बडी विचित्र बात है। कुछ गभीरता मे उतरे। मन समाहित होने लगा—नवजात शिशु अपने दु ख से रो रहा है और घर वाले बाहर, उस से पूर्ण होने वाले भावी स्वार्थ से पुलकित तथा हर्षित हो रहे है। स्वामी जी सटपटा उठे। संसार बडा स्वार्थी है। इस की प्रत्येक चेष्टा स्वार्थसाधना का ही ताण्डव नृत्य कर रही है। अन्तर्जगत की पगडण्डियो पर बडी स्फूर्ति से अग्रसर होने लगे। झटिति अन्तर्वीणा झङ्कृत हो उठी—

तुलसी जब जग मे भए, जग हंसा तुम रोए।

ऐसी करनी कर चलो, तुम हंसो जग रोए॥

संसार हंसता है, अपने स्वार्थ की पूर्ति के स्वप्न को देख कर, किन्तु ऐ मनुष्य ! तू अपने को इतना उन्नत बना, इतना ऊंचा उठा, ज्ञान की समुज्वल ज्योति से संसार को इतना ज्योतिर्मय बना कि तेरे रोने पर हसने वाला यही ससार तेरी पुण्यस्मृति मे रो उठे और तू फिर भी अपने पूर्णबोध अथच स्वरूप प्रतिष्ठा अर्थात् परमकैवल्य के अमर सुखसाम्राज्य मे हसता ही रहे।

गोस्वामी जी की अन्तर्वीणा का यह अपूर्व तथा मधुर स्वर बालब्रह्मचारिणी महामहिम महासती श्री चन्दा जी म० के जीवन मे गूञ्ज रहा है, साकार रूप ले रहा है। महासती जी ने ज्ञान, दर्शन, और चारित्र के सम्यक् आराधन तथा परिपालन से अपने को उच्च और आदर्श बना डाला था। ये जैनसमाज के विशाल उपवन मे एक ऐसे प्रफुल्लित, विकसित एव सजीव पुष्प के रूप मे अवतरित हुए कि जिस ने अपने जीवन के मगलमय सौरभ से जैन ससार को ही नहीं मानवससार को सुरभित कर डाला।

२० वर्षों की पुरानी बात है, जैनधर्मदिवाकर साहित्यरत्न जैनागमरत्नाकर प्रधानाचार्य गुरुदेव **श्री आत्माराम जी महाराज** के चरणो मे मै वैराग्य अवस्था मे था, उस समय महासती जी अपनी शिष्यानुशिष्याओं को आचार्य म० से श्री भगवतीसूत्र का अध्ययन करवा रहे थे। तब पहले पहल मैंने महासती जी के पुनीत दर्शन किए थे, तभी से मेरा मानसपटल महासती जी के गुणसौरभ से सुगन्धित है। साधु बन जाने के अनन्तर भी अनेकों बार महासती जी के दर्शनो का सौभाग्य मिला है। मैंने देखा है—आप वयोवृद्ध होते हुए भी छोटे से छोटे साधु का भी पर्याप्त सम्मान किया करते थे, बड़े प्रेम से उसे सयम मे दृढता लाने की प्रेरणा तथा शिक्षा दिया करते थे। आज भी मेरे कानो मे आप के वे शब्द गूज रहे है, जब आप एक मुनि से कह रहे थे—महाराज ! मेरा तो यही विनम्र निवेदन है कि स्त्रियो के सम्पर्क से बचते रहना, इन की भोली भाली बातो पर मुग्ध मत हो जाना, आत्मप्रतिष्ठा के तुच्छ लोभ मे न पड़ कर आत्मसाधना के पावन लक्ष्य को न भूला देना गुरुदेव ! यही भविष्य

के सुन्दर निर्माण का सर्वोत्तम साधन है।

महासती जी का जीवन सरलता और मधुरता का अमर भण्डार था। छोटे से छोटे व्यक्ति से भी आप किस सरसता तथा मधुरता से बात किया करते थे और कैसे जिनेन्द्रवाणी के अनमोल हीरो से उस की झोली को भरा करते थे। यह तो वही जान सकता है जिस ने कभी आप के मगलमय दर्शन करने तथा मधुर व्याख्यान सुनने का सौभाग्य प्राप्त किया है। इस के अतिरिक्त आप का स्वावलम्बन भी बडा अद्भुत था। छोटी साध्विया आप की सेवा मे सदा उपस्थित रहा करती थीं। किन्तु फिर भी आप छोटे-छोटे दैनिक कार्य अपने हाथो से करने मे ही आनन्द मानते थे। अपनी ओर से किसी को कष्ट देना तो आप को मानो आता ही नहीं था।

साधुता की भूमिका पर पग रखे हुए आप को अभी अधिक समय नहीं हुआ था, पूज्य गुरुणी का वियोग हो गया, शिष्याए मृत्यु का ग्रास बन गई। उन का साथ छूट गया। विषम परिस्थितियों ने चारों ओर से आ घेरा। तथापि आप ने इस विकट समय मे धीरता तथा गभीरता के नेतृत्व मे वीरता का पल्ला नहीं छोडा। सयम-पथ पर बड़ी दृढता से चलते रहे। स्वप्न मे भी व्याकुल नहीं होने पाए। एक सैनिक की भान्ति दुविधाओं के प्रहारो को साहस के कन्धों पर सहन करते हुए बढते ही गए। आप की धीरता का कहा तक वर्णन करू ? मेरी आखो ने वे दिन भी देखे है। जब आप की जघा की हड्डी टूट गई थी, वेदना आप को बुरी तरह सता रही थी, चारो ओर से अस्वास्थ्य का दूषित वायुमण्डल बड़ा विक्षुब्ध कर रहा था, किन्तु आप कहते थे—मत घबराओ, यह सब कर्मों का भोग है। मैं तो सहसा बोल उठता था—धन्य हैं आप, धन्य है आप की धीरता।

अनुशासन जीवन को समुन्नत तथा समुज्वल बनाने का सर्वोत्कृष्ट साधन है, उपाय है। इसी के आधार पर ही जीवन की सभी मर्यादाए अक्षुण्ण बनी रह सकती है। मै यह विश्वास के साथ कह सकता हूॅ कि महासती जी ने इस तथ्य को अपने जीवन मे पूर्णरूप से अपना रखा था। आप की कोई भी छोटी साध्वी, आप के आदेश

और संकेत के बिना कोई भी काम नहीं कर सकती थी। साध्वियों पर आप का पूर्ण नियन्त्रण था, अनुशासन था। सभी का जीवन आप की देख-रेख में ही सम्पोषित और सवर्धित होता था। मैंने स्वयं देखा है—आप के संकेत के बिना आप की कोई भी साध्वी स्वय बोलने का साहस भी नहीं करती थी। अनुशासन का यह साकार रूप आप के अपने अनुशासित जीवन का ही एक पावन ज्वलन्त प्रतीक था, उदाहरण था।

तपों में ब्रह्मचर्य को उत्तम माना गया है। अहिंसा तथा सत्य के देवता भगवान महावीर स्वामी इसी अभिप्राय को—'तवेसु वा उत्तमं बंभचेरं' इन शब्दों में अभिव्यक्त कर रहे हैं। वेद भी इस का समर्थन— 'तपो वै ब्रह्मचर्य' इन शब्दों से करते हैं। गीताकार ने ब्रह्मचर्य को—'ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते' यह कह कर शारीरिक तप के रूप में स्वीकार किया है। भोजन पानी का त्याग, किसी सीमा तक संभव है। धन, धान्य, पृथ्वी, परिजन आदि को छोड देना भी असंभव नहीं है किन्तु विषयवासनाओं का त्याग करना लोहे के चने चबाना है। बडे २ भीषण युद्धों के विजेता, संसार में अपनी शक्ति की धाक जमाने वाले, समय आने पर काल से भी भिड़ने वाले विषयवासना के सामने घुटने रगडते देखे गए हैं, इस के सामने उन्हें भी नतमस्तक होना पड़ा है। ब्रह्मचर्य की इस आदर्शता, महत्ता तथा अलौकिकता एव कठोरता को देखते हुए ही महावीर प्रभु का अन्तर्नाद गूंज उठा था—

> देवदाणवगन्धव्वा, जक्खरक्खसकिन्नरा।
> बम्भयारि नमंसन्ति, दुक्करं जे करन्ति तं॥
> (उत्तराध्ययन अ० १६, गा० १६)

भाव यह है कि देवता, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, किन्नर इत्यादि सभी इस ब्रह्मचारी के चरणों में झुक जाते हैं जो इस प्रकार ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करता है।

भगवान महावीर के इस प्रवचन में किंचित् भी अत्युक्ति नहीं प्रतीत होती। महासती जी का जीवन इस तथ्य का सजीव उदाहरण है। महा-

सती जी ने ब्रह्मचर्य के महिमा की महत्ता को खूब समझा था और अपनाया था। आप ने अपने जीवन के ७८ साल इस ब्रह्मचर्य की आराधना तथा उपासना मे ही लगाए थे। सुनता हू—महासती जी वयोवृद्ध, दीक्षावृद्ध तथा सूत्रवृद्ध होने पर भी अकेले श्रावक को अपने पास नहीं बैठने दिया करते थे। आप की यह साधना आज के युग मे अनुपम थी। आप की ऐसी भीषण साधना के सामने यदि *जंगल का शेर आप से दूर भाग गया या आप के जीवन मे आज असभव प्रतीत होने वाली अन्य अनेकों घटनाए सघटित हो गई तो कौन सी आश्चर्य की बात है? ब्रह्मचर्य की उपासना के आगे असंभव भी सभव है। क्या इस साधना ने आग को पानी नहीं बनाया? शूली सिहासन नहीं बनी? क्या विष अमृत नहीं हुआ? क्या सर्प पुष्पमाला नहीं बन गया? क्या सूत के कच्चे धागे द्वारा छालनी से पानी नहीं निकाला गया? ब्रह्मचर्य मे अलौकिक शक्ति है। इस तथ्य से कौन इन्कार कर सकता है। इसी ब्रह्मचर्यशक्ति की महासती जी भण्डार थे।

यह सत्य है कि महासती जी का वियोग हम सब के लिए शोक और दु ख का कारण बन रहा है, परन्तु हमे इस बात का सन्तोष भी है कि महासती जी अपने उत्तराधिकारी बडे सुयोग्य और सुशील हमे दे गए हैं। विदुषी महासती श्री लज्जावती जी बड़ी सरल और भावुक साध्वी है। तपस्विनी श्री सौभाग्यवती जी भी महासती जी के पदचिन्हो पर चल कर बडी तत्परता से अपना कर्तव्य निभा रही है। इन महासतियों का भविष्य बडा उज्ज्वल दिखाई देता है। समाज को इस साध्वीयुगल से तथा इन की शिष्याओं एव शिष्यानुशिष्याओं से बडी २ मंगलमय आशाए है।

चन्द्र की किरणों की भला गणना हो सकती है? वे तो सख्या की परिधि से बाहिर ही होती है। महासती जी भी हमारी समाज के चान्द थे। ज्ञान की समुज्वल ज्योति थीं। इन की गुणसम्पदा इतनी विराट है कि शब्दों की सीमित रेखाओं मे इसे सीमित नहीं किया

---

*महासती जी को विहार मे एक बार एक शेर मिला था, वह इन्हे देख कर अपने आप ही दूसरी ओर चला गया था, आदि बातों का वर्णन आप को म[illegible] जी [illegible] मिलेगा।

जा सकता । संक्षेप में अपनी बात को समाप्त कर दूं —महासती जी का जीवन साधुता की कसौटी पर परखा हुआ एक आदर्श जीवन था । 'बहुजनहिताय बहुजनसुखाय' की प्रतिछाया इन के मगलमय जीवन मे स्पष्ट रूप से झलकती थी ।

# श्रद्धोपहार

(समर्पक—प्रसिद्धवक्ता मुनि श्री विमल चन्द जी महाराज, पंजाबी)

बालब्रह्मचारिणी महासाध्वी जी ! आप बडी शान्त-दान्त भावुक भद्राकृति तथा गम्भीर स्वभाव वाली आदर्श साध्वी थीं ।

जैनधर्मोपदेशिके ! जो वक्तृत्व कला आप में पाई जाती थी, वह सब आपका अपना अनथक परिश्रम तथा साहित्य-सुधा-आस्वादन था । प्राकृत संस्कृत-फारसी साहित्य विशेषरूप से आप के उन्नतिस्तर का सहायक रहा है । अत स्वाभाविक ही है-वक्तृत्व में आकर्षण तथा विश्लेषण । एक विषय पर ही आप महीनों भर बोलती रहती थीं । उर्दू-फारसी का शुद्ध प्रयोग सुन कर बडे बडे आलिम फाजिल भी प्रभावित होते थे, विशेषेण नारीमुखात् । संस्कृतसाहित्य की पराकाष्ठा का यह प्रत्यक्ष प्रमाण था कि जब आप अपनी मधुर परिमार्जित तथा संगीत भरी वाणी से श्लोकोच्चारण करती थीं तो दिग्गज विद्वान् भी चकित रह जाते थे ।

हे परम तपस्विनि !

नारीजीवन मे आप की तपश्चर्या अवर्णनीय है । आप की अपनी सत्ता का उदाहरण याद आ आ हमें सदा प्रोत्साहित करता है, क्योंकि आप किसी भी दैविक या भौतिक शक्ति से कभी विचलित नहीं होती थीं । आप की आचारनिष्ठा का जैन अजैन सभी समाजों पर अधिक प्रभाव है । उल्लेखनीय बात तो यह है कि आप ने अपने मार्ग मे कभी

किसी समाज को अन्धविश्वासी तथा भ्रान्त नहीं बनने दिया। बल्कि समय आने पर विकट परिस्थितियों में भी अकथनीय धैर्य तथा दीर्घ-दर्शिता का समुज्ज्वल आदर्श उपस्थित किया है।

मैंने (वृद्धजनों से) वे दिन सुने हैं और अच्छी तरह सुने हैं जब कि आप अपनी साधना तथा आयु की प्रारम्भिक भूमिका में चल रहीं थीं। दुर्दैवात् स्नेह-संचारिणी कल्याणकारिणी मातृहृदया गुरुणी स्वर्ग सिधार गई। निस्सहाय बाला सी दशा में आप अपनी समाज का मुह ताकने लगीं। अधिक देर न लगी जब कि आप की आत्मा पुकार उठी प्रभो! तू धन्य है, और धन्य है तेरी सत्यस्वरूपा वाणी—

**कम्मस्स ते तस्स उ वेयकाले, न बंधवा बधवयं उवेंति।**

मुझे अपनी किस्मत का फैसला खुद आप करना होगा और करना होगा अपने भविष्य का निर्माण भी। आप के इस साहस तथा दृढता को सूक्ष्मदर्शी करुणार्णव परमोजस्वी चारि- निष्ठ श्रद्धेय गणाव-च्छेदक स्वर्गीय श्री स्वामी लाल चन्द जी महाराज ने तुरन्त पहचाना, सम्भव है कवि का हृदय ऐसे अवसर पर ही उन्मत्त हो पुकार उठा हो कि—

**गौहर को जौहरी सराफ जर को देखते हैं।**
**बशर को देखने वाले बशर को देखते हैं॥**

कोटि कोटि अभिवन्दनीय श्रमण भगवान महावीर के चरण-चिन्ही आप उनके अपने आदर्श को अभिमुख करके कार्यक्षेत्र में आ उतरे। चन्दनबाला की तरह चन्दा की विपत्ति का हरण हुआ, समाज का कटु अपवाद सह कर भी।

महाराज श्री जी का सहयोग पा कर आप श्री ने सीप का ज्वलन्त उदाहरण चरितार्थ किया। जो कि स्वाति-बिन्दु से न केवल अपनी तृषा बुझाती है प्रत्युत समय आने पर मोती भी उगलती है। सचमुच आप श्री ने अपने चारित्र तथा सारगर्भित उपदेशों से अनेक अमूल्य मोती दिये जिनसे समाज चिरकाल तक समृद्ध रहे। आपने नग्न पादयात्रा द्वारा अबोध सुप्त समाज का जगह २ पर जो सन्मार्ग दिखाया है उस से समाज उऋण नहीं हो सकती। आप की अपने

तपस्या के प्रभाव से आप को ७८ वर्ष की आयु दी, जिस में से ६६ वर्ष साधुजीवन की सफल साधना में बिताए।

परन्तु ३-८-५९, का [illegible] पर्यालोचन रूप 'ढलति हृदयम्' का चित्र पेश करता है। यह सब सत्य है फिर भी मेरी भावना , है—

स्वर्गीया अमर चन्दा जी! चन्द्रवत शीत ज्ञान-रश्मियों से आपने जो अनेक भटके अमित प्राणियों को सन्मार्ग-सान्त्वना दी है इस का मुझे विशेष गौरव है।

हे दिव्यात्मा साध्वी जी! आप का आदर्श जीवन जैन अजैन समाज के सुधार में इतना सफल हुआ है कि वह युग युगान्तों तक ऐतिहासिक साहित्य में अमर रहेगा। मेरी सदा यही हार्दिक भावना है कि आप इस विनश्वर शरीर को छोड़ कर स्वर्ग में भी चारु चन्द्र रश्मियों से सर्व वातावरण को प्रकाशित करें। तथा दिव्य शक्ति द्वारा लौकिक जनों को चन्द्रकिरण देकर शान्ति प्रदान करें। एवं स्वयं सर्वतः सुखसाम्राज्य की शरण में निवास करें।
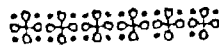
## मेरे उद्गार

(लेखक—मुनि श्री रामलाल जी म० के सुशिष्य श्री अजीतकुमार जी)

संसार परिवर्तनशील है। सूर्य भी उदय हो कर अस्ताचल की ओर अपनी शुभ्र किरणों से अन्यान्य परिजनों को हर्षित कर स्वयं दु:खित मन लेकर जाता है। ससार मे ऐसा कोई मानव नहीं, जो अपने भौतिक शरीर को लेकर अभी तक जीवित रहा हो। संसार में ऐसा कोई प्राणी भी नहीं जो आवागमन के वज्र-मय चक्र से अछूता रहा हो। चक्रवर्ती सम्राट से लेकर हरिजन तक इन मे ऐसी अलौकिक शक्ति का निर्माण भी नहीं हुआ, जो इहलौकिक-देह सहित अपना जीवन रख सकता। न तो ऐसी शक्ति का अभीतक वैज्ञानिक अनुसधान हुआ है और न कभी भविष्य के, अन्तराल में ऐसी अनहोनी-घटना हुई है।

पुष्प भी प्रातःकालीन अपनी एक मुसकान से, सुन्दरता से व अपने सुगन्ध-मय वातावरण से प्रत्येक मानव को आकर्षित कर लेता है। इसी प्रकार इस नश्वरमय संसार के सहस्रों मनुष्यों में एक ऐसा भी प्राणी जन्म लेता है, जिस के शुभनाम को जन-मन-गण युगों तक अपनी स्मृति में संजोये रखते हैं।

सतीशिरोमणि चन्दा जी इस प्रकार की एक आत्मा थीं। सती जी ने शैशव-काल मे ही दीक्षा ग्रहण की थी। शनैःशनैः तभी से अपने ज्ञान-वृद्धि का भरसक प्रयत्न किया और उस प्रयत्न का मीठा-फल आपको उपलब्ध भी हुआ। जैनशास्त्रों का तो अपने विशेष ही शिक्षण प्राप्त किया। परन्तु अन्य शास्त्रों का आपने अध्ययन कर अपनी विद्वत्ता में चार-चांद लगा दिए थे। जैन सिद्धांत की आप प्रकांड विदुषी थी। और आप धर्मोपदेशिका भी परले सिरे की थीं। जब आप व्याख्यान सुनाते तो श्रोतागण मंत्रमुग्ध हो जाते तथा आपको वह आपने जीवन-पर्यन्त तक भुलाए भी नहीं भूलते।

यह बात प्रकृतिसिद्ध है कि मानवमात्र मे एकाध गुणावगुण हुआ करते हैं। परन्तु सती जी मे कोई भी अवगुण नहीं था, वे सर्व-गुणसम्पन्ना थीं। शास्त्रार्थ करने में आप अत्यन्त चतुर थीं। विपक्षी को आपके सामने कुछ ही क्षणों में पराजित होना पड़ता था। कारण कि यह गुण आपको पैतृक संपत्ति के रूप में आप की गुरुणी स्वर्गीय पंडिता सती श्री पन्ना देवी जी म० से मिला था। आप सती जी की योग्य शिष्याओं मे से एक थीं। संयम में आपने अपना जीवन ६६ वर्ष तक व्यतीत कर इहलौकिक लीला पूर्ण की थी। आपका विचरण विशेष-तया पंजाब में ही होता था। आप बड़ी ही शान्तमूर्ति थीं। जो शांति आपके मुखमण्डल से स्पष्टत झलकती थी। आपकी वाणी में मिठास था जो मानव आपके मुख से एक शब्द भी श्रवण कर लेता वही मानव फिर दोबारा आपका उपदेश हरदम सुनने को उत्सुक रहता था।

आज का समाज उन का सती-समाज से विलग रहना बड़ा ही अपूर्णता का कटु अनुभव कर रहा है, जो हमारे हृदय को विदग्ध कर रहा है। अन्त मे शासन देव मे यही प्रार्थना है कि मृत्युप्राप्त

# शान्ति की सरिते !

(लेखक—पण्डित श्री मन्ना [illegible] मुनि जी म० 'कुमुद')

चन्दे ! कोई कहता है कि तू थी एक 'विदुषी'
किसी के मुख से सुनता हूँ कि तू थी एक 'पण्डिता'
समाज मानता है तुझे 'संयम की प्रतिमा'
ठीक है, तू सब कुछ थी किन्तु मेरे नयनों ने जब निहारा तुझे
तो मेरा मन बोल उठा झट हो, कि यह तो है 'शान्ति की सरिता'
तू ने अपनी एकान्त साधना से पाई 'शान्ति की अनुपम लक्ष्मी'
तेरे मुख से झरते थे 'शान्ति के प्रसून'
तू ने वसुधा पर प्रवाहित की 'शान्ति की मन्दाकिनी'
तेरा हृदय था, शान्ति का पुनीत-मन्दिर
तेरे नयन थे, शान्ति के दो पुण्डरीक
तेरा मस्तिष्क था 'शान्ति के समुज्ज्वल विचारों का एक पुञ्ज'
तेरी अंगुलियों ने किए, शान्ति के अमर संकेत
तेरे दर्शन में बरसती थी, शान्ति की सुधा धारा
तेरा समस्त जीवन था, 'शान्ति का एक निर्झर'
तू बरसी धरातल पर बन कर, 'शान्ति का वारिवाह'
हा ! जब तू चली त्याग कर निर्जीव देह
तो वह भी थी शान्ति का मूक पुतला
हा ! धधकती चिता से उठी भस्मकारी ज्वाला,
किन्तु तू पड़ी रही 'शान्त' उस की गोद में
तेरे शरीर का कण कण विश्व के कण कण से
अब एकाकार है 'चन्दे' !

तेरी भस्म की राशि है 'शान्ति की राशि'
तेरी चिता अब है, 'शान्ति का क्रीडास्थान'
तेरी समाधि है, 'शान्ति का प्रतीक'
तू चली गई शान्ति के 'अमर लोक' मे
और हम खडे है अभी तक 'अशान्त'
पर शान्ति की आशा मे ।

# दिव्यात्मा के प्रति

(लेखिका—बालब्रह्मचारिणी आर्या श्री लज्जावती जी महाराज)

परम श्रद्धेय गुरुणी जी ! आप श्री के पवित्र चरणो मे अपनी श्रद्धा के पुष्प किस पद्धति से अर्पित करू ? यह मेरे लिए एक गभीर समस्या है। आप के सम्बन्ध मे कुछ कहना निर्बल भुजाओ से समुद्र को पार करना है। पर हृदय कहता है असमर्थता के भय से मौन हो बैठ जाना ठीक नही। क्या बालक लडखड़ाती टागो से अपनी माता के पास जाने का प्रयास नहीं करता ? बच्चे का लडखड़ा कर पास मे आने का प्रयत्न क्या माता के आनन्द का कारण नहीं होता ? फिर उत्साह-हीन क्यो होऊ। बस इसी अन्त प्रेरणा से श्रद्धेय गुरुणी जी ! कुछ कहने का साहस करने लगी हू।

स्वनामधन्या गुरुणी ! साध्वी धर्म का, परिपालन करने मे आप जहा सतर्क थीं वहा आप साध्वियो के नेतृत्व करने मे भी सिद्धहस्त थीं। आप श्री की छत्रछाया तले सयम की सर्वतोमुखी वृद्धि पा कर अनेकानेक द्विपद जन्तु मानवता के पथ के पथिक बने है। आप जन-मानस को चन्द्र की भाति सौम्यता का मधुर एव सरस सन्देश देने आई थीं।

बहुश्रुत गुरुणी जी ! मे आप के शास्त्रीय ज्ञान का किस मुह से वर्णन करू ? शास्त्रो के मर्म को आप ने खूब पहचाना था। अनेको विकट समस्याए आप श्री के ज्ञानशासन मे समाधान पाया करतीथीं।

स्थान एवं समाधान पाते थे।

राष्ट्र की पुण्य विभूति गुरुणी जी! आप एक सम्प्रदाय की अग्रगण्य महासती होते हुए भी विचारसंकीर्णता से कोसों दूर थीं, जैन अजैन सभी का कल्याण आप का ध्येय था। आप श्री ने जनकल्याण के लिए अनेकानेक प्रयत्न किए। बम्बई से ले कर रावलपिण्डी तक के प्रान्तों को आप श्री ने अपने आचार विचार तथा भाषणों से सत्पथ दिखाया। लक्ष्यपूर्ति के लिए यथासंभव प्रयास किया। बाधाओं का हृदय से स्वागत किया। प्रतिकूल परिस्थितियों में भी इष्टसिद्धि के लिए सैनिक की भांति अग्रसर होना आप श्री का ही काम था। यदि आप को राष्ट्र की पुण्य विभूति कहूं तो उचित ही प्रतीत होता है।

अमर गुरुणी जी! यह ठीक है कि आज हमें अपने दुर्भाग्य से आप श्री के पार्थिव शरीर के दर्शन नहीं हो रहे। परन्तु इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता कि आप के गुणों का प्रकाश संसार में अमर रहेगा। और युग युगान्तर में भी पथभ्रष्ट पथिकों को सत्पथ दिखाता रहेगा।

महामहिम गुरुणी जी! आप श्री के गुणों का वर्णन कहां तक किया जाए? मेरी लेखनी में इतना सामर्थ्य कहां? जो आप श्री के गुणों का पार पा सके। भला कहीं समुद्र के जलकणों की गणना की जा सकती है? हृदयस्थ श्रद्धाकणों को मेरी चर्मजिह्वा जब प्रकट करने में ही असमर्थ है तब उन की गणना कैसे हो। आप आप ही थीं। अन्त में आप श्री के पावन चरणों में अपने श्रद्धा के पुष्पों को अर्पण करती हुई मैं यह मंगल कामना करती हूं कि आप का मंगलमय वरद हस्त सदा मेरे ऊपर बना रहे, जिस से मैं आपश्री के पदचिन्हों पर चल कर अपने जीवन को सफल बनाती हुई समाज तथा राष्ट्र के उत्थान में अधिकाधिक पुण्यमय प्रयास कर सकूं।

[illegible]

हे विश्ववन्द्या देवी !

जिस प्रकार मेघ ऊंच नीच का भेद भाव त्याग कर प्रत्येक स्थान पर अपना विशुद्ध जल बरसाता है उसी प्रकार आपने अमीर-गरीब, ऊंच-नीच, पात्र-अपात्र, दु खी-सुखी, धनी-निर्धन, तथा राजा, भिखारी सब ही को ज्ञानामृत पिलाकर कृतार्थ किया। आपके क्रान्तिकारी भ्रमणों से प्रत्येक आबाल वृद्ध के हृदय पर वो अमिट छाप पडी है कि आज भी आपकी यशोकीर्ति गुजरात, मारवाड, मालवा, यू पी, सी पी तथा पंचनद प्रदेश के कोने कोने मे व्याप्त है। आपके दर्शन करने के पश्चात् प्राणी का हृदय आनन्दातिरेक से इस प्रकार गद्गद् हो जाता था जिस प्रकार पूर्णिमा के चन्द्र को देख कर सागर मे ज्वार आजाता है।

आपकी वाणी जिज्ञासुओ की पिपासा शांत करने लिए शीतल जल का काम देती थी। श्रोताओ से यदि प्रश्न किया जाता कि आप को प्रचण्ड ग्रीष्म की दुपहरी मे शीतल पेय की इच्छा होती है, या साध्वी जी के ज्ञानामृत परिपूर्ण भाषण श्रवण की उत्कठा ? प्रत्युत्तर मिलता कि जो आनन्द महासती जी के सारगर्भित प्रवचनों से प्राप्त है, वह अकथनीय आनन्द शीतल पेय पदार्थों मे कहा ?

आपने अल्पायु मे ही दीक्षित होकर ससार को बतलादिया कि यह ससार एक महा भयावह विकट अटवी है, जिसमे चतुर्गति रूप चार मार्ग हैं, प्राणी एक पथिक की भाति इस मे विचरण कर रहा है किन्तु काम, क्रोध, लोभ, मोह अहंकार रूप दस्यु उसे पथभ्रष्ट कर रहे है, पग २ पर काटो के जाल बिछे हुए है, सम्हल २ कर चलोगे तो इस दुस्तर मार्ग को शीघ्र ही पार कर कर जाओगे।' इस प्रकार आपने देश के कोने कोने मे अहिंसा, तप, सयम रूप धर्म का प्रचार करके विश्व की समस्त शक्तियो को अपने आगे नतमस्तक कर लिया।

हे विश्वज्योति !

निस्सन्देह ही, आप जगज्जननी माता हर्ष की अजिर मे एक महान् ज्योति रूप ही अवतरित हुई थीं, और मातृहृदय आपके उस अलौकिक आलोक को देख कर अपार प्रसन्नता का अनुभव करने लगा। समय पाकर वही पुञ्जीभूत दिव्यप्रकाश माता की गोदी मे ही

न देखी गई, और अकस्मात् ही जैन समाज के गगन पर गहन तमिस्रा छा गई और चमकता हुआ चांद क्षितिज के उस पार अपना प्रकाश फैलाने चला गया। सच है-जिस की यहा आवश्यकता होती है, उस की आवश्यकता वहा भी होती है, मृत्यु भी उस का सहर्ष स्वागत करती है, और जिस व्यक्ति की यहा कोई चाह नहीं, जो पृथ्वी पर भारभूत ही है, जिस के द्वारा किसी का कोई हित साधन नहीं होता, उस से तो मृत्यु भी दूर जाती है और उस की दूसरे लोक मे कोई पूछ भी नही होती। समाज को अभी आप की बहुत आवश्यकता थी किन्तु काल की कुटिल गति किसी से छुपी नहीं है।

हा तो, उस चन्द्र के अदृश्य हो जाने पर समाज रूपी गगन का जो स्थान रिक्त हुआ है, उस स्थान की पूर्ति तो युग युगान्तरों मे भी असभव है, निस्सन्देह, आज आप अपनी पार्थिव देह द्वारा हमार बीच नहीं है और हमे अपनी पुनीत सेवा से सदा के लिए वंचित कर हमारी आखो से अदृश्य हो गए हैं किन्तु आपकी यशो-सुरभि चहुं ओर प्रसारित है और जब तक नभ के विशाल वक्षस्थल पर चन्द्र सूर्य स्थित रहेगे, तब तक आपकी यशोगाथा अमर रहेगी

इस प्रकार हे मेरी अंतर्ज्योति, मेरे हृदय-मन्दिर की अधीश्वरी। शत शत जिह्वाए भी आप के गुणवर्णन मे असमर्थ है। अन्त मे मै आप के पावन पादाम्बुजो मे अपने श्रद्धासुमनों को भेंट करती हुई यह प्रार्थना करती हूँ कि हे दिव्य ज्योति। आप मुझे ऐसा बल प्रदान करे, जिस के द्वारा मै भी आप के पथ का अनुसरण करती हुई अपनी आत्मा का उत्थान कर सकूं।

हृदय से उठ कर सघन घटा नयनों मे बस छा जाती है।
फिर गम की हवाएं लगते ही फौरन जलकण बरसाती है ॥१३॥
तेरे पदपंकज मे 'सीता' श्रद्धा के पुष्प ये लाई है।
अजलि मे ले के आज उन्हें तेरे चरणों मे आई है ॥१४॥

# विश्वविभूति

(लेखिका—बालब्रह्मचारिणी आर्या श्री सावित्री देवी जी म०)

यद्यपि सूर्य की प्रखर किरणो के सन्मुख दीपक जलाना अपनी मूर्खता दिखाना है। तथापि मकान के जिस भाग में सूर्य की किरणें नहीं पहुँच पातीं वहा दीपक से ही काम चलाया जा सकता है। ठीक इसी प्रकार आप स्वय अपने सद्गुणों के प्रकाश से हिन्दोस्तान भर मे प्रकाशित है परन्तु फिर भी आने वाली पीढ़ियो को आप के जीवन परिचय के लिए प्रस्तुत पुस्तक दीपक का काम करेगी।

नि सन्देह विद्वज्जनों ने आप के विषय में अपने सुन्दर विचार प्रकट किए हैं, मेरे हृदय मे भी उमग पदा हुई कि आप के विषय में मैं भी अपने टूटे फूटे दो शब्द लिख डालू, जो कि निम्नलिखित हैं—

सतीशिरोमणि! सचमुच ही आप सतियो में शिरोमणि थीं आप का जीवनसमाज का जीवन था, आप समाज की अपूर्व निधि थीं। जैन समाज आप के उपकारों का ऋणी। है धर्म के नाते आप समाज की सर्वस्व थीं। विद्यावृद्धा! मै आप की विद्या की किस मुह से प्रशसा करू'? आप विद्वत्ता की साक्षात् प्रतिमा थीं, मानों सरस्वती आप पर मुग्ध थी। परिणामत आप को विद्याक्षेत्र मे पूर्ण सफलता प्राप्त हुई।

दु खविनाशिका तथा सुखप्रसारिका! आप को यदि कल्पवृक्ष की उपमा दी जाए तो अत्युक्ति नहीं होगी, व्यथित प्राणियों की व्यथा ने आप का हृदय द्रवीभूत हो उठता था। दु खी व्यक्तियों को देख कर

मे आप की शारीरिक आकृति के दर्शन असंभव हैं परन्तु आप के गुणों का प्रकाश संसार में सदैव अमिट रहेगा। अत आप स्वर्गीया होने पर भी अमर हैं। अन्त मे यही हार्दिक कामना है कि आप के चरण-कमलो मे मेरी अटूट श्रद्धा बनी रहे और मैं भी आप के चरणचिन्हों पर चल कर अपने जीवन को कृतार्थ कर सकूं।

# श्रद्धांजलि

(लेखक—श्री रला राम जैन, बी. ए, पी. सी. एस. रिटायर्ड भूतपूर्व सेशन जज, रियासत चम्बा)

मैं पसरूर मे जून सन् १६१० से फरवरी सन १६१३ तक मुंसिफ था। आज कल मुंसिफ को सबजज कहते हैं। पसरूर जिला स्यालकोट मे एक प्रसिद्ध नगर है। १६१० में स्थानकवासी जैनियों के वहां लगभग ८० घर थे। मेरी मौजूदगी मे सती श्री चन्दा जी म०का चातुर्मास बड़ी धूमधाम से हुआ था। उस समय पहली बार मुझे उन के दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। लाला बसन्त लाल अग्रवाल पसरूर मे तहसीलदार थे। वे भी मेरे साथ समय समय पर सती जी के दर्शनों के लिये जाते थे और धर्म के विषय मे बातचीत कर के सदुपदेश का लाभ प्राप्त किया करते थे। पसरूर के चातुर्मास के पश्चात् मैं अवसर मिलने पर सन १६४२ तक उन के दर्शन करता रहा। स्वर्गीय सती जी को जैन सूत्रों के अतिरिक्त भगवद्गीता आदि संस्कृत ग्रन्थों का यथार्थ ज्ञान था। उन्होने संयम को अति उत्तम रीति से निभाया। वे एक बाल-ब्रह्मचारिणी आदर्श सती थीं। और स्थानकवासी जैन समाज उन के उपकार को कभी नहीं भूल सकती। मुझ को पूर्ण आशा है कि उनकी शिष्या सती महाराजगण उन के उपदेश का आचरण करती हुई जैन समाज के नाम को उज्ज्वल करेंगी। इन शब्दो के साथ मैं अपनी श्रद्धाञ्जलि स्वर्गीय सती जी को अर्पित करता हूँ।

# पवित्र स्मृति

(लेखक—श्री किशोरीलाल जैन बी. ए. आनर्ज, एलएल बी एडवोकेट, प्रधान ऐस ऐस. जैन सभा फरीदकोट, पैप्सू)

पूजनीय श्री चन्दा ! तू जैन धर्म के आकाश का एक चमकता चान्द थी और तेरी सफेद, शीतल तथा भीनी-भीनी चान्दनी से संसारी प्राणियों के हृदयों में रोशनी, ठण्डक और शान्ति पहुचती थी। हमारी दुनिया से तेरे ओझल हो जाने से हमारी चमकती दुनिया अन्धयारी हो रही है। हमारा पथप्रदर्शन करने वाली दिव्य ज्योति हम से छिन जाने के कारण हम अपने मार्ग से भटक रहे है। तेरी चान्दनी की रोशनी, ठण्डक तथा शान्ति हम को रह-रह कर याद आ रही है। तुझे हजार बार नमस्कार।

ऐ सरस्वती देवी ! तू विद्या तथा अन्य गुणों का भण्डार थी। त्याग और सयम की एक बेनजीर मूरत थी। प्राकृत, पाली, मागधी, सस्कृत, हिन्दी, उर्दू, नेपाली तथा अंग्रेजी भाषाओं में पारंगत थी। जैनागम, वेद, गीता, उपनिषद्, षटशास्त्र, महाभारत, रामायण, कुरान, गुरुग्रन्थसाहित्र तथा दूसरे धर्मों की पुस्तके और उन के नियमो से पूर्णरूप से परिचित थी। तेरी रहस्यमयी, मनोहर तथा मीठी रसभरी वाणी आज भी कानों मे गूज रही है। तुझे हजार बार नमस्कार।

स्त्रीसमाजशिरोमणि ! तू स्त्रीजाति का गौरव थी। स्त्रीसमाज का शृंगार थी। तू ने स्त्रीसमाज से जहालत, मिथ्यात्त्व और वहम का अन्धकार दूर किया और अपने मनोहर तथा प्रभावशाली उपदेशो द्वारा प्राणियों की सकीर्णता को विशालता मे परिवर्तित कर दिया। साथ ही युगों से पिछडी स्त्री जाति को आगे बढने की प्रेरणा देकर, इस के भीतर साहस तथा जीवन पैदा किया। जैन समाज मे स्त्री-शिक्षा का प्रचार आप के उपदेशों तथा प्रेरणाओं का परिणाम है। कई एक स्थानों पर कन्या पाठशालाये खोल कर स्त्री समाज को धर्म

का बोध दिया और उन के भीतर सादगी तथा शुद्ध चरित्र के अमूल्य गुण उत्पन्न किये। स्त्रियों को शिक्षित कर के उन के दिलों से मिथ्यात्व तथा बुरी रस्मों को दूर कर, समाज को धार्मिक तथा सामाजिक रीति से उन्नत किया। तुझे हजार बार नमस्कार।

ऐ शान्ति और धीरज की मूर्ति! बता! अब संसारी वासनाओं से लिप्त हृदय कहां से अपनी जलन दूर करे। संसारी झंझटों और उलझनों में फसी हुई आत्मायें अपने निर्वाण तथा मुक्ति के लिये किसकी ओर देखें? तू शान्ति की भण्डार थी। तेरी दिव्य मूर्ति के दर्शन पा कर मन में शान्ति और धैर्य पैदा होता था। तेरी ज्ञान भरी मधुर वाणी सुन कर कान और हृदय आनन्द अनुभव करते थे। तेरे शब्दों में एक अद्भुत बल था, जो श्रोताओं को उन पर आचरण कर देने पर विवश कर देता था। शोक! महा-शोक!! आज वह शान्ति और आनन्द का स्रोत हम से छिन गया। हम कितने अभागे हैं। ऐ शान्ति की देवी! तुझे हजार बार नमस्कार!

जैन जनता, तेरी प्रेरणा भरी वाणी को, तेरी पथ-प्रदर्शक टार्च को, सोते हुओं को जगाने वाले तेरे झटकों को और गिरते हुओं को उठाने वाले तेरे उभारों को ढूण्ड रही है और उन्हें न पा कर मायूस हो रही है। तेरी शिक्षा की देन को स्त्रीसमाज, जब तक सूर्य और चान्द विद्यमान रहेंगे, न भूलेगी। जैन समाज तेरे अहसानों के नीचे दब रही है और तेरे उपकार और सुधार को स्मरण कर कह रही है—तुझे हजार बार नमस्कार!

ऐ प्रकाशमान आत्मा! तू अपने ज्ञान की प्रकाशमान किरणें विश्व में फैला कर, हमारे हृदयों को प्रकाशित करती रह। ऐ मधुर तथा सुभाषिनी ध्वनि! तू फिर वायुमण्डल में वही विश्व प्रेम और शान्ति का गीत गाती रह, जिस से संसार आनन्द और मस्ती से झूमता रहे।

ऐ पवित्र और शान्त आत्मा! तू अपनी शान्तमयी प्रेरणाओं से तप्त हृदयों की तपश बुझाती रह। यही मेरी अभिलाषा है! तुझे हज़ार बार नमस्कार!

दिवंगत आत्मा, महासती श्री चन्दा जी महाराज के चरणकमलों में—

# विनीत श्रद्धाञ्जलि

(लेखक—श्री पद्म चन्द जैन 'अनन्त' देहली)

संसार महान है। जो ज्ञान ध्यान, तप साधना में लीन रह कर प्रभुप्रेम और धर्म-राग में लीन रह कर, अनुपम भक्ति और प्राणी सेवा में अपना तन, मन और जीवन अर्पण कर संसार में विचरण करते हैं, वस्तुत. संसार उन के लिये महान है। समस्त विश्व उन के ज्ञान चक्षुओं की ज्योति से आलोकित रहता है। जन जन में उन के प्रति अटूट विश्वास हिलोरें मारता है। वह उन के दर्शनों की प्यास सदैव अपने में विद्यमान पाता है। चाहता है क्यों न अपलक नेत्रों से सदा उस महान् छवि के दर्शन करता ही रहे। अपना शरीर, अपने नेत्र पवित्र करता ही रहे।

यह भारत वसुन्धरा, ऋषभ और महावीर की वसुन्धरा है, जिस ने ज्ञानालोक से व्यक्ति को नहीं, जाति और देश को नहीं, विश्व को नहीं बल्कि तीनों लोक प्रकाशित किये, जिन की ज्ञान-रश्मि आज भी हमारा पथ-प्रदर्शित कर रही है और करती रहेगी। संसार ने इस ज्योति से अपनी अन्तरात्मा को जाग्रत किया। अपने में एक नवीन रस, नई चेतना, नया प्रस्फुटन और नया ज्ञान अंकुरित पाया। उस के सहारे उस ने अपनी आत्मा को मानव शरीर का सहारा दे कर ऊंचा उठाया और त्याग वैराग्य की भावना में रमण कर के अपना व्यक्तित्व विकसित किया एवं जन जन को दीपक बनने का संदेश दिया।

उसी दीपक की लौ ने एक साध्वी में ज्ञान-लौ प्रज्वलित की। सती ने उस लौ को सदा जाग्रत रखा। नियम, व्रत, साधना, तप, वैराग्य और जनहित का साधनारूपी तेल निरन्तर डाला और निकट आने वाली मुमुक्षु आत्मा में भी ज्ञान की प्रेममयी एक चिनगारी फूंक दी। और उस ने अपनी आत्मा का विकास किया।

सती जी की महिमा मेरे वश से बाहर है। वह आत्मा महान थी उस की महानता ही जन जन के लिये एक आदर्श है।

एक चन्दा था जो ज्ञानालोक से अवनी-आलोकित कर चला गया।
एक दीपक था जो ज्ञान-रश्मि से मानस चमका कर चला गया॥
एक पंडित था, जिस के प्रभाव में रहता था साधुसमाज।
एक जीवन था, संयम था जिस में, था विवेक अरु धर्म राग॥
सच्चरित्र, विद्वान, साध्वी, शान्त, धैर्य अरु शीलवान।
तिमिरान्तक था, वर्धमान का अनुयायी था, सत्यप्रचारक चला गया॥
एक चन्दा था ... ...

युग युग तक जन जन याद करेगा गाथा तेरी।
सुन्दर वाणी, सरस, सुरीली, ममता मेरी॥
जीवन है क्षणभंगुर समझा, सत्यशील अरु—
प्यार बढा कर चला गया
एक चन्दा था जो ज्ञानालोक से अवनि अलोकित कर चला गया।

अन्त मे उस महान् आत्मा की चिरशान्ति की कामना करते हुये मूक श्रद्धा के पुष्प अर्पित करता हूँ।
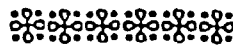
# श्रद्धेया गुरुणी जी

(लेखक—श्री कुञ्जलाल ओसवाल सदरबाजार देहली)

गुणिगणगणनारम्भे न पतति कठिनी ससम्भ्रमात्यस्य
तेनाम्बा यदि सुतिनी वद वन्ध्या कीदृशी भवति॥

प्रात स्मरणीया, सौम्यमूर्ति, धर्मधुरीणा महासती चन्दा देवी जी म० के आदर्श व्यक्तित्व से कौन अपरिचित है? राजपूत कुलावतंस उस वीराङ्गना ने जीवन के प्रभात मे जैनदीक्षा ग्रहण कर जीवन के अस्त तक उसे राजपूती आन से ही निभाया। संयमरूप कठोर असिधारा पर अडिग और अविचल भाव से स्थिर रह कर भारत में वर ० वीर प्रभु के सन्देश का अलख जगाया जगत के जरा, जन्म, मरण, आधिव्याधि से सन्तप्त प्राणियों को जिनवाणी का अमृत पान करा के

धन्य कर दिया। राजा-रङ्क जो भी उन के सम्पर्क में आया उन के आदर्श विचार और अलौकिक प्रतिभा से प्रभावित हुए बिना न रह सका।

महासती चन्दा देवी जी अपने भगीरथ प्रयत्न, अनथक उत्साह से धार्मिक प्रचार और प्रभावना का जो ज्वलन्त उदाहरण उपस्थित कर गई है। आगे आने वाली पीढ़िया उसे जीवनपथ और प्रकाशस्तम्भ के रूप में सदा स्मरण करती रहेगी। ऐसी ही महान विभूतिया किसी देश, जाति या समाज का स्थायी सम्बल, निधि और इतिहास होती हैं।

इस परिवर्तनशील संसार से "जातस्य हि ध्रुवं मृत्युः, ध्रुव जन्म मृतस्य च" के नाते जाना सभी को है। परन्तु जो अपने दिव्य कर्मों से विश्व का कल्याण करते हैं, वे भौतिक शरीर से न रहने पर भी अमर हो जाते हैं। महासती चन्दा देवी जी भी उन्हीं में से थीं—

"कर्तव्य करके वीर जो बलिहार हुए हैं,
अपनी जाति के लिये वेही शृंगार हुए हैं।
मेट अधर्म, धर्म की रक्षा जिन्होंने की,
सच पूछिये तो बस वे ही अवतार हुए हैं ॥"
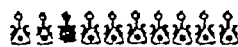
# श्रद्धाञ्जलि

(लेखक—श्री काशीराम जी चावला, पैन्शनर, सुपरइन्टैन्डैण्ट डी सी आफिस लुधियाना)

मेरा यह सौभाग्य है कि मुझे स्वर्गीय महासती श्री चन्दा जी महाराज की पावन जीवन कथा के उपदेशभाग की रचना में सेवा करने का अवसर प्राप्त हुआ। महासती जी जैन समाज में इस युग की एक अपूर्व प्रतिभाशालिनी, अनुपम तेजस्विनी, अद्वितीय विचारका, अद्‌भुत विवेकिका तथा असाधारण वाग्मी साध्वी थीं। उन की आत्मा

ने वह आन्तरिक प्रकाश प्राप्त कर लिया था जिस के प्राप्त कर लेने पर एक सन्त की समस्त शक्तियां अमृत प्रवाह करने लगती है।

पूज्य महासती जी का व्यक्तित्व, सयम और उपदेश किस प्रकार उन के परिचय मे आने वालो को प्रभावित करता था, यह वात तो ठीक रूप से वही समझ सकता है जो उनके परिचय मे आया हो। दैनिक जीवन मे आचरण करने योग्य अहिंसा के उच्चतम सिद्धान्त पर आपकी भावमयी वाग्धारा तथा मानव जीवन को सफल वनाने वाले आपके प्रेरक शब्द तत्काल असर करते थे। चारों ओर एक आध्यात्मिक वातावरण वन जाता था जिस से श्रोताओ का आत्मा भाननीय प्रलोभनों की तुच्छता समझ कर ऊंचा उठ जाता था।

सती श्री जी के प्रकाण्ड पाण्डित्य का परिचय इस वात से मिलता है कि आप जैनागमो तथा सस्कृतसाहित्य मे पारङ्ग होने के अतिरिक्त फारसी, अरवी, अंग्रेजी इत्यादि भाषाओ के उपयोगी प्रमाणों का प्रयोग अपने बहुमूल्य भाषणों मे करके अपने प्रवचनों की सुन्दरता तथा लाभमयता को अधिकतम वना देती थीं। आप नैतिक तथा धार्मिक उपदेशो मे सभी धर्मो का साराश तथा निचोड़ निकाल कर रख देती थी। आप के भाषण की शैली तथा शक्ति आश्चर्यजनक थी।

पूज्य श्री चन्दा जी अहिंसा और सत्य की महान् प्रचारिका, श्रमण सस्कृति का जाज्वल्यमान रत्न, धर्म और कर्म मार्ग का अप्रतिम प्रकाशिका तथा मोक्षमार्ग की अद्वितीय प्रसाधिका और जैन धर्म की प्रवल व्याख्यात्री थीं। आप केवल जैन समाज के लिये ही नहीं, प्रत्युत मनुष्यमात्र के लिये आदर्श स्वरूप एव पथप्रदर्शिका थीं। इसलिये उनके स्वर्गारोहण से न केवल जैन समाज की अपितु समस्त मनुष्य समाज की महान हानि हुई है।

यह वात देख कर कतिपय सन्तोष होता है कि पूज्य महासती श्री लज्जावती जी म० व श्री सौभाग्यवती जी म० भी उन के चरणचिन्हो पर चल कर जनधर्म का नाम प्रदीपित करने मे यत्नशील हो रही है। मैं स्वर्गीय महासती के प्रति अपनी यह भक्ति भावना युक्त श्रद्धाञ्जलि भेट करता हुआ अपने आप को भाग्यशाली मानता हूँ।

# भव्य ज्योति

(लेखक-प्रैजीडैण्ट-श्री स्थानकवासी जैन वर्धमान श्रावकसंघ लुधियाना)

इस असार संसार में प्रतिदिन लाखों मनुष्य जन्म लेते और मरते हैं परन्तु उन्हीं व्यक्तियों का जीवन सफल है जिन्होंने अपना जीवन प्राणी मात्र के उद्धार के लिये अर्पण किया। महासती श्री श्री श्री १००८ प्रात स्मरणीया श्री सती चन्दा जी महाराज का जीवन एक उच्च कोटि का आदर्श जीवन था। आप ने छोटी सी अवस्था में ही तप और सच्चे त्याग का भली-भांति परिचय दिया और आप श्री ने भगवान् महावीर के बतलाये हुए संयम मार्ग पर चल कर यह सिद्ध कर दिया कि एक अबला भी ऊंचे से ऊंचा त्याग कर सकती है। आपके ज्ञान और विद्वत्ता का डंका चारों ओर बजता था। जो कोई भी विद्वान् तथा शंका समाधान करने वाला व्यक्ति आपके सन्मुख आता और अपना समाधान करना चाहता, आप बड़े प्रेम से उस को अपनी अमृत रूपी वाणी से ऐसा मोहित कर देती थीं कि आने वाला व्यक्ति गद्‌गद् हो जाता था। आपका स्वभाव बड़ा ही शीतल था आपका नाम भी श्री चन्दा जी था और आपका स्वभाव भी चन्द्रमा के समान शीतल था, आपके दर्शन करने से आंखें पवित्र होती थीं और मन को शान्ति मिलती थी। आपका जीवन एक उच्च और आदर्श जीवन था आपने जीवन भर कठिन से कठिन तपस्या की और प्राणी मात्र का कल्याण करने के लिये ऊंचे से ऊंचा ज्ञान प्राप्त किया और अपने तप और ज्ञान के प्रभाव से संसार के प्राणियों के जीवन का उद्धार किया। आप जैसी महान् विभूति पर सदा ही समाज को गौरव और अभिमान रहेगा। आप जैसी ही पवित्र आत्माओं ने जैन समाज का सिर संसार में ऊंचा किया है। आप ने अपनी आत्मा का तो कल्याण किया ही, परन्तु इस जगत के दुःखी जीवों के मन को भी शान्त किया और भूले भटके मानव को मुक्ति पाने का सीधा और सहज मार्ग दिखला दिया।

यदि हम आपके जीवन से कुछ ग्रहण कर सकें और आप शिक्षाओं को अपने हृदय में धारण कर सकें और आपके जीवन आदर्श रूप मे सामने रख सके तो हमारी आत्मा का भी कल्याण जीवन का उद्धार हो सकता है। आपने अपने युग मे ऐसे ऐसे मह कार्य किये है जो कि सूर्य की तरह प्रकाशमान हैं। जैसा कि सरसा वकीलों को जैनधर्म से प्रभावित करना आपका ही कार्य था। जमना पा का हर प्राणी आज भी आपके उपदेशों की सराहना कर रहा है। आपके जीवन की घटनाओ पर कुछ न कहते हुए जैन बिरादरी लुधियाना की ओर से हार्दिक श्रद्धाजलि अर्पण करता हूँ। हे महासती! आपका जीवन हमारे लिये सदा ही पथ-प्रदर्शक बना रहे, आप धन्य हो।
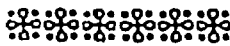
# पवित्र आत्मा

(लेखक—लाला पन्नालाल जैन कसूरी, मन्त्री—ऐस ऐस जैन धर्मशाला, लुधियाना)

जीवनचरित भी साहित्य का एक रूप ही है, इस से चरित-नायक के व्यक्तित्व का परिचय मिलता है और उसके विचारों तथा भावों का दिग्दर्शन ही उसके व्यक्तित्व का परिचय है, इसी लिये जीवनचरित को साहित्य मे एक ऊचा स्थान दिया गया है, मनुष्य के गुण यथार्थरूप मे जीवनचरित से ही जाने जाते है। चरित नायक के जीवन की घटनाये तथा उन के अनुभवों से हम बहुत कुछ लाभ उठा पाते हैं और अपने जीवन की उलझी हुई समस्याओं को सुलझाने और अपने कर्तव्य को पालन करने और विकट से विकट सकटों को हल करने के उपाय सहज ही मे हमे महापुरुषो के जीवन से मिल जाते है। महापुरुषों का जीवनचरित पढने से भली-भाति हम बहुत से कुकर्मों को त्याग कर सतमार्ग के पथ पर चलकर अपने जीवन का कल्याण कर सकते हैं।

महासती श्री श्री श्री १००८ श्री सती चन्दा जी महाराज का जीवन भी एक पवित्र तप, त्यागमयी और आदर्श जीवन था। महासती जी के दर्शन मात्र से चित्त आनन्दित और हृदय प्रफुल्लित हो जाता था और उनकी पवित्र अमृत वाणी सुन कर मन को शान्ति तथा धैर्य की प्राप्ति हो जाती थी। महासती जी ने अपने जीवन मे अपना तो उद्धार किया ही था अपितु लाखों पाप आत्माओं को प्रेमपूर्वक सदुपदेश देकर पवित्र और निर्मल आत्मा बना दिया था और लाखों भूले भटके हुए प्राणियों को सीधा रास्ता दिखला कर उनके मन के अधकार को दूर किया था। आपने देश-देशान्तर मे भ्रमण करके अपने त्याग मयी जीवन की एक ऐसी छाप लगा दी थी कि जो आप जैसी आत्मा का ही काम था, आपने इस बात का परिचय देकर यह सिद्ध कर दिया कि स्त्रीजाति भी कठिन से कठिन तपस्या, बडे से बड़ा त्याग करने मे और ज्ञानरूपी प्रकाश से जगत के अज्ञान अधकार को मिटाने में किसी तरह भी पुरुषो से कम नहीं। जैसा आपका नाम था उस से भी बढ़कर आपका काम था। चान्द मे तो कुछ काले धब्बे होते हैं परन्तु आपका जीवन तो सर्वथा उज्ज्वल और निर्मल था। आप के जीवन में अनेको ऐसी घटनाये है कि जिन से आपके जीवन की उच्चता तथा महानता का परिचय भली भान्ति मिलता है। आप मे शान्ति तथा सहनशीलता कितनी थी ? इसका परिचय आपके अन्तिम समय से अच्छी तरह मिलता है। आपके अन्तिम समय मे मुझे आपके चरणों मे उपस्थित होने का अवसर मिला। उस समय आपके शरीर को बहुत वेदना थी, जिसको देखकर हम पास बैठने वालो का हृदय कापता था। परन्तु आपके मुख पर ऐसी शान्ति और गम्भीरता थी और ऐसा प्रतीत होता था कि मानो आपको कोई भी पीड़ा या दुःख नहीं, जिसे अवलोकन करके बेअख्तियार मुह से यह शब्द निकले थे—हे महासती आप धन्य हो और आपका जीवन धन्य है।

हे परमश्रद्धेय! आपके जीवन पर कुछ लिखना तथा परिचय कराना मेरे जैसे तुच्छ बुद्धि के व्यक्ति का काम नहीं। मेरी इतनी शक्ति कहां कि आपके तप, त्याग और सयममयी जीवन के गुण रूपी अथाह

सागर को एक गागर मे बन्द कर सकू ।

हे प्रात स्मरणीय महाविभूति ! यह कुछ शब्द आप श्री जी के चरणकमलों में श्रद्धाजलिरूप मे अर्पण करने का साहस किया है, आपका नाम सदा अमर रहे । यदि आपके वचनामृत और आपकी शिक्षाओं को अपने हृदय मे धारण करके अपनी आत्मा का कल्याण करने का प्रयत्न कर सकू' और अपने मन को शुद्ध बना कर अपना जीवन सफल बना सकू' तो अपने आप को बड़ा ही भाग्यशाली समझू गा ।

महासती के चरणकमलों में श्रद्धांजलि अर्पण करता हूं । प्रेमभक्ति के शब्द रूप यह पुष्प भेट में धरता हूँ—

यही भावना लेकर चित्त में लिखे शब्द मैने ये चन्द !<br>
गुणरूपी सागर के जल को कैसे करू' मै गागर बन्द ॥

# श्रद्धा दे फुल्ल

(लेखक—डाक्टर खुशदिल कमालवी, मीना बाजार, लुधियाना)

ऐसा कोई विरला है संसार अन्दर,<br>
जिस दी दिलां अन्दर यादगार रह जाये,<br>
सूरत जिहदी तसव्वर दे विच चमके,<br>
सीरत जिहदी बन इक प्यार रह जाये,

हो जाये खतम डरामे दा सीन भावे,<br>
अक्खां विच बैठा अदाकार रह जाये,<br>
खुशनसीब है ओहो कमाल हस्ती,<br>
बेमसाल जिसदा हर करदार रह जाये,

जीवन जिस, मैं सती दा लगा लिक्खन,<br>
सौ सौ वार 'खुशदिल' चुम्मा चरण ओहदे,<br>
श्रद्धा प्रेम थीं पढ़ेगा जो जीवन,<br>
हो जानगे दुक्खड़े हरन ओहदे,

चन्दा सती चमकी वंनके चन्न वांगूं,
थां थां चमकिया जग्ग ते नूर ओहदा,
उन्नी सौ तेती वैसाख अन्दर,
शुक्ला तृतिया च होया ज़हूर ओहदा,

प्रगट आगरा शहर च जदों होई,
फैल गया चर्चा दूर दूर ओहदा,
बाल उमरा च कीता ज्ञान हासिल,
होया थां था नां मशहूर ओहदा,

हर्ष माता दे हिरदे च ठण्ड पाई,
खुमानी सिंह दे भाग जगा दित्ते,
ईश्वरभक्ति दी भक्ति च लीन होके,
चार चन्द उस ना नूं ला दित्ते,

छोटी उमरां च होया विराग पैदा,
दिल विच ख्याल फकीरी दे आन लग पये,
मोह माया थीं चित्त हटा के ते,
सेवाधर्म दे ख्याल समान लग पये,

माता पिता दे दिल विच फिकर पै गई,
शादी वास्ते जोर लगान लग पये,
उडदे पछी दे खोह के खम्ब सोहने,
गृहस्त पिंजरे विच फसान लग पये,

जिसने जग नूं राह विखावना सी,
ओहनूं राह कवल्लडे पान लग पये,
पवन पानी ते चानन नूं वांग बच्चियां,
मुट्ठी विच ओ बन्द करान लग पये,

हथ जोड के चन्दा ने अर्ज कीनी,
मैनूं गृहस्त दे फा च फाओ ना जी,
मैनूं ऐवें ही रहन आजाद देवो,
मेरे पैरां च बेडियां पाओ ना जी,

सेवा देश दी मैनू कमान देवो,
मेरे राह च रोडा अटकाओ ना जी,
जगी जात जो ज्ञान दी मन अन्दर,
पल्ला गृहस्त दा मार बुझाओ ना जी,

फागुण शुक्ला पचमी दिन सोहने,
सुत्ते देश दे भाग जगा दित्ते,
१६४४ करनाल अन्दर,
साधु जीवन च कदम टिका दित्ते,

धर्म कर्म ते नियम दे विच रहके,
पैदा दिल अन्दर चमत्कार कीता,
लोकी राह च नैन विछाओंदे रहे,
हर थां सेवकां आदर सत्कार कीता,

सच्ची भक्ति त्याग तपस्या थीं,
हर इक बशर अन्दर पैदा प्यार कीता,
जीवन बख्श के धर्म दा जैनिया नू,
जैन धर्म दा खूब परचार कीता,

ओहदे बोल अन्दर सौ सौ बोल गूंजे,
इक इक बोल सी दिल हिलान वाला,
ओहदी चमक लै के लक्खा चमक उट्ठे,
मत सती दा सी शोभा पान वाला,

सारी जिन्दगी त्याग दे विच गुजरी,
करदे कदर है सन क़दरदान ओहदी,
बुग्गामल वरगे वड्डे मासाहारी,
स्यालकोट च कीती पहचान ओहदी,

रावलपिंडी तो लै बम्बई तीकन,
चमकी जग अन्दर वक्खरी शान ओहदी,
रन तक ज़मीन सी जिस दे चरण चुमदी,
अज आखदी कर असमान ओहदी,

ओ सी आतमा खास परमात्मा दी,
उत्तो जापदी शकल इन्सान हैसी,
ओहदी रसना चों अमृत रसदा सी,
मिट्ठी बोलड़ी मिट्ठी जवान है सी,

वैदराज वागू आके रोगिया नू,
वण्डदी नाम दी रही अकसीर है सी,
अक्खा विच खुमारी सी सदा रहन्दी,
दिल वी वाग हिमालय गम्भीर है सी,

बिसमल वांग सी तड़पदा सदा रहिन्दा,
जिनू मारदी ज्ञान दा तीर है सी,
है सी किसे लई सन्त महात्मा ओ ऐपर,
किसे दे लई ओ पीर है सी,

वेद शास्त्र गीता दी सी माहर,
ज्ञानवान विद्वान् महान् है सी,
ओहदी नजरा च इको जापदा सी,
गीता ग्रन्थ ते वेद कुरान है सी,

उर्दू फारसी दे ओहदे शेर सुन के,
मुन्शी आलम वी सीस झुकाओंदे सन,
मुल्लां मौलवी ओहदी तकरीर सुन के,
उंगली दन्दा दे तले दबाओंदे सन,

ऋषि मुनि ते सन्त महात्मा वी,
ओहदी चरणधूरी मस्तक लाओंदे सन
ओहदे चेहरे दे तेज नूं तक के ते,
सूरज चन्न वी वेख शरमाओंदे सन,

मस्ती विच आके जदो बोलदी सी,
वगदे वहन सी जमना दे रुक जादे,
पत्थर पिगल जांदे नाग झूम पैन्दे,
सिर जंगली शेरा दे झुक जादे,

भुले भटकिया राह विच अटकिया लई,
दुनिया विच इक रोशन मुनारा सी ओ,
ओ मल्ला सी डुबदिया बेड़िया दा,
रुड़े जांदिया लई किनारा सी ओ,

दुखिया दरदा ते गमां दे मारिया लई,
टुट्टे दिला दे लई सहारा सी ओ,
देश कौम ते जैन दी रखिया लई,
वैरी वास्ते खण्डा दोधारा सी ओ,

ममता, मोह, माया, दुख सुख सारे,
इक समझ के उमर गुजार दी रही,
महासती चन्दा अपने सत सेती,
दुखी जीवा दे दुख निवारदी रही,

६६ वर्ष गुजार के विच भक्ति,
जीवन साधना विच गुजार दित्ता,
उज्जल ना करके अपना जग अन्दर,
तरा आप नाल जग नू तार दित्ता,

७८ साल दी आयु व्यतीत करके,
मोह माया नू मना वसार दित्ता,
आखिर शहर लुधियाना दे विच आके,
जीवन कौम खातिर अपना वार दित्ता,

१९५७ अगस्त दी तिन्न सती,
हस हस त्याग प्राण दित्ते,
नाशवान शरीर नू त्याग के ते,
कायम जग च कर निशान दित्ते,

सुनदे सार बाजार सब बन्द हो गए,
लोकी दरशना लई सब आन लग पए,
सोहना पुष्प विमान त्यार कीता'
देवी देवता फुल्ल बरसान लग पए,

नर नारी सारे इक पासे,
सजनां नव सीस झुकान लग पए,
शान नाल जलूस रवान होया,
लोकी राह च नैन विछान लग पए

महासती ने जदों प्राण त्यागे
शोक छा गिया जैन समाज अन्दर,
सेवादार करदे रहे खूब सेवा,
रक्खा कस्र नहीं कोइ इलाज अन्दर

जदों तिक कायम सूरज चन्द तारे,
जग ते चमकदा चन्दा दा ना रहसी,
जीवन सती दा किसे न भुलना नहीं,
महासती दा जीवन महान रहसी,

लक्खां सतियां होइयां ने जग अन्दर,
चर्चा ऐस दा सदा जवान रहसी,
लिखदे रहणगे सती दे कवि जीवन,
कलम कवियां दी सदा रवान रहसी,

लिख के सती दा जीवन प्रेम सेती,
'खुशदिल' कवि ने फर्ज निभा दित्ता ए,
सत सतियां दा सदा कायम रहसी,
जीवन धर्म लेखे जिन्हां ला दित्ता ए,
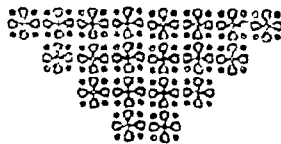
# महा प्रस्थान

(लेखक—श्री देवेन्द्र कुमार जैन "प्रभाकर" बी. ए प्रधान—
ऐस ऐस. जैन यूनियन, लुध्याना)

गहननिद्रा मे निमग्न बेसुध ...मत्त...
तिमिर की गहराईयों में खोये हुए को,
जगा दिया किस किरण-स्पर्श ने

...

ओह इन्दुवाले ...तुम !
है यह क्या... किस ओर ?
अरे अभी अभी तो .
नीले रग मे अपनी स्वर्णिम आभा का पुट्ट दे कर...
अवनी तल पर निज इगित द्वारा
प्रेम और आनन्द का स्रोत बहा कर—
अन्धकार को प्रकाश मे परिवर्तित कर—
अन्धड को मलयसमीरण मे बदल—
किरण-स्पर्श से नयन उन्मीलित कर
अभी अभी प्रस्थान को उद्यत हो
चले !
जरा ठहरो . ...टुक रुको !
इस झीने झीने अवगुण्ठन मे
मधुमय प्रकाश मे इन आखों को भर तो लेने दो !
नहीं क्यों ?

इतनी त्वरिता ! किस लिए ..
किस के आह्वान पर इतनी शीघ्रता—
ओह समझ गया

प्रस्थान को उद्यत हो ..
आह्वान का उद्घोष दूर . बहुत दूर से
सुनाई पड़ रहा है
महा मिलन का प्रस्थान है न ..
इसी लिए . .. इतनी उद्वेलित ।
फिर भी ...रुको... ...
कुछ क्षण तो रुको,
इस दूर हटती हुई और सिमटती हुई तुम्हारी रश्मियों से
हृत्तल को परिप्लावित तो कर लेने दो
क्या......समय नहीं !
न सही...
कर चुका .. तुम्हारी अन्तिम छवि हृदय में अंकित कर चुका
जाओ ...जाओ... जाओ !
पर इस आभा से प्रकाशित मन के रक्षण की
क्षमता तो देती जाओ .
रोकूंगा नहीं . इस प्रस्थान से तुम्हें .
क्यों ...
महा प्रस्थान है यह !
महा मिलन के लिए !

## महान विभूति

(लेखिका—श्रीमती कमला जैन 'प्रभाकर' देहली)

संतजन विश्व की महान विभूति होते हैं। ऐसी विभूति जो कभी नष्ट नहीं होती। जिन की छाया में विश्व सदा सर्वदा आनन्द की हिलोरें लेता है। जो जन जन का कल्याण करने वाली होती हैं। ऐसी विभूति जहां भी होती है वहां का वातावरण शान्त तथा सुख-कारक होता है।

प्रातःस्मरणीय श्री मती चन्दा जी महाराज ऐसी ही जन-कल्याणकारक महान् विभूति थीं। जिन का महिमामयी जीवन एक ज्योति-स्तम्भ की भांति हमारे पथ का प्रदर्शन कर रहा है।

उनके दर्शन-मात्र से ही हृदय मे आनन्द का स्रोत बहने लगता था। जब २ भी हम उनके चरणों मे जाते कुछ न कुछ ज्ञानोपदेश वह हमे प्रदान करते थे जो कि वास्तव मे मानवकल्याण करने वाला होता था। वह कहा करते थे—सदा विनयी बनो। मानव जीवन का लाभ उठाओ तथा सत्य अहिंसा को अपनाओ। अहिंसा का वास्तविक अर्थ यह है कि कोई भी कार्य छुप कर न करो। भय ही हिंसा का मूल है।

जब २ भी उन की पुण्यमयी स्मृति आती है, हृदय गद्‌गद् हो जाता है। उन का देदीप्यमान मुख उज्ज्वल संयम का प्रतीक था। उनकी मधुर स्नेह से ओत-प्रोत वाणी तथा शान्त-स्वभाव बरबस अपनी ओर आकर्षित कर लेते थे, वह विदुषी साध्वी स्त्री-समाज की रत्न थीं। अपनी विद्वत्ता के कारण उन्हों ने सहस्रों नर-नारियों को अपनी ओर आकर्षित किया था। वह जहा भी जाती थीं जनता बडी श्रद्धा से उन के सम्मान मे आखे बिछाती थी। हमारे लिए यह बडे गौरव की बात है।

आज उन का शरीर नहीं रहा। शरीर नश्वर है, नष्ट होगा ही, यह प्रकृति का अटल नियम है। परन्तु आत्मा अमर है। उन के उपदेश तथा शिक्षा जो उन्हों ने हमे दी वह अमर है। उस को अपनाने से ही हम सच्चे अर्थों मे उन की स्मृति बनाए रख सकते हैं। वह अपने जीवन मे बहुत कुछ कार्य कर गए और जो रहा वह भार हमें उठाना है।

हमारी यही प्रार्थना है कि ऐसी महान् देवियां हमारे समाज मे उत्पन्न हों और उन स्वर्गीय आत्मा के सदृश जीवन को ऊंचा उठा कर अपना नारी-जाति का, तथा राष्ट्र का जीवन ऊंचा उठावे। उन महान स्वर्गीय आत्मा को कोटिशः वन्दन।

# श्री चंदा जी महाराज

(लेखक—श्री जागेश्वर प्रसाद अग्निभोज हरसुद)

धन अमर साध्वी चन्दा देवी, इस भूपर से तुम स्वर्ग गई।
जय हो, जय हो, जय हो तेरी, जन जन के जीवन तार गई॥
तुम विद्याधन की खानि थीं, हिन्दी गुजराती तेरी वाणी थी।
था ओज तेरे उपदेशों मे, दे दया धर्म का पाठ गई॥
हे दयामयी चन्दा देवी! श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते है।
तुम शीतल चन्द्रकिरण बन कर चन्दा सम स्वच्छ हे स्वर्गमयी!
तेरी ही शीतल ज्योति से, हम दया धर्म नित ध्यान धरें।
हम हिलमिल अर्पित करते है, स्वीकृत हो श्रद्धाञ्जलि हे दयामयी!

※※※※※※※※※※※

# ज्योति स्तम्भ

(लेखक—श्री अमर जैन)

ससार के विशाल प्रागण मे न मालूम कितनी आत्माए जन्म धारण करती है। और ना समाप्त होने वाले इस सासारिक अधकार मे कुछ समय कीडे मकोडों की तरह जीवन गुजार कर सदा के लिए सो जाती है, ससार उन का मरना जानता है ना जीना। परन्तु कुछ आत्माए इस मानव-गुलजार मे जन्म ले कर इस गुलजार को सुगन्धित कर देती है और नये जीवन का सदेश देती है।

इसी प्रकार १००८ श्री चन्दा जी महाराज का जीवन भी ऐसा ही सुगंधित जीवन है। उन्हो ने भी मानव-समाज को मानवता का उपदेश दे कर ठीक रास्ता दिखाया।

परम पूजनीया! आप श्री ने जैनधर्म मे दीक्षित हो कर इस धर्म के तत्त्व को भली भाति हृदयगम करके जो यश प्राप्त किया

का वर्णन हम जैसे साधारण व्यक्तियों से नहीं किया जा सकता। आप ने अपने पावन उपदेशों द्वारा मानव समाज का परम कल्याण किया। वास्तव में आपका इस नश्वर संसार में जन्म लेना चन्द्रमा की भांति था जैसे अन्धकार से युक्त रात्रि को चन्द्रमा अपनी शुभ्र चांदनी द्वारा अत्युज्ज्वल बना देता है उसी प्रकार आपने भक्तजनों के हृदयान्धकार को अपने पवित्र उपदेशों द्वारा प्रकाशित कर दिया। इसी कारण आप का शुभ नाम श्री चन्दा जी महाराज सार्थक हुआ।

आप के कठोर ब्रह्मचर्य-व्रत ने आपकी महिमा को चार चांद लगा दिए हैं। आपकी आत्मा का निर्भीकता सहज गुण था। आप अतीव शान्त, पवित्र साधु स्वभाव की थीं, निस्सन्देह आज श्री का नश्वर शरीर इस समय हमारे मध्य में नहीं है पर आप श्री के पावन उपदेश प्रभाकर की भांति हमारे मनरूपी मानसरोवरों के कमलों को विकसित कर रहे हैं।

आपके प्रमुख गुण शांति सरलता थे जो भी आपके सन्मुख आता, आपका अपना ही हो जाता। जिसने एक बार भी आपके दर्शन कर लिए वह जीवन भर आपको नहीं भूलता था। समाज का कल्याण करना आपका परम उद्देश्य था, और जीवनपर्यन्त आप इस कार्य में अधिकतया सलग्न रहीं और पूर्णरूपेण सफलता भी प्राप्त की। अनेक शास्त्रों का अध्ययन करने से आपकी ज्ञान-शक्ति असीम थी। सर्व-साधारण व्यक्ति आप के ज्ञान की थाह न पा सकते थे आपका आत्मिक बल भी अनन्त था, मैं भी आपके गुणों से विमुग्ध हो कर अपनी श्रद्धाञ्जलि आपके पादाबुजो में समर्पित करता हूं।
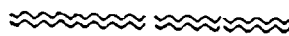
~~~~~~~~ ~~~~~~~

## महासती श्री चन्दा जी

(लेखिका—श्री कान्ता गुप्ता)

दो दिन अपनी शान दिखा कर,<br>
रोम राज्य था नष्ट हुआ
~~~~~~~~

दो दिन चमक कर मिश्र भी था,
अन्धकार में ग्रस्त हुआ।
दो दिन अपना रोब जमाकर,
अलक्षेन्द्र ने कूच किया।
किन्तु काल आघात सहन कर,
भारत है अद्य पर्यन्त खडा।

क्या कारण है कि रोम, मिश्र, यूनान आदि देशों की सभ्यतायें थोडा सा समय गुरुता प्राप्त करके उसी प्रकार भूगर्भ में विलीन हो गई जिस प्रकार बालुकामयी पृथ्वी में छोटी २ नदियों का पता ही नहीं चलता। आज ससार में उन का नाम मात्र ही शेष है। किन्तु भारत भूमि की सभ्यता का प्रादुर्भाव यद्यपि उन से सहस्रों वर्ष पूर्व हुआ तदपि वह आज तक जीवित है, वह उस उज्ज्वल मणि मृतिका से लिप्त है, जिसे उठाते ही वह पूर्ववत उज्ज्वल हो उठेगी। इतने महान अन्तर का कारण यही है कि जिस प्रकार एक जीवित व्यक्ति अपने शरीर में से मल निकालता है और उसमें अच्छी वस्तुओं का समावेश करता है, उसी प्रकार जब २ दुष्ट समूह रूपी मेघो से भारत का आकाश प्रच्छन्न हुआ, तब २ भारत ने महान् आत्माओं को जन्म देकर उन्हे तितर वितर कर डाला।

आज से २५०० वर्ष पूर्व जब कि यज्ञों में बलिदान कर दिये जाने वाले बकरे छुरी के नीचे तड़प रहे थे। धर्म-मन्दिरों को ध्वस्त किया जा रहा था, उसके नाम पर निर्धनों को शोषित किया जा रहा था, निर्बलों का गला दबाया जा रहा था, पथ-भ्रष्ट ब्राह्मणों द्वारा पादाक्रान्त मानव 'त्राहि, त्राहि' पुकार रहा था, उस समय क्षितिज के पार एक महान सूर्य ने उदित हो कर घोर तम का विनाश किया। वही सूर्य वर्धमान महावीर जी के नाम से प्रसिद्ध है, जिनके अविरल प्रयत्नों द्वारा जैन-धर्म अस्तित्त्व में आया।

यह जीवन तो एक रथ है। दो पहियों के बिना नहीं चल सकता, चाहे एक पहिया अत्यधिक दृढ भी क्यों न हो। भारत के प्रत्येक पुण्य-कार्य में सदा स्त्रियों का हाथ रहा है। वीरांगना पद्मिनी

जोहर की ज्वाला रानी दुर्गावती और अहिल्या रानी लक्ष्मीबाई के अनुपम शौर्य और साहस उत्साह—क्या कभी विस्मृत किये जा सकते हैं? नहीं, जब तक इस विराट् भारतवर्ष में एक भी भारतीय रहेगा, वह अपने रक्त के अन्तिम बिन्दु तक उनका नाम लेता रहेगा। जब तक गंगा-यमुना की कल-कल ध्वनि तथा उन का जल भारतियों को उन्नति-पथ का अनुसरण करने के लिये प्रेरित करता रहेगा, तब तक उनका नाम अमर रहेगा। स्त्रियों के केवल शारीरिक शौर्य एवम तेज की भव्य गाथा से ही इतिहास के पृष्ठ रंगे होंगे, ऐसी बात नहीं, बल्कि आत्मिक-क्षेत्र में उनका कार्य अद्वितीय है, इस बात को प्रत्यक्ष कर दिखाने वाली धर्मवीरा श्री चन्दा जी का नाम, जिन्होंने अपने ज्ञान सूर्य से अखिल विश्व को उद्दीप्त कर दिया, संसार की विभूतियों में अग्रगण्य है।

विश्व के इस अद्भुत रंगमंच पर एक से एक महत्तम पात्र आया ही करते हैं। कई आते हैं कई जाते हैं। कौन पूछता है। किन्तु सम्वत् १९३२ वैशाख शुक्ला तृतीया की धन्य तिथि को श्री श्री खुमानी सिंह जी की अक्षुण्ण कीर्ति की उज्ज्वल पताका, महिला-सघ की योग्यता की पुण्यप्रतीका, जैन धर्म की मान-बिन्दु, श्री हर्षकंवर जी की कोख की प्रकाशमयी मणि श्री श्री श्री चन्दा जी ने वीर-प्रसू भारत-वसुन्धरा के अन्तर्गत आगरा की पुण्य भूमि पर जन्म लिया, जिन्होंने बाद में अपने बृहद्-ज्ञान-सूर्य की मरीचियों से पाखण्डियों को चकाचौंध कर दिया।

शैशवावस्था से ही वैराग्य की न बुझने वाली अग्नि आपके हृदय में प्रज्वलित हो उठी। जब आप की आयु १२ वर्ष की हुई तो उस महानल ने मोह को शुष्क तृण की भान्ति दग्ध कर दिया। परिणाम-स्वरूप आपने साधु-जीवन अंगीकार किया और निकल पड़ीं विशाल विश्व में वास्तविक आलोक की खोज के लिये।

जिस प्रकार शरद्-पूर्णिमा के दिन निर्मल आकाश पर नक्षत्र-समूह से परिवृत भगवान् विधुदेव शोभास्पद होते हैं, उसी प्रकार श्री चन्दा जी शीघ्र ही साधु-साध्वी मण्डल में विराजमान हो कर महती सुषमा को प्राप्त हुईं।

आपने रावलपिण्डी से लेकर बम्बई तक का भ्रमण किया। व्याख्यात्री के रूप में आपको पर्याप्त सफलता मिली। जो आपके श्री चरणों के दर्शन एक बार कर लेता, वह आपका अनन्य भक्त बन जाता। आपके द्वार से कोई भी नर-नारी ज्ञान-भिक्षा प्राप्त किये बिना न लौटता था। उर्दू तथा फारसी के बड़े २ विद्वान आपके स्पष्टतम उच्चारण के सम्मुख नत-मस्तक हो जाते थे। सब के सब श्रोतागण आप की भाषा-शैली की प्रशंसा करते न थकते थे। जिस प्रकार चान्चन्द्र उदित होकर अपनी शुभ्र ज्योत्स्ना से अन्धकार की कालिमा को विनष्ट कर संसार को प्रकाशपुञ्ज में परिवर्तित कर देता है तथा सूर्य से तप्त पृथ्वी पर शीतलता का संचार करता है उसी प्रकार आपके प्राकट्य से अज्ञानता तथा कलुषित आन्तरिक वृत्तियों का नाश हुआ तथा नर-हिंसा से उन्मत्त मानव को अपनी वास्तविक स्थिति का भान हुआ।

शान्ति तथा धैर्य की तो आप साक्षात् मूर्ति थीं। बड़े से बड़ा शारीरिक अथवा मानसिक कष्ट भी आपके मस्तिष्क के सन्तुलन को विचलित करने में सफल न होता था। आपने आत्मिक शक्ति द्वारा भौतिक शक्ति पर किस प्रकार विजय पाई, यह एक घटना से स्पष्ट है। एक बार निर्जन वन में जाती हुई श्री महासती जी को भयंकर पञ्चानन के दर्शन हुए। किन्तु वे ज़रा भी नहीं घबराईं और चलती गईं। आपकी मुख-कान्ति तथा तेजोमय व्यक्तित्व का उस हिंसक जीव पर भी इतना प्रभाव पड़ा कि वह आप के पास से इस प्रकार निकल गया मानो एक पालतू कुत्ता हो।

जिस प्रकार हिमालय अपने आप को गला कर गंगा-यमुना के रूप में अपने रक्त की नदियां बहा कर उर्वरा भारत-भू को शस्य-श्यामला तथा धन-धान्य सम्पूर्ण रखता है, उसी प्रकार आपने अपने प्रत्येक क्षण को हंस २ कर, तिल २ कर परोपकार की इस बलि-वेदी पर आहुति चढ़ाई।

जिस प्रकार तुषार-बिन्दु दिवाकर के उदित होते ही वनस्पति को छोड़ कर वायु को अपना आश्रय-स्थान बना लेते हैं, उसी प्रकार

मोह के महातिमिर ने इस तिरस्कार के तिरोगमन होते ही आपके पवित्र हृदय को छोड़ कर सामाजिक लोगों का अपना आश्रय-स्थान बना लिया। मोह का महान सागर आपके ज्ञान-पर्वत से व्यर्थ ही टकराता था, किन्तु आपका पावन मस्तक उसके सम्मुख नहीं झुका। नहीं झुका।

अंग्रेजी में एक कहावत है कि—"Man is imperfect by nature" "कि मनुष्य प्रकृति से अपूर्ण है। किन्तु आप ने अपनी अलौकिक प्रतिभा, ओजस्विनी वाणी, असीम उत्साह, हिमगिरि के छत्र के समान धवल निष्कलंक चारित्र, मध्यान्ह के सूर्य के समान परमोज्ज्वल व्यक्तित्व, सागर जैसी गम्भीरता, अत्यन्त परिश्रमात्मक वृत्ति, इन्दु के समान शान्ति और शीतलता इत्यादि गुण-राशि द्वारा यह सिद्ध कर दिया कि मानव भी सर्व-गुण सम्पन्न हो। "रजस् तमस् गुणों से अलिप्त" ऐसा हो सकता है। त्याग, तटस्थता, परोपकार तथा उद्योग का जितना सुन्दर सामञ्जस्य आप के जीवन मे हुआ, उतना किसी के भी न था। ज्ञान-योग-रत श्री महासती जी संस्कृति तथा धर्म की सच्ची अनुरागिनी थीं। अन्य धर्मों वाले भी गुण-ग्राहक, निष्पक्ष तथा उदार-हृदयी विद्वान्, मुक्त कठ से आपकी प्रशसा करते थे। वास्तव में इस जगतीतल पर आप देवलोक से अप्सरा अवतरित हुई थीं। आप के गुणों का वर्णन करना, केवल सूर्य को दीपक दिखाने तथा एक बौने के एक गगन-चुम्बक वृक्ष से फल तोडने के असफल प्रयास के समान है। मैंने तो आपका गुण-गान कर के केवल अपनी लेखनी को ही पवित्र करने का प्रयत्न किया है।

काटों के बीच पलने वाला ही तो पुष्प सुरभित हो कर खिलता है, अग्नि-परीक्षा मे पडने वाला ही सोना तो कुन्दन बन कर चमका है। विपत्तियों के अपार अर्णव का, सुमेरु पर्वत के समान सामना करते हुए, ससार के कण्टकाकीर्ण पथ का अविचलित भाव से अनुसरण करते हुए, आप का जीवन दीप्तिमान् हो उठा था। आप के जीवन ने यह सिद्ध कर दिया था कि गहरे पानी पैठ कर ही मोती मिलता है। मानव दु ख सहन कर ही महान् बनता है।

एक दिन माली के निर्मम हाथों द्वारा तोड़ लिया जाने के लिये ही तो सुमन विकसित होता है। सायंकाल को अस्ताचल पर्वत में मुंह छिपा लेने के लिये ही तो रवि प्रातः-काल के समय संसार को ज्योतिर्मय बनाता है। हा समय ! तू कितना निर्दयी है। पीछे मुड़ कर देखना तो तू ने कभी सीखा ही नहीं। सम्भवतः प्रतिदिन लोगों को रोते चिल्लाते देख कर तू पाषाण-हृदयी बन गया है। अपनी जीवन-संध्या के निकट जब महासती जी का व्यक्तित्व और भी प्रोज्ज्वल हो उठा जब हमारी नौका भव-सागर की उत्तुंग तरंगों के मध्य डोलायमान थी, उसी समय दूर प्रसारिक करों वाले तथा इतनी धर्म निष्ठा होने पर पर भी जिस के हृदय में दया को स्थान नहीं, ऐसे महाकाल ने, उस प्रकाशस्तम्भ को उखाड़ लिया जिस ने जीवन के सर्वाधिक अंधकार-मय दिनों में हमारा मार्ग-प्रदर्शन किया था और हमें मझधार में छोड़ दिया। ३-८-५२, के अशुभ दिन को लक्षावधि भारतीयों के हृदय मन्दिरों की अधिष्ठात्री देवी ने इस नश्वर तथा पंचभौतिक शरीर को त्याग दिया। और वह ज्योति महाज्योति पुञ्ज के चरण-कमलों में उसी प्रकार विलीन हो गई जिस प्रकार जलधि से वारि-राशि को प्राप्त करने वाली नदी बाद में उसी में समा जाती है। किन्तु जैसे चन्दन का वृक्ष अपने आस पास के वृक्षों को भी सुरभि-पूर्ण बना देता है, प्रकाशमान वस्तुएं दीप्ति-हीन वस्तुओं को भी आभा-पूर्ण बना देती हैं; स्थायी चुम्बक सामान्य लोह-खण्ड को भी चुम्बक में परिवर्तित कर देता है। उसी प्रकार वह महान् आत्मा हमारे पथ-प्रदर्शन के निमित्त कई अन्य आत्माओं को महान् बना गई आज भी उस दिव्य आत्मा से उस महान् विभूति से रश्मियां आती हैं पथ-भ्रष्टों को सन्मार्ग पर लाने के लिये। आज स्थूल देह के प्रति आसक्त, हिंसा को उन्नति का केवल मात्र साधन समझने वाला, अस्थि पर लड़ने वाला कुत्तों से भी गया गुजरा मानव क्या महासती जी की दिवंगत आत्मा की वाणी को सुनेगा ? क्या उस के मन में भी वह दिव्य झंकार उठेगी ? मानवता के त्राण का इस के अतिरिक्त तो कोई मार्ग है नहीं।

हे महान् विभूते ! हे परम आत्मा ! हम सब बद्धाञ्जलि हो कर तुझे प्रणाम करते हैं।

# तपस्या की मूर्ति

(लेखक-श्री रमेशचन्द्र जैन प्रधानमन्त्री-श्री जैन सगीतमण्डल लुध्याना)

सती चन्दा जी महाराज का जीवनचरित्र छप रहा है, यह देख कर मेरे मन मे भी एक अभिलाषा उत्पन्न हुई कि मैं भी महाराज सा० के चरणकमलो मे कुछ श्रद्धाञ्जलि के पुष्प भेट करूं। यद्यपि मैं यह भली भाति जानता हूँ कि म० सा० के महान व्यक्तित्व, विद्वत्ता, त्याग तथा तपस्या को अपने शब्दो मे व्यक्त करना, मेरे जैसे प्राणी के लिये अत्यन्त कठिन है, फिर भी मैं अपने मनोद्गारों को व्यक्त करने का साहस कर रहा हू ।

महापुरुष विश्व के लिये एक देन है। वह समय २ पर अवतीर्ण हो कर, विश्व के लिये अपना जीवन देकर या दूसरे शब्दो मे अपना जीवन दीप जला कर मानवसमाज मे जागृति, उत्थान तथा नव जीवन का संचार करते हैं ।

इन्ही महापुरुषो मे सती चन्दा जी म० का नाम भी विशेष रूप से उल्लेखनीय है। क्योंकि महापुरुष किसी एक सम्प्रदाय के न हो कर सब के साझे होते है, इसलिये सती चन्दा जी म० को भी हम विश्व-विभूति कह सकते है।

आपने बालपन से ही, ससार नाशवान है, क्षणभगुर है, यह अस्थायी है, खाने पीने भोग विलास के अतिरिक्त भी कुछ और वस्तु है, इस मर्म को जान कर सारे ऐश्वर्यों को त्याग कर, जैन दीक्षा धारण करली आपकी विद्वत्ता के बारे मे कहना मानों सूर्य को दीपक दिखाना है। भारत मे प्रचलित ऐसी कोई भी भाषा नहीं थी जिस का आप को ज्ञान न हो। इस के अतिरिक्त दूसरे धर्मो का भी आपने गहन अध्ययन किया हुआ था।

सदियों से पिछडा हुआ स्त्रीसमाज, जिसमे अशिक्षा के कारण नाना प्रकार की कुरीतिया तथा कुसंस्कार घर कर गये थे, आपने स्त्री-शिक्षा तथा दूसरे धर्मउपदेशो द्वारा उन सब को दूर कर दिया ।

आज यद्यपि आप का भौतिक शरीर हम मे विद्यमान नहीं है तो भी आप के धर्म-उपदेश, आज भी हमारे कानों मे गूंज रहे हैं और वह विश्व मे सत्य, अहिंसा तथा शान्ति स्थापित करने मे योग देंगे, ऐसा मेरा विश्वास है।

## समाज के निधि

(लेखिका—श्रीमती देवकी देवी जी जैन, प्रिन्सीपल जैन गर्ल्ज हाई स्कूल लुधियाना)

परम श्रद्धेया श्री चन्दा जी महाराज का जीवन एक अलौकिक जीवन था, उन का मधुर वार्तालाप कर्ण को स्पर्श करते ही मनरूपी कली को विकसित कर देता था। वह इतनी सौम्य मूर्ति थे कि जैन अजैन सबको अपनी व्याख्यान शैली से मोहित कर लेते थे, सब को यही आभास होता था कि यह हमारे हैं। शिशु से लेकर वृद्ध तक वह सर्वप्रिय रहे। वह शान्ति के सागर थे। कष्ट मे कभी नहीं घबराते थे। एक बार मार्ग मे चलते शेर का साक्षात्कार हुआ, शिष्यमडली घबरा गई परन्तु वह निर्भीक वहीं डटे रहे, हृदय मे वीतराग का जाप करने लगे शेर पीछे लौट गया। सत्य है महानात्मा विभूतियो मे अलौकिक शक्तियां कार्य करती हैं। ठीक आज स्वर्गीया बालब्रह्मचारिणी महाविदुषी महासती चन्दा जी महाराज आज हमारे मध्य मे नहीं परन्तु उनका पावन उपदेश जो उन्होने स्वयं अपनाया, कथनी को छोड़ कर करनी से काम लिया, अतएव उनके पवित्र उपदेश पर आचरण करते हुए हम भी अपने जीवन को पवित्र करें। जितना हम उन की आज्ञा का पालन कर अपने जीवन को उज्ज्वल बनायेंगे, उतना ही अपने को उन के समीप पायेंगे।

अब मै उन के पवित्र चरणों मे अपनी तुच्छ श्रद्धाञ्जलि भेंट करती हू कि उनकी दिव्यात्मा हमारी आत्मा को भी मुक्ति का पथ प्रदर्शित करे।

—

# अमर आह्वान

(लेखिका—कुमारी प्रकाश "प्रभाकर")

चन्द्र ज्योत्स्ने !
तनिक ठहरो, दम भर विराम तो कर लो न इस गगनाङ्गण में।
एक बात पूछूं—
बताओगी क्या ?
यह शान्त, अभिराम एव सुधामयी मुद्रा में मुस्कराहट।
यह भीना भीना श्यामल आञ्चल।
भाल पर चन्द्राकार बिन्दिया।
झिलमिल झिलमिल मञ्जुल मोतियों जटित थालिका !
मूक, मौन, निस्तब्ध।
अधरों ही अधरों में विहँसती हुई
एकाकी ...
किसका मग निहार रही हो ?
बोलो न ?
अच्छा ...
अब मैं जान गई
'पिया' मिलन की प्रत्याशा में—
दिखाओगी न मुझे अपने 'प्रियतम'
'पगली' कहीं की।
हट ...
क्या कहती हो ?
एक लम्बी अवधि और निरन्तर मौन !!
कैसे रहेगी यह विरहिन बाला।
उफ ! तड़पन, सिसकन उत्पीडन—
निराशा के अन्धकार में बिलखती आहें—
ओह ! इस नन्हें उर में अश्रु कसक।

वेदना का युग—
उन्होंने " क्षितिज के परले पार नीरव रजनी की अविरल
अश्रुधारा तो देखो !
कुछ तो तरस करो न इस मौन रुदन पर !
सच ...
प्रियतम की अलबेली नगरी में कौन, कब किसका बना है "
हैं ...
यह क्या ...
कौन ?
उषे ! तुम यहां !
अरुण अलङ्कारों से अलंकृत देह !
रुन झुन रुन झुन पायल की झनझनाहट !
सितारों की आंख मचौनी !
मन्द-मन्द समीर की लोरियां !
अलि-गुञ्जार
पुष्प-वर्षण !
स्वर लहरी !
देव दुन्दुभि !
लो ! 'भानुकुमार' भी आ गये !
क्यों ?
ज्योत्स्ने !
बस जाने लगी हो क्या ?
इतनी शीघ्रता !
अच्छा ...
सुनो तो !
मेरा यह तुच्छ उपहार तो लो न !
भला मुझ अकिंचन के पास है ही क्या अर्चना के लिये
दीन-हीन विवश कर ही क्या सकती थी ।
हृदय दे दिया और साथ ही ये दो आंखें भी ।

अन्त मे हम सर्व शिमलानिवासी श्रावक तथा श्राविकाएं श्री महासती जी म० के पावन चरण-कमलों मे सादर श्रद्धा एवं विनीत श्रद्धांजलि समर्पित करते हैं।
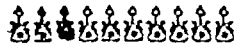
## श्री चन्दा जी म० के चरणों में सादर भेंट

(लेखक—श्री नौहरियामल जी जैन लुधियाना)

बालब्रह्मचारिणी श्री १००८ श्री महासती श्री चन्दा जी महाराज का जन्म सम्वत १६३३ वैशाख शुक्ला तृतीया के शुभ दिन आगरा मे माता हर्ष कवर की पावन कुक्षि से हुआ। आपके पूज्य पिता का नाम श्री खुमानीसिंह था। सम्वत् १६४४ मे आपके हृदयस्थित वैराग्य तरगों ने जोर मारा और आप ने संसार के अनित्य वैभव को ठुकरा कर फाल्गुण शुक्ला पचमी के पावन दिन शहर करनाल में साध्वी-जीवन अंगीकार किया, बम्बई से रावलपिंडी तक भ्रमण कर देश विदेशों मे सब प्राणियों को अपने धर्मोपदेश द्वारा सत्य पथ दिखलाती हुई सम्वत् २०० मे सेवक की जैनशाला मे (जो कि कूचा कर्तारा‌म में स्थित है) पधारीं और इस संसार के जीवों को सद्बोध देती हुई ३-८-५२ को स्वर्ग सिधारीं।

मेरी सीमित बुद्धि आपके विशाल जीवन का परिचय देने में सर्वथा असमर्थ है, इसलिए अन्त मे, इन शब्दों के द्वारा आपके चरण-कमलों में श्रद्धा के फूल समर्पित करता हूँ।

प्रतिबोध देकर उन्हे चारित्रिक मार्ग बताया ।

मुझे यह जान कर अपार हर्ष हुआ कि लुधियाना में महासती जी का जीवन चरित्र छपवाया जा रहा है । जिसके द्वारा अनेक प्राणियों को ज्ञान, दर्शन चारित्र का सम्यक बोध प्राप्त होगा । मैं स्वर्गीया महासती श्री चन्दा जी के सादर चरणों में अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ ।

# श्रद्धा के पुष्प

(लेखक—श्री हीरालाल जी जैन बी.ए एलएल. बी. एडवोकेट लुधियाना)

संसार मे महान् आत्माओं का आविर्भाव कभी राजनैतिक क्षेत्र में होता है, तो कभी सामाजिक और कभी धार्मिक। जगत् मे जब पाप, अनाचार और अत्याचार की वृद्धि होती जाती है, तथा समय की पुकार होती है—इतना ही नहीं, ससार का भला भी उस बढ़ते हुए पाप को रोकने मे ही होता है, उसी समय मानव-मात्र के उद्धार के लिये धरती-तल पर ऐसी महान् आत्माएं प्रकट हुआ करती है ।

कालिमा की ओर बढ़ते हुए इस कलयुग मे भी जगत् को प्रकाशित करने के लिये तथा इस पापरूपी घने अन्धकार को दूर करने के लिये अपनी उज्ज्वल चादनी से भूमितल को प्रकाशित करती हुई श्री चन्दा जी म० ने इसी पवित्र भारत-भूमि पर जन्म धारण किया। बालब्रह्मचारिणी श्री चन्दा जी की वाणी का ओज, उनके चेहरे की काति तथा आखों की ज्योति से उनके सम्पर्क में आने वाला कोई व्यक्ति प्रभावित न हो सका हो, ऐसी बात नहीं । जैन-मतावलम्बियो मे ही नहीं बल्कि मानव-मात्र में अच्छे विचारों एवं सद्गुणों का प्रचार एव प्रसार करने वाली महासती श्री की महानता इस बात मे है कि उन्होंने अपने जीवन मे इन सब सद्गुणों को ढाल रक्खा था, इसीलिये उनके उपदेश इतने अधिक प्रभाविक बन सके। उन्होंने जो कुछ कहा उसे

# महासतियों के पथ पर

(लेखक– श्रीराम जी सुराना १२६५ वैदवाडा देहली)

जैन साहित्याकाश मे एक चन्द्र उदय हुआ और अपनी शीतल आभा से जैन जगत को प्रकाशमान करता रहा। वह ज्योति जिस ने अतीत से प्रकाश लिया, वर्तमान को प्रकाशित किया तथा जो सदैव भविष्य का मार्ग प्रदर्शन करती रहेगी।

वह शीतल ज्योति श्री मती चन्दा देवी जी महाराज थीं। बाल्यकाल ही से दीक्षा धारण कर आप ने उत्कृष्ट त्यागों का उदाहरण संसार के समक्ष रखा। वह एक साध्वी ही नहीं वरन एक सच्ची सुधारिका तथा कलाकार भी थीं।

"महान सुधारिका" सुधारिका के रूप मे उन्होंने मनुष्य को पाशविक प्रवृत्तिया दूर करने की शिक्षा दी और सर्वप्रथम उसे अपने जीवन मे कार्यान्वित किया। उन्होंने हिंसा का अहिंसा से सुधार किया, शक्ति का प्रेम से उद्धार किया, यह समस्त प्राणी समुदाय को उनकी अमूल्य देन है।

"कलाकार के रूप मे" कलाकारिका के रूप मे महासती जी भगवान की प्रेरिका और कल्पिक मूर्ति थीं उन के स्वरो मे रग तथा रग मे स्वर होता था। मधुरभाषी कोकिला कण्ठी सरस व्याख्यान दात्री थी उनके हृदय मे ससार की दयनीय दशा एक चीत्कार उत्पन्न करती थी। नियति मे भी अटूट विश्वास रखते हुये उनका जीवन 'सत्य शिव सुन्दर' का सुन्दर समन्वय था। विराट् आत्मा ससार मे अपना काम समाप्त कर चुकी थी अपनी सुरीली ज्ञानरश्मियों से ससार को आलोकित कर चुकी थी। अतएव महासती जी व्याधिग्रस्त हुये और अपनी जीवन-लीला समाप्त कर नश्वर देह को त्याग जैन ससार को बिलखता हुआ छोड़ कर अनन्त सुख की खोज मे विचरण कर गई। जैन समाज ने एक रत्न खो दिया। जैन साहित्य मे उनकी यश प्रशस्ति अमिट अक्षरो मे अङ्कित रहेगी, इस मे सन्देह नहीं।

देहली संघ पर आप की सदा कृपा दृष्टि रही और काफी समय तक आपके प्रवचनों (उपदेशों) का लाभ हम को प्राप्त होता रहा, हम आपके चारित्र आपके अनेक गुणों से शिक्षा ले और अपने जीवन में वह गुण पैदा करने का प्रयत्न जारी रखें। यही भावना है। इन्हीं तुच्छ शब्दों के द्वारा दिवंगत आत्मा के चरणों में श्रद्धा की भेंट अर्पण करता हूँ।

:o:o:o:o:o:
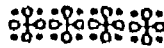
## वन्दना के इन स्वरों में,
## एक स्वर मेरा मिला लो।

(लेखक—श्री पूरनचन्द जैन ३३६, रोशन मुहल्ला, आगरा)

प्रातःस्मरणीय सती श्री चन्दा जी महाराज की जब सुधि आती है तब आपका बाल्यकाल नेत्रों के सम्मुख घूम जाता है, जिस ने जैन धर्म का अनुसरण कर स्वयं को पावन किया और किया अनेकों को। उनके अभ्युदय पर 'ताजनगर' मुस्करा उठा एक बार और उस ने भारत को 'चन्दा' देकर प्रकाशित किया। 'चन्दा' का अलौकिक जीवन हमें सदैव प्रेरणा देता रहे और उन्हें मेरे ये 'वन्दना के स्वर' स्वीकार हों।

प्रकाशक
महामना प्रकाशन मन्दिर
७०५, महामना मालवीय नगर
इलाहाबाद ।

प्रथम संस्करण, १९६२ ।

मूल्य १२)

हिन्दी

में

पाठालोचन

के

प्रवर्तक

तथा

प्राचीन-

काव्य

के

नदीष्ण

विद्वान

**डॉ. माताप्रसाद गुप्त, एम. ए., डी. लिट्.**

अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग

राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

के

कर-कमलों

में

'पंडित जन को श्रम परम जानत जे मति धीर'

# दृष्टिकोण

[ १ ]

हिन्दी में पाठ सपादन के वैज्ञानिक सिद्धान्तों का विवेचन करने वाला कोई ग्रथ नहीं है जिसमें हिन्दी की पाठ समस्याओं का अनुशीलन किया गया हो। कदाचित् यही कारण है कि आज भी प्राचीन ग्रन्थों के सपादन में पाठ-शोध के निर्धारित मान-दण्डों का उपयोग नहीं हो पा रहा है। इधर विश्वविद्यालयों में एम् ए हिन्दी के पाठ्य क्रम में इस विषय का अध्ययन भी स्वीकृत हो रहा है पर हिन्दी में ग्रन्थ न होने के कारण अध्येताओं को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता रहा। राष्ट्र-भाषा के इस अभाव की पूर्ति के सकल्प से मैंने इस विषय के सैद्धान्तिक और व्याव-हारिक पक्षों पर लिखना प्रारम्भ किया। 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका', 'सम्मेलन पत्रिका', 'साहित्य' आदि शोध पत्रिकाओं ने मेरे लेखो का स्वागत किया। कई विद्वानों ने इस विषय पर ग्रन्थ प्रस्तुत करने के लिए मुझे प्रोत्साहित भी किया। इस ग्रन्थ के लिए अनेक विद्वानों के ग्रन्थों का उपयोग हुआ है। कहीं-कहीं पाठ-समस्याओं पर विचार प्रस्तुत करते समय हिन्दी के मूर्धन्य विद्वानो एव संपादकों के मतों का भी खडन करना पडा है यह खडन शुद्ध पाठ विमर्श की दृष्टि से ही हुआ है किसी व्यक्तिगत रुचि या अरुचि के कारण नहीं। मैं उन सभी विद्वानों के सम्मुख नत मस्तक हूँ जिनकी मान्यताओं का मुझे खडन करना पडा है। वास्तविकता तो यह है कि इस ग्रन्थ में अनेक विद्वानों के विचारों का ही प्रमुख योग दान है और उसी सहारे मैं इस कार्य को पूरा करने में समर्थ हो सका हूँ।

अति अपार जे सरितवर जौं नृप सेतु कराहिं।
चढ़ि पिपीलिकउ परम लघु बिनु श्रम पारहि जाहिं ॥ बाल० १३ ॥

[ २ ]

पाठ-सम्पादन प्रारम्भ में सम्पादक की रुचि के अनुसार होता था। प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों के अध्ययन द्वारा प्राप्त अनुभवों ने इसे स्वरुचि प्रेरित कला से एक शास्त्र के स्तर पर पहुँचा दिया है। योरोप में जब सम्पादन की शास्त्रीय विधि का प्रारम्भ हुआ तो प्राचीन पाठों की कितनी ही रूढ़िगत मान्यताओं को धक्का लगा और

वहाँ के अनेक पुरातन पथी लोगों ने इसका बड़ा विरोध किया। 'न्यू टेस्टामेएट' के सम्पादक ने इस सम्बन्ध में लिखा है

'अठारहवीं शताब्दि के प्रारम्भ में सभी प्रोटेस्टैएट 'न्यू टेस्टामेन्ट' के प्रत्येक पृष्ठ को वास्तविक धर्म का प्रकटकृत रूप समझते थे। ईसाई मत के सिद्धान्त और कुछ समुदायों में चर्च की परम्पराएँ भी इन्हीं अमानवीय ग्रन्थों के पाठों से ही निःसृत समझी जाती थीं। इस दृष्टिकोण को सब से बड़ा धक्का पाठालोचन के अध्ययन द्वारा लगा।'[1]

इसी प्रकार की प्रतिक्रिया का उल्लेख 'ओल्ड टेस्टामेंट' के सम्पादकों ने भी किया है

'इस प्रकार मूल के अवैज्ञानिक पाठ तथा सामान्य प्रयोग मे व्यवहृत मूल के नहीं प्रत्युत एक शाखा मात्र के पाठ ने पाठ के आलोचनात्मक अध्ययन का प्रतिरोध किया। इस प्रतिक्रिया मे प्राचीन पाठों में से अवैज्ञानिक और असगत अर्थ ढूँढ़ने की प्रवृत्ति ने विशेष योग दिया।'[2]

विषय के महत्व और उसके निश्चयात्मक परिणामों के कारण धीरे-धीरे यह प्रतिक्रिया समाप्त हुई।

इसी प्रकार की प्रतिक्रिया के दर्शन हिन्दी पाठ सम्पादन के क्षेत्र मे भी यत्र तत्र होते हैं। जब डॉ माताप्रसाद गुप्त द्वारा सम्पादित 'जायसी-ग्रन्थावली' प्रकाशित हुई, जिसमें आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा सम्पादित 'जायसी-ग्रन्थावली' के प्रतिकूल 'पद्मावत' के पाठ को वैज्ञानिक सम्पादन की विधि से प्रस्तुत किया गया था और शुक्ल जी के सस्करण के पाठ की आलोचना भी की गई थी, उस समय आचार्य चन्द्रबली पाण्डे ने डॉ गुप्त सम्पादित ग्रन्थावली के पाठ के तीव्र विरोध का व्रत ठान लिया। कालावधान मे धीरे धीरे डॉ गुप्त का पाठ विद्वानों का समादार प्राप्त करता जा रहा है। वास्तव में पाण्डे जी का विरोध वैज्ञानिक सपादन के सिद्धान्तों से नहीं था, यदि ऐसा होता तो वे 'जायसी ग्रन्थावली' के सम्पादन के पूर्व डॉ माताप्रसाद गुप्त द्वारा प्रस्तुत 'रामचरितमानस' के वैज्ञानिक सस्करण का ही विरोध किए होते।

सम्पादन की वैज्ञानिक विधि के विरोध का तो प्रश्न दूर रहा, पाण्डे जी ने शास्त्रीय सम्पादन के नियमो पर ग्रन्थ प्रकाशित कराने की अनिवार्यता पर बल दिया है .

'अच्छा होता, कहीं अच्छा होता यदि 'हिन्दुस्तानी एकेडमी' की ओर से

---

[1] Encyclopaedia Britannica, Vol 3, Page 519

[2] Encyclopaedia Britannica, Vol 3, Page 507

पहले उस शास्त्रीय ढग का प्रकाशन हो लेता और फिर उस ढग से सम्पादन करने की आशा और व्यवस्था अधिकारी विद्वानों से की जाती। अधिक तो नहीं पर इतना जानते अवश्य हैं कि इसके अभाव में सशोधन का मार्ग प्रशस्त नहीं हो सकता और 'शास्त्रीय सम्पादन' बहुत कुछ तिलस्म का रूप धारण कर सकता है।'[1]

पाण्डे जी के जीवनकाल में हिन्दी के इस अभाव की पूर्ति नहीं हो सकी थी। प्रस्तुत प्रयास इस अभाव की पूर्ति मे कहाँ तक सफल हुआ है, यह भविष्य की वस्तु है। शास्त्रीय सम्पादन को शोध द्वारा और आगे बढ़ाने की लालसा पाण्डे जी के मन मे थी। उन्होंने लिखा है :

'हमसे कहा क्या जा रहा है? यही न कि 'पाठ विज्ञान' जितना आगे बढ़ चुका है, उसी को हम इति समझ लें और उसे और भी आगे न बढ़ा ज्यों का त्यों उसी को हिन्दी में उतार लें।'[2] निश्चय ही 'पाण्डे जी के कोटि के सम्पादक' इसे ग्रहण न करेंगे और अपनी प्रतिभा और प्रयत्न से पाठ-विज्ञान के कार्य को और भी आगे बढ़ा कर साँस लेंगे।

वैज्ञानिक सम्पादन सदैव नवीन शोधों का स्वागत करता है। उसका कार्य निरन्तर आगे बढ़ता रहता है। पर यह आगे बढ़ने का आधार भी वैज्ञानिक होना चाहिए। दुर्भाग्य से आज पांडे जी नहीं हैं अन्यथा उनकी अलौकिक प्रतिभा का लाभ पाठ-शोध के क्षेत्र मे तो होता ही, इस ग्रन्थ का लेखक भी कदाचित् अनेक अमूल्य निर्देशों द्वारा उपकृत होता।

वर्तमान युग में डॉ माताप्रसाद गुप्त की ही भाँति पाठ-शोध के एक अन्य महारथी आचार्य प विश्वनाथप्रसाद मिश्र हैं। मिश्र जी का 'वैज्ञानिक सम्पादन' से सैद्धान्तिक मतभेद है और इसी नाते वे इस विधि का उपयोग समग्र रूप से नहीं करते हैं। पर व्यावहारिक दृष्टि से मिश्र जी की उन मान्यताओं का 'वैज्ञानिक सम्पादन' से कोई विरोध नहीं है जिनके आधार पर वे इस विधि को अगीकार नहीं करते। उन्हीं के शब्दों में :

'पाठ शोध के सम्बन्ध में सम्प्रति जो पद्धति चल रही है, यह यान्त्रिक या अचेतन प्रक्रिया है। मेरे विचार से ग्रन्थ लिखने वाला और प्रतिलिपि करने वाला चेतन प्राणी होता है। इसीलिए उसके लिए चेतन प्रक्रिया या साहित्यिक प्रक्रिया की भी आवश्यकता है।'

( मिश्र जी का व्यक्तिगत पत्र लेखक के नाम )

---

[1] ना प्र प, वर्ष ६३, अ ३-४, पृ ४४७।

[2] वही, पृ ४४६।

अचेतन और चेतन के सम्बन्ध में मिश्र जी ने कुछ दार्शनिक दृष्टिकोण भी प्रस्तुत किया है :

'कोरी वैज्ञानिक प्रक्रिया से मानस क्या, हिन्दी के किसी ग्रन्थ का ठीक सम्पादन नहीं हो सकता। उसके लिए साहित्यिक सरणि का परित्याग अहितकर है। वैज्ञानिक प्रक्रिया भारतीय दृष्टि से विज्ञान होने से जड़ है। साहित्यिक प्रक्रिया दर्शन होने से चेतन है। मूलग्रन्थ से लेकर सम्पादक तक सभी चेतन प्राणी होते हैं। जड की गति विधि जितनी व्यवस्थित होती है उतनी चेतन की नही। अत. चेतन का प्रयास सर्वत्र नियत नहीं होता।'[1]

वैज्ञानिक सम्पादन अचेतन प्रक्रिया है, यह समझना बहुत बड़ा भ्रम है। इसमें चेतना के उपयोग का पूर्ण अवकाश रहता है। चेतना का सम्बन्ध हृदय और बुद्धि दोनो से होता है। वैज्ञानिक-सम्पादन बुद्धिपक्ष को अवश्य प्रधानता देता है क्योंकि हृदय पक्ष का समर्थक अपनी पसन्द से अधिक प्रभावित रहता है, रचयिता के मूलपाठ से कम। चेतन का प्रयास व्यवस्थित नही होता है, इसे वैज्ञानिक सम्पादक भलीभाँति जानता है। डॉ एस एम कत्रे के शब्दों में 'जैसा 'जेब' ने कहा है कि यह सम्भव नहीं है कि सचेष्ट परिवर्तनों में अन्तर्निहित उद्देश्यों अथवा ( मूलपाठ के लिए ) सङ्कट उत्पन्न करने वाली आकस्मिक घटनाओं की एक निश्चित सूची बना दी जाय, क्योंकि प्रतिलिपि परम्परा के निर्माता यत्र नहीं प्रत्युत मनुष्य थे।'[2] इस प्रकार वैज्ञानिक सम्पादन मानव के स्वभाव और चेतना की अनन्त सम्भावनाओं को दृष्टिपथ में रख कर अग्रसर होता है। पाठ विकृतियों की कारण-मीमासा करते समय प्रतिलिपिकार के हृदय से तादात्म्य स्थापित करके ही वैज्ञानिक सम्पादन सम्भव होता है।

वैज्ञानिक विधि के सम्बन्ध में मिश्र जी की दूसरी आपत्ति यह है कि 'वैज्ञानिक प्रक्रिया शब्द पर अधिक ध्यान देती है और साहित्यिक प्रक्रिया शब्द पर ध्यान देते हुए भी अर्थ पर विशेष दृष्टि रखती है। साहित्य शब्द और अर्थ का सपृक्त रूप होता है। अतः शब्द और अर्थ दोनों पर समान दृष्टि ही प्राचीन ग्रन्थों के सम्पादन में उपयोगी हो सकती है।'[3] इस सम्बन्ध में इतना ही निवेदन पर्याप्त है कि वैज्ञानिक सरणि में 'पाठचयन' और 'पाठसुधार' दोनो ही दशाओं में लेखानुसङ्गति (शब्द) और

---

[1] रामचरितमानस ( आत्मनिवेदन ) पृ २५-२६।

[2] It is impossible, as Jebb remarks, to draw up a list of motives which might lead to wilful change, or of accidents which might lead to dangers, for the organs of Tradition were not machines but men—Introduction to Indian Textual Criticism, Page 54

[3] रामचरितमानस ( आत्मनिवेदन ) पृ २६।

विषयानुसङ्गति ( अर्थ ) पर पूरा-पूरा बल दिया जाता है। निरर्थक पाठ तो पाठ भ्रष्टता का प्रथम प्रमाण माना जाता है, पर उस निरर्थकता का कारण 'पाठ' के अन्तर्गत ही ढूँढ कर उसका परिहार किया जाता है।

सम्पादन कार्य करने के लिए विद्याबुद्धि या प्रतिभा की नितान्त आवश्यकता होती है, वैज्ञानिक सरणि भी पूर्ण रूप से इस बात को स्वीकार करती है। अतः इस सम्बन्ध में मिश्र जी का यह कथन कि 'फल यह है कि कोई पाठ सकलन की विधि जान गया तो बिना विशेष विद्याबुद्धि के भी अच्छा काम कर सकता है। इसके विपरीत अधिक विद्याबुद्धि वाला यदि उस विधि से परिचित नहीं तो अच्छा काम नहीं कर सकता'[1] युक्तिपूर्ण नहीं माना जा सकता। लेखानुसगति का निराकरण तो कम विद्याबुद्धि वाला भी भले ही कर ले, विषयानुसङ्गति के लिए तो विशेष ज्ञान, निर्णय-शक्ति और सूझ बूझ की आवश्यकता पड़ती है।[2] पाठ सम्पादन की वैज्ञानिक विधि के सम्बन्ध मे तो मेरा यह स्पष्ट मत है कि यह विधि शल्य-क्रिया में प्रयुक्त होने वाले सुन्दर यन्त्रो के समान है। ये यन्त्र जितने ही योग्य, अनुभवी एव प्रातिभ डॉक्टर द्वारा प्रयुक्त होगे, उतना ही सुखद परिणाम भी होगा। यदि कोई अल्पज्ञ इनका प्रयोग करे तो ये शल्य यन्त्र शूल-यन्त्र सिद्ध हो सकते हैं।

मिश्र जी की 'साहित्यिक प्रक्रिया' कोई नवीन वस्तु नहीं है, प्रत्युत उन्हीं के शब्दों मे 'हिन्दी में प्राचीन ग्रन्थों के सम्पादन की साहित्यिक सरणि के प्रवर्तक काशी विश्वविद्यालय के दिवगत प्राध्यापक लाला भगवानदीन, प रामचन्द्र शुक्ल और बाबू श्यामसुन्दरदास थे। इनके सम्पादित ग्रन्थों में कुछ ऐसी अच्छाइयाँ हैं जो वैज्ञानिक सम्पादनों में नहीं रह गई हैं।'[3] वास्तव मे दीन जी, शुक्ल जी आदि के सम्पादन की कोई सरणि नहीं थी, प्रत्युत सपादन के क्षेत्र में उनके प्रयास प्रारम्भिक कार्य थे। सत्य तो यह है कि प्राचीन सम्पादकों के पास हस्तलिखित प्रतियों की सामग्री बड़ी स्वल्प थी। वह स्वल्प सामग्री भी अत्यन्त जीर्ण-शीर्ण तथा ऐसे लोगों के सरक्षण मे रहती थी कि उनका उपयोग करना तो दूर रहा, उनका दर्शन पा लेना भी सौभाग्य समझा जाता था। ऐसी दशा में प्राचीन सम्पादकों द्वारा किसी रचना को मुद्रित रूप दिला देना भी एक पुनीत साहित्यिक कार्य था और माँ भारती के शृङ्गार के लिए

---

[1] केशव ग्रन्थावली ( सम्पादकीय ) पृ १८।

[2] A proper estimate of intrinsic probabilities calls for more knowledge, judgment and insight than are needed in the case of documentary probabilities'

—Introduction to Indian Textual Criticism, Page 66

[3] रामचरितमानस ( आत्मनिवेदन ) पृ २६।

वे सामग्रियाँ भी अभिनन्दनीय थीं। लेकिन आज जब हस्तलिखित पोथियों के प्रभूत साधन सुलभ हैं, सम्पादन कार्य ऐसा होना चाहिए जिससे कवि या कर्ता का मूलपाठ प्रस्तुत किया जा सके। स्वरुचि प्रेरित सम्पादन में मूलपाठ की अपेक्षा सम्पादक का अपना पाठ प्रस्तुत हो जाने या 'गणेश के स्थान पर वानर हो जाने' का भय सदैव बना रहता है। सौभाग्य से मिश्र जी ने वैज्ञानिक सम्पादन के महत्व को आंशिक रूप से स्वीकार किया है :

'उस मूल पाठ तक पहुँचने की एक पद्धति वैज्ञानिक कहलाती है। विभिन्न हस्तलेखों और जहाँ तक हो प्राचीनतम हस्तलेखों के संग्रह द्वारा पाठ संकलित करके और पाठ को छान कर निकालना परिश्रम साध्य कार्य है। इसमे सन्देह नहीं कि इस पद्धति द्वारा बहुत से प्राचीनतम पाठ प्राप्त हो जाते हैं। यदि हस्तलेखों के लिखने में भरपूर सावधानी हुई हो और संशोधन कम हुआ हो तो इस पद्धति से मूल या आदि पाठ तक पहुँचा जा सकता है।'[1]

[ २ ]

जिन विद्वानों के ग्रन्थों का उपयोग किया गया है मैं उन सभी का आभारी हूँ विशेषत डॉ माताप्रसाद गुप्त और डॉ एस एम कत्रे का ऋणी हूँ। वास्तविक गुरु की भाँति निरन्तर प्रेरणा देने वाले डॉ रामकुमार वर्मा और सभी प्रकार सहयोग करने के लिए प्रस्तुत रहने वाले डॉ किशोरीलाल गुप्त का स्नेह मेरा मार्ग दर्शन करता रहता है। सम्मेलन के अधिकारी, विशेषतः श्री रामप्रताप शास्त्री एवं श्री देवदत्त शास्त्री मेरे बड़े सहायक रहे। हिन्दू विश्वविद्यालय के प विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने अनेक मूल्यवान सूचनाओं और समय निकाल कर मेरी जिज्ञासा तुष्टि द्वारा मुझे उपकृत किया है। मै उनके सम्मुख नतमस्तक हूँ। अपने विद्यालय के प्रधानाचार्य ठा० हृदयनारायण सिंह एम् एल् सी के अपार अनुग्रह एवं स्नेह के कारण ही ग्रन्थ का प्रणयन हो सका। आदरणीय सहयोगी प्रो० शिवनारायण श्रीवास्तव और प्रो० शिवाधार सिंह के सुझाव भी बड़े उपयोगी रहे हैं। ग्रन्थ प्रकाशन के हेतु बारबार प्रेरित करने वाले भाई ठाकुरप्रसाद सिंह 'अग्रदूत' और हरिमोहन मालवीय को ही इस प्रकाशन का श्रेय है।

तिलकधारी महाविद्यालय
जौनपुर
कार्तिक पूर्णिमा, २०१८

कन्हैयासिंह

[1] केशव-ग्रन्थावली ( सम्पादकीय ) पृ १८।

# विषय-क्रम

## भाग १

## सिद्धान्त विवेचन

### अध्याय १



### अध्याय २



### अध्याय ३

## अध्याय ४



## अध्याय ५



## अध्याय ६

## अध्याय ५



### (ब) शास्त्रीय सम्पादन

## अध्याय ६



## अध्याय ७



## अध्याय ८



## अध्याय ९



## अध्याय १०

## अध्याय ११



## अध्याय १२



# भाग ३

# सहायक अध्ययन

## अध्याय १



## अध्याय २

## अध्याय ३



# भाग ४

# परिशिष्ट

## परिशिष्ट १



## परिशिष्ट २



---

भाग १

# सिद्धान्त-विवेचन

१—विषय एवं विस्तार

२—विषय-विभाजन

३—सम्पादन-सामग्री

४—प्रतिलिपिकार एवं पाठ-विकृतियाँ

५—पाठ-चयन

६—पाठ-सुधार

७—उच्चतर आलोचना

१

# विषय एवं विस्तार

प्राचीन ग्रन्थों का सपादन साहित्य की श्रीवृद्धि में सदैव सहायक रहा है। विश्व की सभी भाषाओं में मुद्रण-यन्त्रों के आविष्कार के समय से यह कार्य अत्यन्त शीघ्रता से होता हुआ देखा जाता है। प्रारम्भ में यह कार्य बिना किसी विशेष विधि के अनुगमन के, निरकुश ढग से एव सम्पादक की रुचि के अनुकूल सम्पादित होता रहा, किन्तु लैटिन, ग्रीक तथा अग्रेजी आदि के प्राचीन ग्रंथों के सम्पादकों ने अपने सम्पादन-अनुभव के आधार पर कुछ निश्चित सिद्धान्त स्थापित किये तथा एक विधि-विशेष का प्रचलन किया, जो अनुभव के आधार पर अत्यन्त वैज्ञानिक सिद्ध हुई। इस विधि का परिचय डॉ जे पी पोस्टगेट ने अपने लेख 'टेक्स्टुअल क्रिटिसिज्म' द्वारा ब्रिटानिका-विश्वकोष में दिया है। हॉल की पुस्तक 'कम्पैनिअन टू क्लैसिकल स्टडीज' भी इन सिद्धान्तों का सोदाहरण दिग्दर्शन कराती है। भारतीय भाषाओं में सर्वप्रथम सस्कृत के कुछ ग्रन्थों के सम्पादन में इन सिद्धान्तों का प्रयोग किया गया और इनका परिणाम भी पहिले के सम्पादनों से अधिक निश्चयात्मक प्रतीत हुआ। अग्रेजी भाषा में विशेषतः चॉसर, स्पेन्सर तथा शेक्सपियर की रचनाओं का ध्यानपूर्वक सम्पादन हुआ। अनेक सम्पादकों ने चॉसर के पाठ का सम्पादित सस्करण प्रस्तुत किया किन्तु अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में टरहिट नामक विद्वान ने चॉसर का वैज्ञानिक एवं आलोचनात्मक सस्करण आँग्ल-भाषा रसिकों के सम्मुख प्रस्तुत किया। 'कैन्टरबरी टेल्स' के टरहिट-सम्पादित सस्करण से ही विद्वानों ने चॉसर की वास्तविक प्रतिभा का अनुभव किया। तदनन्तर चॉसर सोसायटी की स्थापना हुई जिसने निश्चित मानदण्डों के आधार पर चॉसर का पाठ निर्धारित करना प्रारम्भ किया। इसी भाँति शेक्सपियर के नाटकादि ग्रन्थों का प्रकाशन एव सम्पादन पहले मुद्रकों के द्वारा हुआ

था जो किसी प्राप्त प्रति को उसी रूप में मुद्रित कर देते थे। सर्वप्रथम उसकी कृतियों का आलोचनात्मक संस्करण निकालने का कार्य १७०६ में रो नामक विद्वान ने प्रारम्भ किया। रो के प्रमुख अनुगामी अठारहवीं शताब्दी में पोप, थियोबोल्ड, जोन्सन, कैपेल, स्टीवेन्स तथा मैलोन थे और उन्नीसवीं शताब्दी में बॉसवेल, फरनैस, क्लार्क और राइट तथा बीसवीं शताब्दी में क्वीलर कूच एव डोवर विल्सन थे।

भारतीय भाषाओं में वैज्ञानिक सम्पादन का कार्य कुछ देर से प्रारम्भ हुआ। जैसा कहा जा चुका है कि सर्वप्रथम यह कार्य सस्कृत के कुछ ग्रन्थों के सम्बन्ध में हुआ। पहले हर्टेल ने तथा बाद में एजर्टन ने 'पञ्चतन्त्र' का पाठ स्थिर किया। पिशेल ने 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' का, स्टेन कोनोंव ने राजशेखर कृत 'कर्पूरमञ्जरी' का, मैक्स-मूलर ने 'ऋग्वेद' का तथा लुदविग आल्सडोर्फ ने 'हरिवश' का सम्पादित सस्करण प्रस्तुत किया। पाश्चात्य विद्वानों से प्रेरणा प्राप्त कर कुछ भारतीय विद्वानों का भी ध्यान इस दिशा में आकृष्ट हुआ। इनमें सुकथाकर ने महाभारत के 'आदिपर्व' का, डॉ पी. एल. वैद्य तथा डॉ आर जी भण्डारकर ने पुष्पदत के 'आदिपुराण' तथा भवभूति के 'मालतीमाधव' का वैज्ञानिक सस्करण प्रस्तुत किया। ऐसा ही कार्य डॉ ए. एन उपाध्ये ने योगीन्दु के 'परमात्मप्रकाश' पर किया। हिन्दी के प्रसिद्ध ग्रन्थों के सम्बन्ध में यह कार्य और भी देर से प्रारम्भ हुआ। प्रयाग विश्वविद्यालय के डॉ. माताप्रसाद गुप्त ने १६४२ में 'अर्द्धकथा का पाठ'[1] शीर्षक लेख लिखकर यह कार्य प्रारम्भ किया। तब से आज तक उन्होंने 'रामचरितमानस', 'पद्मावत', 'बीसलदेव रास', 'छिताईवार्ता' तथा 'पृथ्वीराज रासउ' आदि के वैज्ञानिक सस्करण प्रस्तुत किए हैं।

जिस प्रकार अंग्रेजी भाषा के आलोचकों ने टर्राहट के कार्य को प्रारम्भ में महत्व नहीं दिया वैसा ही आरम्भ में हिन्दी में भी पाठालोचन कार्य के सम्बन्ध में हुआ तथा इस कार्य को न समझने के कारण इसे पहेली सा मान लिया गया। इसीलिए प. चन्द्रबली पाण्डे जैसे विज्ञ आलोचक को सदैव इससे चिढ़ रही और उन्होंने एक स्थल पर लिखा भी कि पाठालोचन जिस विधि से किया जाता है वह वैज्ञानिक विधि है क्या, यह तो प्रकाश मे आवे।[2] अब पाठालोचन के सम्बन्ध में वह भ्रान्ति नहीं है। फिर भी वह क्या है, इस पर विचार करना अनिवार्य है।

---

१. हिन्दी अनुशीलन, वर्ष ३, अ० १

२ ना० प्र०, प० चन्द्रबली पाण्डे स्मृति अक, पृ० ४४७

## परिभाषा

किसी रचना की सभी प्रतियों के परीक्षण एवं निश्चित वैज्ञानिक विधि के अनुगमन द्वारा उन प्रतियों के आधार पर रचयिता के अभीष्ट पाठ को प्राप्त करने की प्रक्रिया को ही 'पाठालोचन' या 'पाठ सम्पादन' कहते हैं। प्राचीन शब्दावली में इसे सम्पादन कहते हैं तथा साथ ही इसके लिए पाठविज्ञान, पाठशोध तथा पाठानुसंधान आदि नाम भी प्रचलित हैं। डॉ पोस्टगेट ने इसकी परिभाषा देते हुए लिखा है :

'पाठालोचन पाठ-निर्णय की उस कुशल एवं विधिवत प्रक्रिया को कहते हैं जो ( किसी रचना के मूल ) पाठ के निर्धारण हेतु अपनाई जाती है। 'पाठ' से तात्पर्य ऐसी भाषा में आबद्ध लेख से है जिसका ज्ञान पाठ-शोधक को किसी न किसी सीमा तक हो और जिसमें किसी अर्थ की उपस्थिति जिसका निश्चय हो चुका है या हो सकता है स्वीकार की गई है।'*

पाठालोचन की मूल प्रक्रिया क्या है, इस सम्बन्ध में 'ओल्ड टेस्टामेण्ट' के सम्पादक श्री जी बी ग्रे तथा ए एस पीक का कथन है :

'आलोचना की कई शाखाएँ होती हैं। सर्वप्रथम पाठ के अन्दर आई हुई विकृतियों की पहचान की जानी चाहिए तथा जहाँ तक सम्भव हो मूल के निकटतम पहुँचने वाले पाठ का निर्धारण होना चाहिए। यह पाठालोचन या निम्नतर आलोचना का कार्य है।'†

यहाँ यह विचारणीय है कि अंग्रेजी में पाठालोचन की प्रक्रिया को निम्नतर आलोचना तथा उस प्रक्रिया के वर्णन को उच्चतर आलोचना कहते हैं। पाठालोचन को निम्नतर

---

* Textual criticism is a general term given to the skilled and methodical application of human judgment to the settlement of texts By a text is to be understood, a document written in a language, known more or less to the enquirer and assumed to have some meaning which has been or can be ascertained

—(Textual Criticism) Encyclopaedia Britannica, Vol 22, Page 6.

† Of citicism there are several branches First, the errors which have crept into the text must be detected and the text be restored, as far as possible, to its original form, this is the task of textual or lower criticism

—Encyclopaedia Britannica, Vol 3, Page 506.

आलोचना कहने का अभिप्राय यह है कि पाठ की आलोचना प्रारम्भिक या निम्नतम सीढ़ी की वस्तु है।

पाठालोचन की प्रक्रिया एक वैज्ञानिक प्रक्रिया है। वह वैज्ञानिक इसी अर्थ में कही जा सकती है कि इसमें निर्धारित नियमो के अनुगमन द्वारा निर्धारित निष्कर्षों पर पहुँचा जाता है। इस विज्ञान के नियमों की तुलना भौतिक-विज्ञान आदि के नियमों से नहीं की जा सकती है। पाठ विज्ञान के प्रत्येक निर्धारित नियम के साथ अपवाद लगे रहते हैं जो इसकी सार्वभौमिक्ता पर प्रश्न-चिह्न लगा देते हैं। वैसे अन्य विज्ञानों की ही भाँति इसमे भी शोध कार्य इसकी सीमा को विस्तृत करता रहता है। नवीन अनुभव इसके नवीन सिद्धान्तों की सृष्टि कर सकते हैं। यह आगमन का न होकर निगमन शैली का शास्त्र है। तात्पर्य यह कि विद्वानों ने भिन्न-भिन्न रचनाओं की पाठ-समस्याओं को देखा और सामान्य अनुभव सर्वत्र प्राप्त हुए। उनके आधार पर कुछ नियम प्रतिपादित किए गए, जो पाठालोचन या पाठ विज्ञान के आधारभूत नियम कहलाए। इस सम्बन्ध में एफ डब्लू हॉल का कथन दर्शनीय है :

'बहुत से लोगों मे पाठालोचन को एक रोग समझने की प्रवृत्ति है। किन्तु न तो यह रोग है न विज्ञान, बल्कि एक प्रकार की समस्याओ पर, जो छानबीन प्रेरित करती है, सामान्य बुद्धि का प्रयोग मात्र है। इस कार्य में हस्तलिखित प्रतियों को ही आधिकारिक प्रमाण के रुप में ग्रहण किया जाता है।'*

## आवश्यकता एव उद्देश्य

आधुनिक युग मे मुद्रण यन्त्रों के आविष्कार ने आधुनिक रचनाओं के सपादन की समस्या को समाप्त कर दिया है, किन्तु प्राचीन युग से चली आनेवाली साहित्य-धारा के उचित मूल्याकन के लिए यह आवश्यक होता है कि वैज्ञानिक सपादन द्वारा सर्वप्रथम उसके प्राप्त ग्रथों का वास्तविक पाठ निर्धारित कर लिया जाय। जब तक किसी ग्रन्थ के वास्तविक पाठ का निर्धारण नहीं हो जाता, उसके सम्बन्ध में प्रकट किए

* Many people tend to regard Textual Criticism as a disease But it is neither a disease nor a science but simply the application of common sense to a class of problems which beset all enquiries whose evidence rests upon the authority of Manuscript documents

—Companion to Classical Studies.

विचार प्रायः निरर्थक या भ्रमपूर्ण हो सकते हैं। उदाहरणार्थ, 'पृथ्वीराज रासो' के पाठ को लिया जा सकता है। इस ग्रन्थ की अनेकानेक प्राप्त प्रतियों में भिन्न भिन्न पाठ मिलते हैं। सामान्यतः आकार के हिसाब से इसके चार रूपान्तर हैं। अब प्रश्न यह उठता है कि इनमें से किसे आधार बनाकर रासोकार की काव्य-प्रतिभा, प्रबन्ध-कल्पना तथा अलंकरणवृत्ति का मूल्यांकन किया जाय या रासो की ऐतिहासिकता की परीक्षा की जाय। पाठालोचन का विद्यार्थी भलीभाँति जानता है कि ऐसी दशा जब भी और जहाँ भी उपस्थित हो, उस समय उस रचना के मूलपाठ का अनुसंधान सर्व प्रथम होना चाहिए, तभी उस रचना का वास्तविक मूल्यांकन किया जा सकता है। इस सम्बन्ध में 'ओल्ड टेस्टामेण्ट' के संपादकों का मत दर्शनीय है :

'साहित्य के सभी प्रमुख अध्ययनों का मूलाधार पाठ-निर्धारण है। यह पाठ-निर्धारण उतना सही होना चाहिए जितना सही पाठालोचन की प्रक्रिया द्वारा इसे प्रस्तुत किया जा सके। किन्तु बहुत दिनों तक साहित्य की इस प्रथमावश्यकता पर ही कोई विचार नहीं हुआ।'*

प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर ही वैज्ञानिक संपादन या पाठालोचन का कार्य अग्रसर होता है। पहले, मुद्रण यन्त्रों के अभाव में किसी प्रसिद्ध रचना का प्रचार प्रतिलिपियों के माध्यम से हुआ करता था। लेखक की मूलप्रति से प्रतिलिपि होती थी, पुनः उस प्रतिलिपि की प्रतिलिपि और इसी प्रकार प्रतिलिपियों की एक परम्परा चल पड़ती थी। साधारणतः यह प्रतिलिपि करने का कार्य कुछ पेशेवर प्रतिलिपिकार किया करते थे जो इन प्रतिलिपियों को मेलों, सम्मेलनों या अन्य धार्मिक महत्व के अवसरों पर बेचा करते थे। इनके अतिरिक्त अपने अध्ययन के हेतु अथवा स्वान्तःसुखाय भी लोग प्रसिद्ध ग्रन्थों की प्रतिलिपियाँ किया करते थे। यह सामान्य जीवन में ही देखा जा सकता है कि अनुकरण सदैव अपूर्ण होता है। अतः मूल प्रति की प्रतिलिपि में स्वभावतः ही मूलपाठ से कुछ अन्तर आ जाता रहा। इसी प्रकार प्रतिलिपि-परम्परा में क्रमशः अन्तर आने लगता है और प्रायः यह देखा जाता है कि जो प्रति प्रतिलिपि-परम्परा में जितने ही नीचे की होती है, उसमें मूलपाठ से उतना ही अधिक अन्तर हो जाता है। इस प्रकार के अन्तर तो स्वाभाविक रूप से आते हैं। इनके

* The basis of all sound study of literature is the construction of a text, as accurate as the criticism can make it, and for a long time this first essential was lacking

—Encyclopaedia Britannica, Vol 3, Page 506.

आलोचना कहने का अभिप्राय यह है कि पाठ की आलोचना प्रारम्भिक या निम्नतम सीढ़ी की वस्तु है।

पाठालोचन की प्रक्रिया एक वैज्ञानिक प्रक्रिया है। वह वैज्ञानिक इसी अर्थ में कही जा सकती है कि इसमे निर्धारित नियमों के अनुगमन द्वारा निर्धारित निष्कर्षों पर पहुँचा जाता है। इस विज्ञान के नियमों की तुलना भौतिक-विज्ञान आदि के नियमों से नहीं की जा सकती है। पाठ विज्ञान के प्रत्येक निर्धारित नियम के साथ अपवाद लगे रहते हैं जो इसकी सार्वभौमिकता पर प्रश्न-चिह्न लगा देते हैं। वैसे अन्य विज्ञानों की ही भाँति इसमें भी शोध कार्य इसकी सीमा को विस्तृत करता रहता है। नवीन अनुभव इसके नवीन सिद्धान्तों की सृष्टि कर सकते हैं। यह आगमन का न होकर निगमन शैली का शास्त्र है। तात्पर्य यह कि विद्वानों ने भिन्न-भिन्न रचनाओं की पाठ-समस्याओं को देखा और सामान्य अनुभव सर्वत्र प्राप्त हुए। उनके आधार पर कुछ नियम प्रतिपादित किए गए, जो पाठालोचन या पाठ विज्ञान के आधारभूत नियम कहलाए। इस सम्बन्ध में एफ डब्लू हॉल का कथन दर्शनीय है :

'बहुत से लोगों मे पाठालोचन को एक रोग समझने की प्रवृत्ति है। किन्तु न तो यह रोग है न विज्ञान, बल्कि एक प्रकार की समस्याओ पर, जो छानबीन प्रेरित करती है, सामान्य बुद्धि का प्रयोग मात्र है। इस कार्य में हस्तलिखित प्रतियों को ही आधिकारिक प्रमाण के रूप मे ग्रहण किया जाता है।'*

## आवश्यकता एवं उद्देश्य

आधुनिक युग में मुद्रण यन्त्रों के आविष्कार ने आधुनिक रचनाओं के सपादन की समस्या को समाप्त कर दिया है, किन्तु प्राचीन युग से चली आनेवाली साहित्य-धारा के उचित मूल्याकन के लिए यह आवश्यक होता है कि वैज्ञानिक सपादन द्वारा सर्वप्रथम उसके प्राप्त ग्रंथों का वास्तविक पाठ निर्धारित कर लिया जाय। जब तक किसी ग्रन्थ के वास्तविक पाठ का निर्धारण नहीं हो जाता, उसके सम्बन्ध मे प्रकट किए

---

* Many people tend to regard Textual Criticism as a disease. But it is neither a disease nor a science but simply the application of common sense to a class of problems which beset all enquiries whose evidence rests upon the authority of Manuscript documents.

—Companion to Classical Studies.

विचार प्रायः निरर्थक या भ्रमपूर्ण हो सकते हैं। उदाहरणार्थ, 'पृथ्वीराज रासो' के पाठ को लिया जा सकता है। इस ग्रन्थ की अनेकानेक प्राप्त प्रतियों में भिन्न भिन्न पाठ मिलते हैं। सामान्यतः आकार के हिसाब से इसके चार रूपान्तर हैं। अब प्रश्न यह उठता है कि इनमें से किसे आधार बनाकर रासोकार की काव्य-प्रतिभा, प्रबन्ध-कल्पना तथा अलंकरणवृत्ति का मूल्यांकन किया जाय या रासो की ऐतिहासिकता की परीक्षा की जाय। पाठालोचन का विद्यार्थी भलीभाँति जानता है कि ऐसी दशा जब भी और जहाँ भी उपस्थित हो, उस समय उस रचना के मूलपाठ का अनुसंधान सर्व प्रथम होना चाहिए, तभी उस रचना का वास्तविक मूल्यांकन किया जा सकता है। इस सम्बन्ध में 'ओल्ड टेस्टामेण्ट' के संपादकों का मत दर्शनीय है :

'साहित्य के सभी प्रमुख अध्ययनों का मूलाधार पाठ-निर्धारण है। यह पाठ-निर्धारण उतना सही होना चाहिए जितना सही पाठालोचन की प्रक्रिया द्वारा इसे प्रस्तुत किया जा सके। किन्तु बहुत दिनों तक साहित्य की इस प्रथमावश्यकता पर ही कोई विचार नहीं हुआ।'*

प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर ही वैज्ञानिक संपादन या पाठालोचन का कार्य अग्रसर होता है। पहले, मुद्रण यन्त्रों के अभाव में किसी प्रसिद्ध रचना का प्रचार प्रतिलिपियों के माध्यम से हुआ करता था। लेखक की मूलप्रति से प्रतिलिपि होती थी, पुनः उस प्रतिलिपि की प्रतिलिपि और इसी प्रकार प्रतिलिपियों की एक परम्परा चल पड़ती थी। साधारणतः यह प्रतिलिपि करने का कार्य कुछ पेशेवर प्रतिलिपिकार किया करते थे जो इन प्रतिलिपियों को मेलों, सम्मेलनों या अन्य धार्मिक महत्त्व के अवसरों पर बेचा करते थे। इनके अतिरिक्त अपने अध्ययन के हेतु अथवा स्वान्तः सुखाय भी लोग प्रसिद्ध ग्रन्थों की प्रतिलिपियाँ किया करते थे। यह सामान्य जीवन में ही देखा जा सकता है कि अनुकरण सदैव अपूर्ण होता है। अतः मूल प्रति की प्रतिलिपि में स्वभावतः ही मूलपाठ से कुछ अन्तर आ जाता रहा। इसी प्रकार प्रतिलिपि-परम्परा में क्रमशः अन्तर आने लगता है और प्रायः यह देखा जाता है कि जो प्रति प्रतिलिपि-परम्परा में जितने ही नीचे की होती है, उसमें मूलपाठ से उतना ही अधिक अन्तर हो जाता है। इस प्रकार के अन्तर तो स्वाभाविक रूप से आते हैं। इनके

---

* The basis of all sound study of literature is the construction of a text, as accurate as the criticism can make it, and for a long time this first essential was lacking

—Encyclopaedia Britannica, Vol 3, Page [illegible]

अतिरिक्त कभी कभी प्रतिलिपियों में जानबूझ कर प्रक्षेप की क्रिया की जाती है। यह क्रिया कई उद्देश्यों से की जाती है और इसके कारण तो मूलपाठ और प्रतिलिपियों में महान अन्तर हो जाता है। सामान्यतः यह भी देखा जाता है कि रचना का लेखन-आधार अस्थाई होने के कारण प्राचीन रचनाओं के मूलपाठ की प्रतियाँ प्रायः नहीं ही मिलती हैं और प्रतिलिपियाँ ऊपर वर्णित अन्तरों के कारण प्रायः एक दूसरे से भिन्न पाठ धारण किए हुए मिलती हैं। ऐसी दशा में पाठालोचन के निश्चित सिद्धान्तों के अनुगमन द्वारा हमें मूलपाठ प्राप्त करने की आवश्यकता पड़ती है। वैज्ञानिक विधि का अवलम्बन न करने के कारण अनेकानेक भ्रान्तियों की सम्भावना रहती है।

स्पष्ट है कि पाठालोचन का उद्देश्य रचना के मूलपाठ को प्राप्त करना ही है। इस उद्देश्य से प्रेरित होकर कार्य करते समय पाठालोचक को प्रतिलिपि परम्परा से आए तथा लेखक से इतर उत्पन्न हुए, तत्वों को अलग करना पड़ता है। इस सम्बन्ध में डॉ० विष्णु सीताराम सुकथाङ्कर का यह कथन उल्लेखनीय है कि

'किसी रचना के मूलपाठ के साथ जुड़े हुए ऐसे अशों के सम्बन्ध में, जो सभी प्रतियों मे नहीं प्राप्त होते हैं, विचार करने का एक ही तर्कपूर्ण ढग है कि वे अश शेष पाठ से सावधानीपूर्वक अलग कर लिए जाने चाहिए और उन पर एक एक करके विचार करना चाहिए। ऐसे अशों को मूलपाठ सिद्ध करने का दायित्व उस व्यक्ति पर होता है जो इन अशों के मूल पाठ होने का दावा करता है। हस्तलिखित प्रतियों का साक्ष्य स्पष्टत उनके विरुद्ध है फिर भी इतने मात्र से उनका प्रक्षिप्त होना प्रमाणित नहीं है। कारण यह है कि जुड़े हुए अश का अधिकाश प्रतियों में न प्राप्त होना ही इस तथ्य का सपूर्ण प्रमाण नहीं है कि वे अश प्रक्षिप्त है।'*

इस प्रकार सपात्र रचना के उन भागों को छोड़कर जो सभी शाखा की प्रतियों में प्राप्त होते हैं, शेष की मीमासा लेखानुसगति तथा विषयानुसगति को ध्यान मे रखकर की जाती है तथा मूलपाठ और प्रक्षिप्त पाठ का निराकरण किया जाता है। तात्पर्य यह कि पाठालोचक को प्रतिलिपिकारों की निश्चेष्ट विकृतियों का

* There is only one rational way of dealing with these 'additional' passages, they must be carefully segregated from the rest of the text, and examined individually The onus of proving the originality of these 'additional' passages will naturally rest on him who alleges the originality The documents speak naturally against them, but their evidence is not by any means conclusive

—Critical Studies in Mahabharat (V S Sukthankar Memorial Edition Committee, Poona 1944), Page 246

निराकरण एवं परिहार करना पड़ता है तथा साथ ही उसे प्रक्षेपों का भी निराकरण करना पड़ता है। इस दशा में पाठालोचक को हस्तलिखित प्रतियों के पाठ में कहीं-कहीं सुधार भी प्रस्तुत करना पड़ता है। क्योंकि पाठालोचन का उद्देश्य रचयिता का अभीष्ट पाठ प्राप्त करना माना जाता है। अभीष्ट शब्द के प्रयोग के कारण इसके उद्देश्य को कुछ और स्पष्ट करना आवश्यक प्रतीत होता है। मूलपाठ या अभीष्ट पाठ के शोध के प्रसंग में पाठालोचन की सीमा निर्धारित करते समय हम पाँच स्थितियाँ देते हैं :

(१) लेखक के अभीष्ट पाठ का शोध वैज्ञानिक-विधि से करना तथा प्रतिलिपियों के माध्यम से प्राप्त पाठ में किसी भी प्रकार का परिवर्तन, संशोधन या परिवर्धन न करना।

(२) प्रथम स्थिति से आगे बढ़कर लेखक द्वारा हुई निश्चेष्ट विकृतियों का परिहार भी कर देना।

(३) लेखक की रचना में प्राप्त व्याकरण, छन्द आदि की भूलों का परिहार अपनी ओर से कर देना। साथ ही लेखक जो भाव प्रकट करना चाहता हो उसे प्रकट करने में उसके द्वारा प्रयुक्त शब्दावली यदि समर्थ न हो तो दूसरी शब्दावली स्थानापन्न कर देना।

(४) लेखक द्वारा प्रयुक्त उपयुक्त पाठ के स्थान पर उससे भी सुन्दर लगने वाले पाठ को अपनी ओर से प्रस्तुत कर देना।

(५) लेखक द्वारा प्रस्तुत पाठ यदि प्रबन्ध एवं प्रसग आदि की दृष्टि से अपूर्ण लगता हो तो उसी के छन्द एवं शैली आदि में कुछ पाठ अपनी ओर से बढ़ा देना।

इन सभावित पाँचों स्थितियों मे से मात्र पहली एवं दूसरी स्थिति तक ही पाठालोचक की अधिकार-सीमा निर्धारित होती है। शेष तीन स्थितियाँ तो मूलपाठ के निर्धारण के स्थान पर मूलपाठ में हस्तक्षेप का रूप धारण कर लेती हैं। लेखक द्वारा प्रस्तुत रचना का पाठ चाहे वह शुद्ध रहा हो या अशुद्ध, उपयुक्त हो या अनुपयुक्त, पूर्ण हो या अपूर्ण उसी रूप में प्रस्तुत होना चाहिए। लेखक के अभीष्ट से यही तात्पर्य है कि उसने कौन सा पाठ प्रस्तुत किया होगा। इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि उसे कौन सा पाठ प्रस्तुत करना चाहिए था।

पाठों के सम्बन्ध में प्रतियों के साक्ष्य की उपेक्षा करके जब सपादक उपयुक्त एवं सार्थक पाठों की खोज करने लगता है तो प्रायः यह देखा जाता है कि वह प्रतियों में प्राप्त उन प्राचीन, उपयुक्त एवं सार्थक पाठों को छोड़ देता है जिसका अर्थ वह स्वयं समझने में असमर्थ होता है अथवा जो दुर्बोध होने के कारण सामान्य जनों में ग्राह्य नहीं होते हैं। इस प्रकार की भूलों के अनेक उदाहरण हिन्दी के प्राचीन सपा-

दनों में देखे जा सकते हैं। उदाहरण स्वरूप 'रामचरितमानस' के 'सरासुर' पाठ को लिया जा सकता है जो 'बाणासुर' के लिए आया था पर अर्थ न समझने के कारण परिवर्तित कर दिया गया और कहीं-कहीं 'सुरासुर' पाठ मिलने लगा, जो भ्रष्ट एवं भ्रामक पाठ है। इसी प्रकार पद्मावत के पाठों में भी अनेक स्थलों पर यह क्रिया देखने को मिलती है। इस प्रकार इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि पाठालोचक को अपनी सीमा का सदैव ध्यान रहना चाहिए। अपनी सीमा का अतिक्रमण करने के उपरान्त वह किस समय अपने उद्देश्य से च्युत हो जायगा, कहा नहीं जा सकता।

## विषय-विस्तार

किसी भी शास्त्र के सर्वांगीण ज्ञान के लिए तत्सम्बन्धी अन्य भी बहुत से शास्त्रों का अध्ययन अपेक्षित होता है। जैसे किसी काव्य ग्रन्थ की समालोचना के लिए उस ग्रन्थ के सम्यक् अवगाहन के अतिरिक्त काव्य शास्त्र के नियमों, छन्दःशास्त्र की मर्यादाओं, लोकरुचि, समाज के वातावरण तथा आदर्शों आदि का समुचित ज्ञान भी अनिवार्य होता है, उसी प्रकार पाठालोचन में भी प्राप्त प्रतियों के अध्ययन एवं अनुशीलन से ही सम्पूर्ण कार्य नहीं बनता, प्रत्युत पाठ की दृष्टि से आलोच्य ग्रन्थ के लिए सहायक सामग्री के रूप में प्रयुक्त होने वाले सभी समकालीन प्रबन्धों, लेखों, इतिहास-ग्रन्थों, टीकाओं आदि का अध्ययन एवं अनुशीलन अनिवार्य होता है। यह सम्पूर्ण कार्य तो उसे सम्पादन सामग्री की परीक्षा के रूप में ही करना पड़ता है। साथ ही साथ कुछ शास्त्रों का अध्ययन एवं कुछ विषयों का ज्ञान उससे पहले से ही अपेक्षित होना है। बिना इनके ज्ञान के यह आशा ही नहीं की जा सकती कि वह किसी विषय के ग्रन्थ का पाठालोचन करने का भार अपने ऊपर लेगा। इस दृष्टि से उसे उस ग्रन्थ की भाषा एवं लिपि का वर्तमान एवं विकासात्मक ज्ञान होना चाहिए तथा साथ ही उसे जिन प्रदेशों में और जिन लिपियों में उस ग्रन्थ की प्रतिलिपियाँ मिलती हों उनकी भाषाओं, लिपियों तथा उनकी प्रकृतियों का पूर्णतः ज्ञान होना चाहिए। साथ ही उसे प्राप्त लेखन सामग्री, उनमें प्रयुक्त संवतों तथा उनमें प्रयुक्त छन्दों एवं अन्य अनेक विषयों का सामान्य ज्ञान होना अनिवार्य होता है। इस प्रकार यदि पाठालोचक के ज्ञान एवं उसके गुण के सम्बन्ध में निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किया जाय, तो उपयुक्त होगा

> 'सर्वदेशाक्षराभिज्ञः सर्वशास्त्रविशारदः।
> लेखकः कथितो राज्ञः सर्वाधिकरणेषु वै॥
> शीर्षोपेतान् सुसम्पूर्णान् समश्रेणिगतान् समान्।

अक्षरान् वै लिखेद् यस्तु लेखकः स वरः स्मृतः ॥
उपायवाक्यकुशलः सर्वशास्त्रविशारदः ।
बह्वर्थवक्ता चाल्पेन लेखकः स्याद् भृगूत्तम ॥[1]

पाठालोचक को इतना अधिक ज्ञानबहुल होना अनिवार्य क्यों होता है इस पर हम विस्तारपूर्वक विचार करेंगे।

## १ भाषा एवं लिपि

पाठालोचन की समस्या प्रतिलिपि-परम्परा में उत्पन्न पाठ-प्रमादों के कारण खड़ी होती है। ये पाठ-प्रमाद वैसे कई कारणों से उत्पन्न होते हैं जिनका विशेष विवरण पाठ-विकृतियों के सन्दर्भ में दिया जायगा। प्रमुख रूप से दो कारण इन विकृतियों को प्रभावित करते हैं :

(१) देश-भेद

(२) काल-भेद

देशभेद से तात्पर्य यह है कि किसी ग्रन्थ की प्रतियाँ जब विभिन्न प्रदेशों में पहुँचती हैं तो वहाँ के प्रतिलिपिकार उस प्रदेश की भाषा एवं लिपि सम्बन्धी कुछ संशोधन, उनकी प्रतिलिपियों में स्वभावतः कर दिया करते हैं। उस प्रदेश की प्रतिलिपियों में प्रायः सर्वत्र यह स्थिति देखने को मिलती है। इस प्रकार एक ही ग्रन्थ की विभिन्न प्रदेशों में प्राप्त प्रतिलिपियों में बहुत अन्तर स्पष्टतः देखा जा सकता है। कबीर के पाठ की जो प्रतियाँ पंजाब प्रदेश में प्राप्त हुई हैं उनमें पंजाबी उच्चारण के अनुरूप कुछ विशेषताएँ मिलती हैं जो अन्य प्रदेश की प्राप्त प्रतिलिपियों में नहीं मिलती हैं। इसी प्रकार विभिन्न कालों की प्रतिलिपियों में अन्तर पड़ जाता है, जिन्हें काल भेद के कारण उत्पन्न विकृतियाँ कहा जा सकता है। इन विकृतियों की सम्यक् छानबीन करने के लिए तथा पाठालोचन में उनका उचित समाधान तथा निराकरण प्रस्तुत करने के लिए इस बात की आवश्यकता होती है कि पाठालोचक को भाषा एवं लिपि का बहुविधि ज्ञान हो।

सर्वप्रथम तो उन संपूर्ण प्रदेशों की भाषाएँ एवं लिपियाँ पाठालोचक को अवगत होनी चाहिए, जिन प्रदेशों में संपाद्य रचना की प्रतिलिपियाँ हुई हों तथा जिन स्थानों से ग्रन्थ के रचयिता का सम्बन्ध रहा हो। जैसा उल्लेख हो चुका है कि एक ही रचना की भिन्न-भिन्न प्रदेशों की प्रतियों पर पृथक-पृथक भाषाओं के प्रभाव देख पड़ते हैं। कबीर की भाषा उसके प्रमाण स्वरूप प्रस्तुत की जा सकती है। उनकी प्रतियों में किसी पर राजस्थानी, किसी पर ब्रज, किसी पर पंजाबी, किसी पर भोजपुरी का प्रभाव

---

१ मत्स्य पुराण, अध्याय १८९

देखा जा सकता है। स्पष्टतः यह प्रभाव प्रतिलिपिकारों की कृपा से हुआ संभव प्रतीत होता है क्योंकि लगता है जिस प्रदेश के प्रतिलिपिकार ने प्रतिलिपि करना प्रारम्भ किया होगा, उसने उसमें अपनी भाषा का प्रभाव छोड़ दिया और प्रतिलिपि परम्परा में वे प्रभाव धीरे-धीरे बढ़ते ही गए होंगे। इन प्रभावों को समझने और पुनः उनकी कारण मीमांसा करने के लिए उन विविध भाषाओं का ज्ञान पाठालोचक के लिए अनिवार्य होता है जिनका सम्बन्ध प्रतिलिपि के प्राप्ति-स्थानों से होता है।

इसी भाँति उन स्थानों की लिपियों का भी प्रभाव पड़ता है। साधारणतः यह देखा जाता है कि कुछ लिपि-चिह्नों की बनावट विभिन्न लिपियों में एक सी होती है किन्तु उनका उच्चारण भिन्न होता है। ऐसी दशा में लिप्यन्तर करते समय प्रतिलिपिकार प्रायः भूलकर दिया करते है, जिनसे पाठ विकृतियाँ उत्पन्न हो जाया करती हैं तथा पाठालोचक के सामने कभी-कभी उलझन सी आ खड़ी होती है। इसका भी उदाहरण कबीर के पाठ में हमें मिलता है। पंजाबी उच्चारण के अनुरूप पंजाबी लिपि में कबीर के पदों में प्रायः 'गया' का 'गइआ', 'आया' का 'आइया' आदि रूपों में प्रयोग हुआ है। किन्तु इस प्रादेशिक लिपि एवं उच्चारण सम्बन्धी विशेषता पर ध्यान देते हुए भी डॉ रामकुमार वर्मा सम्पादित कबीर के पाठो में 'गया' का 'गइया' और 'आया का 'आइया' पाठ ही प्रायः दिया है :

'सकल जनम शिवपुरी गवाइया
मरती बार मगहर उठि आइया।'[1]

यही पाठ उन्हें गुरुग्रन्थसाहब में मिला। इस प्रकार की प्रादेशिक लिपि-सम्बन्धी भूलों का अत्यन्त सुन्दर उदाहरण वीसलदेव रास के सम्पादन में डॉ माताप्रसाद गुप्त को मिला। राजस्थानी लिपि के कुछ वर्ण हिन्दी के अन्य वर्णों से रूप-साम्य रखते हैं इस कारण एक प्रतिलिपिकार ने जो कदाचित् किसी राजस्थानी प्रति से नागरी में प्रतिलिपि कर रहा था बहुत सी पाठ सम्बन्धी भूलें कीं। इस सम्बन्ध में डॉ गुप्त का मत है कि यह प्रति किसी ऐसे व्यक्ति द्वारा की हुई है जिसे राजस्थानी लिपि का यथेष्ट ज्ञान नहीं था, इसी कारण अनेक वर्णों और मात्राओं के पढ़ने में भूल हुई। कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं :

उ > नु     नूनउ > नूतनु
च > व     चालीयउ > वालीयउ
[illegible] > व     वुउ > वउ

---

1. सन्त कबीर, पृ० १७

ज > ड : भूनडञी > भूलउडी

ड > ल : आहेडी > आहेजी आदि[1]

ये भूलें उपर्युक्त वर्णों के राजस्थानी एव नागरी में पाए जाने वाले रूप-साम्य के कारण हुईं। इसीलिए इन विकृतियों के निराकरण के हेतु भी ऐसे पडित की आवश्यकता होती है जो उन सभी लिपियों तथा उनकी प्रकृतियों से परिचित हों जिनमें सपाद्य ग्रन्थ की प्रतियाँ मिलती हों अथवा जिन लिपियों में उस ग्रन्थ की प्रारभिक प्रतियाँ या मूल प्रति रही हो।

देश-भेद की ही भाँति लिपि एव भाषा-ज्ञान की एक अन्य दिशा भी है जो काल-भेद से सम्बन्ध रखती है। इससे तात्पर्य यह होता है कि भाषा एवं लिपियाँ स्थिर न होकर विकसित होती रहती हैं। अतः स्वभावतः एक ही भाषा एव लिपि के विभिन्न कालों मे विभिन्न रूप एव उनके विभिन्न प्रयोग मिलने सम्भव होते हैं। अतएव जिस भाषा का ग्रन्थ सम्पादित करना हो उस भाषा का प्रारम्भ से लेकर अन्त तक ऐतिहासिक अध्ययन अनिवार्य होता है। इसके अभाव में साधारणतः सम्पादक द्वारा भाषा के प्राचीन एव दुरूह प्रयोगों के सम्बन्ध में सदैव भूल की सम्भावना बनी रहती है। इसी प्रकार की भूल जायसी के पद्मावत के निम्न पाठ के सम्बन्ध में कुछ लिपियों में हुई :

'नीर होइ तर ऊपर सोई।
महनारम्भ समुद जस होई ॥'

इसमें महनारम्भ जो वास्तव में मन्थनारम्भ ( मन्थन आरम्भ ) का अपभ्रंश रूप है, उसे न समझने के कारण प्रतिलिपिकारों ने बड़ी भूलें की और इसके कई पाठान्तर हुए :

(१) महाअरम्भ
(२) महनामन्थ आदि

इस प्रकार भाषा के पूर्व रूप से लेकर उसके वर्तमान रूप के विकास की सम्पूर्ण सीढ़ियों का परिचय प्राप्त करना अनिवार्य होता है।

काल-भेद के अनुसार लिपियों का भी विकासात्मक अध्ययन अनिवार्य होता है। प्रत्येक लिपि विकास क्रम में वर्तमान स्थिति तक पहुँची है। उसके विकास की प्रायः सभी सीढ़ियों के भूतपूर्व रूपों का प्रयोग में आना सम्भाव्य रहता है, उदाहरणार्थ, नागरी लिपि ही ब्राह्मी लिपि से गुप्त लिपि और कुटिल लिपि से देवनागरी के रूप में

१ वीसलदेव रास, प्र० सस्क० ( भू० ), पृ० ६, ७

आई। अभी अधिक दिन नहीं हुए जब आधे र के लिए पड़ी रेखा प्रयोग में आती थी किन्तु अब वह रूप प्रयोग मे नहीं है। प्राचीन प्रतियों में यह प्रयोग अब भी बहुत मिलता है। इसके ज्ञान के अभाव में सम्पादक से भूल हो सकती है। इस प्रकार सक्षेप मे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि देश भेद एव काल-भेद से उत्पन्न होने वाली पाठ-विकृतियों को समझने एव उनके निराकरण करने के हेतु उस ग्रन्थ से सम्बन्धित देश एव काल सम्बन्धी भाषाओं एव लिपियों का विकासात्मक एव पूर्ण ज्ञान पाठालोचक को अनिवार्यतः होना चाहिए।

## २ छन्दःशास्त्र एव साहित्यशास्त्र

किसी भी काव्य ग्रन्थ का सम्पादन करते समय पाठालोचक को छन्दःशास्त्र के नियमो का ज्ञान अनिवार्य होना चाहिए विशेष रूप से उस रचयिता के व्यक्तिगत प्रयोगो की आवश्यक जानकारी होनी चाहिए। छन्द.शास्त्र के नियमों का ज्ञान जहा पाठालोचक को इस दिशा में सतर्क करता है कि इन नियमों का पालन करने वाला पाठ ग्राह्य और उनका उल्लघन करने वाला पाठ अग्राह्य होता है, वहीं रचयिता के व्यक्तिगत प्रयोग यदि इन नियमों के प्रतिकूल पड़ते हैं तो उस सीमा तक हमें अपवाद रखना पड़ेगा। उदाहरणार्थ, जायसी एव तुलसी दोनों मे ही दोहों और चौपाइयों की मात्राओं का कोई एक सा नियम नहीं मिलता है अतः उनके पाठ के ऊपर परवर्ती काल का निश्चित नियम लादा नहीं जा सकता।

छन्द शास्त्र की ही भाँति साहित्य-शास्त्र की जानकारी अनिवार्य होती है। इसमें विशेषतः उस धारा विशेष की शास्त्रीय जानकारी होनी चाहिए, जिस धारा का ग्रन्थ सम्पादित करना हो। उस धारा की वर्णन शैली, स्तुति, उपमा-उपमान के स्वीकृत प्रयोग आदि का ज्ञान भी होना आवश्यक होता है। इन सभी जानकारियों का उपयोग पाठ सपादन में होता है।

## ३ सन सवत ज्ञान

पाठ-सम्पादन मे प्रतियों का कितना महत्व होता है यह तो प्रकट ही किया जा चुका है। उन प्रतियों में भी प्राचीन प्रतियाँ सामान्यतः नवीन प्रतियों से अधिक महत्व की होती हैं। अतएव उन प्रतियों के प्रतिलिपिकाल का ज्ञान भी अनिवार्य होता है। इसी भाँति रचना का निर्माण काल भी जानना आवश्यक होता है, ताकि उस काल-सम्बन्धी अन्य सहायक सामग्रियों का उपयोग उस ग्रन्थ के सम्पादन मे किया जा सके। प्रतियों का प्रतिलिपिकाल प्रायः उनकी पुष्पिका में दिया जाता है और कभी-कभी ग्रन्थों के रचनाकाल का ग्रन्थ के पाठ मे ही सकेत

मिलता है किन्तु उसके अन्तर्गत किस सन् या संवत का प्रयोग हुआ है यह जानना तब भी शेष रह जाता है क्योंकि भारत में अनेकानेक सवत प्रचलित हैं।

इस प्रकार पाठालोचक या पाठ-सम्पादक को रचना के निर्माण क्षेत्र मे प्रचलित सभी सवतों आदि का ज्ञान होना अनिवार्य होता है। इस सम्बन्ध में कुछ उदाहरण देना समीचीन होगा। वीसलदेव रास के एक समूह की प्रतियों में एक छन्द मिलता है :

'बारह सै बहोत्तरहा मझारि
जेठ बदी नवमी बुधवारि।
नाल्ह रसाइण आरम्भइ।
सारदा तूठी ब्रह्मकुमारि।
कासमीरा मुख मण्डली।
रास प्रगासौं वीसलदे राइ॥'

इसमे प्रयुक्त 'बारह सै बहोत्तरहा' का अर्थ किसी ने १२७२, किसी ने १२१२ लगाया। म म प गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने कार्तिकादि सवत से गणना करके बताया १२७२ ही की जेठ बदी नवमी को बुधवार पड़ता है। अन्य सवतों से गणना करने पर ये दोनों ही सवत अशुद्ध प्रतीत होते थे। इसी प्रकार लेखक को रामचरितमानस की एक प्रति प्राप्त हुई जो प्रतिलिपिकार के अनुसार १२वीं शताब्दी की पड़ती थी। जब तुलसी-साहित्य के विशेषज्ञ एव पाठविज्ञान के मर्मज्ञ डा. माताप्रसाद गुप्त को वह प्रति दिखाई गई तो उन्होंने परीक्षा करके बताया कि उक्त सवत विक्रमी नहीं है प्रत्युत फसली सन् है। इस प्रकार प्रतियों का प्रतिलिपि काल तथा रचना का निर्माणकाल ठीक प्रकार से निर्धारित कर सकने के लिए भारतीय सवतों की पूरी जानकारी अनिवार्य होती है।

## ४. लेखन सामग्री

प्रतियों की पुष्पिका प्रारम्भ या अन्त में होने के कारण प्रायः यह देखा जाता है कि वे पन्ने घिसकर फट जाते हैं और प्रतिलिपि-काल का ज्ञान नहीं हो पाता है। ऐसी दशा मे उनके काल का ज्ञान प्राप्त करने के हेतु उस प्रति की लेखन-सामग्री का ज्ञान प्राप्त करना अनिवार्य हो जाता है। लेखन-सामग्री में, प्रति जिस वस्तु पर लिखी होती है, अर्थात कागज, ताडपत्र, भोजपत्र आदि तथा लेखनी और स्याही आदि आते हैं। इनकी परीक्षा इस जानकारी के साथ होनी चाहिए कि किस काल और किस प्रदेश में, किस लेखन-सामग्री का प्रयोग होता था। इस लेखन-सामग्री के

अध्ययन द्वारा प्रतियों की सापेक्ष्य प्राचीनता का पता लगाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त लेखन सामग्री की सहायता से प्रति के प्रतिलिपि-स्थान का भी पता कभी कभी लग जाता है। जैसे भोजपत्र की प्रतियाँ प्रायः काश्मीर आदि उत्तरी भागों से प्राप्त होती हैं। इसी प्रकार लोहे की शलाकों द्वारा उत्कीर्ण ताड़-पत्र की प्रतियाँ प्राय दक्षिणी भारत की होती है। इस प्रकार लेखन सामग्री भी सम्पादन के कार्य में सहयोग करती है। अत. इनकी भी कालानुसार जानकारी आवश्यक होती है।

इस प्रकार पाठालोचन का विस्तार बहुत ही प्रसरणशील है। इस विषय मे प्रवृत्त होने के पूर्व अत्यन्त ज्ञानराशि सचय तथा अध्यवसाय की आवश्यकता होती है, अन्यथा पदे पदे भूलों एव भ्रान्तियों की सम्भावनाएँ सर्वत्र बनी रहेंगी।

## पाठालोचन तथा साहित्यालोचन

इन दो शब्दों के नामों की समता देखकर सामान्यत ऐसा प्रतीत होने लगा है कि ये दोनों ही समालोचना के अग हैं। वास्तव में इन दोनों शब्दों के नाम के अतिरिक्त इनमें कोई भी साम्य नहीं है। पाठालोचक जहा प्राचीन लेखकों एवं कवियों के मूलपाठ के निर्धारण मात्र का प्रयास करते हैं, वहाँ साहित्यालोचक उस निर्धारित पाठ के आधार पर उस लेखक या कवि का मूल्यांकन करने का प्रयास करते हैं तथा उसकी विशेषताओं, गुणों एव दोषों का उद्घाटन करते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं जहाँ पाठालोचन का कार्य समाप्त हो जाता है, वहाँ से साहित्यालोचन का कार्य प्रारम्भ होता है। साथ ही हम यह भी कह सकते हैं कि पाठालोचन के पूर्व साहित्यालोचन का कार्य उस विशेष कवि या लेखक के सन्दर्भ में असंभव होता है। क्योंकि जब तक कवि या लेखक की रचनाओं का मूल पाठ निर्धारित नहीं हो जायगा, तब तक उसकी कृति के सम्बन्ध में किस आधार पर मत व्यक्त किए जायेंगे। सपादित ग्रन्थों की भूमिकाओं में जहाँ तक सपादक अपने संपादन-साधनों, सामग्रियों, सिद्धान्तों एवं विधियों आदि का विवरण देता है तथा तत्सम्बन्धी अन्य मतों आदि का विवेचन करता है, वहाँ तक तो वह पाठालोचन की परिधि में ही कार्य करता है। इससे आगे लेखक की भाषा, शैली, छद, महाकाव्यत्व आदि पर विचार करना साहित्यालोचन की परिसीमा मे आता है। उदाहरणार्थ, डॉ माताप्रसाद गुप्त की 'जायसी-ग्रन्थावली' की भूमिका पाठालोचन के अन्तर्गत है किन्तु शुक्ल जी की उक्त ग्रन्थ की भूमिका साहित्यालोचन है। 'पृथ्वीराज रासउ' की भूमिका में गुप्त जी जहाँ तक अपने सपादन-सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं, वह पाठालोचन के अन्तगत पड़ता है और जहाँ से उन्होंने आगे की भाषा, छद आदि पर विचार करना प्रारम्भ किया है, वह साहित्यालोचन के

अन्तर्गत आता है। इन दोनो विषयों के अन्तर को स्पष्टतः समझने के लिए निम्न-लिखित बातें ध्यान में रखनी चाहिये :

( १ ) उद्देश्य की दृष्टि से दोनों एक दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं। एक का उद्देश्य रचयिता का मूल-पाठ निर्माण करना है तो दूसरे का उस निर्मित पाठ के आधार पर रचयिता का मूल्यांकन करना है।

( २ ) प्रक्रिया की दृष्टि से भी दोनों एक दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं। जहाँ साहित्यालोचन एक मौलिक प्रक्रिया है और आलोचक के पाण्डित्य, ज्ञान एवं सूझ-बूझ पर पूर्णतया निर्भर होती है, वहाँ पाठालोचन एक नियमचालित वैज्ञानिक प्रक्रिया है जिसमें मूलतः नियमों का अनुगमन अनिवार्य है। पाण्डित्य एवं सूझ बूझ आदि उन नियमों के प्रयोग में सहायक मात्र होते हैं।

( ३ ) फल की दृष्टि से भी दोनों में अन्तर स्पष्ट दीख पड़ता है। पाठालोचन में यदि कई व्यक्ति एक साथ किसी पाठ पर प्रामाणिकता एवं सतर्कता से काम करें तो सभी प्रायः एक ही निष्कर्ष पर पहुँचेंगे, पर साहित्यालोचन व्यक्ति सापेक्ष्य होता है और उसमें 'मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना' की सदैव संभावना रहती है।

इस प्रकार इन दोनों विषयों में मूलतः अन्तर है।

## भारत में पाठानुसंधान की आवश्यकता

अत्यन्त प्राचीन काल से भारत में विद्या के प्रति लोगों का अनुराग रहा है। लेखन कला का ज्ञान भी अत्यन्त प्राचीन काल से यहाँ के लोगों को है। मैक्समूलर के अनुसार निकार्अस का कथन है कि भारतवासी रूई के कागज बनाने की कला से बहुत प्राचीन काल से भिज्ञ हैं। ऐसी दशा में स्वाभाविक ही था कि जब विश्व में लोगों ने लेखन कला का नाम भी न सुना रहा हो, उस समय भारत में ग्रन्थों का निर्माण होता रहा हो। इतने प्राचीन काल से जिस देश में ग्रन्थों का निर्माण होता रहा है, वहाँ मुद्रण यन्त्रों का प्रारम्भ विश्व के लगभग सभी सभ्य देशों से बाद में शुरू हुआ। परिणामस्वरूप हमारी बहुत सी प्राचीन बहुमूल्य सामग्रियाँ अभी अप्रकाशित हैं। बहुत सी तो अभी अप्राप्य हैं। कितनी तो पंसारियों की दूकानों पर फाड़फाड़ कर फेंक दी जाती हैं, तो कितनी व्यक्तिगत संरक्षणों में रखे सड़ जाती हैं। इसमें सन्देह नहीं कि कुछ संस्थाओं ने इन प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज का कार्य बड़ी ही लगन से कराया है। इनमें नागरी प्रचारिणी सभा वाराणसी का नाम उल्लेखनीय है। इनके द्वारा अपने प्राचीन साहित्य की प्रशस्त- परम्परा का पुनर्निर्माण किया जा सकता है।

डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी ने ठीक ही लिखा है कि यदि अश्वघोष के नाटक के कुछ पन्ने मगोलिया की रेत मे सुरक्षित न होते तो हम उसे जान भी न पाते।[1] महापण्डित राहुल साकृत्यायन ने तिब्बत आदि से कुछ भोटिया ग्रन्थों के आधार पर प्राचीन हिन्दी का रूप स्थिर करने का प्रयास किया। ये सारी बातें हमें इस बात का सकेत करती हैं कि हस्तलिखित ग्रन्थों की जो राशि इधर उधर फैली है, उसे एकत्र करना और उनका अनुशीलन करना हमारे साहित्य के लिए वरदान सिद्ध हो सकता है। इस सम्बन्ध में डॉ वासुदेवशरण अग्रवाल का कथन दर्शनीय है :

'भारतवर्ष को ग्रन्थों का देश कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी। वाङ्मय के क्षेत्र में भारतवर्ष की सास्कृतिक निधि इतनी समृद्ध है कि ज्ञात होता है कि साहित्य के किसी महान अधिदेवता ने कुबेर जैसा कोष ही भर दिया है। सस्कृत...पालि... अर्द्धमागधी और प्राकृत ...। अपभ्रंश भाषा जो आर्यभाषाओं की परंपरा में विकास की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी है, अभी कुछ वर्षों से अपने विपुल साहित्य का भडार लिए हुए हमारे दृष्टिपथ में आ गई है ...इस विशाल साहित्य को विधिवत् सुरक्षित, सपादित और प्रकाशित करने के लिए एक बड़े राष्ट्रीय अभियान की आवश्यकता है।'[2]

प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थों की प्राप्ति के उपरान्त उससे भी महत्वपूर्ण कार्य उनके सपादन का होता है, क्योंकि अत्यन्त प्राचीन काल के लिखे गये ग्रन्थों का जो रूप प्रतिलिपियों के माध्यम से विकसित होता है, वह प्रायः उसके मूल रूप से कुछ अन्य ही हो जाता है। उसी ग्रन्थ की विभिन्न हस्तलिखित प्रतियाँ इस बात को सिद्ध करने के लिये पर्याप्त होती हैं। ऐसी दशा मे जो पाठ मुद्रित होकर साहित्य-रसिकों के सम्मुख आना चाहिये, वह इधर उधर से आया हुआ अशुद्ध, भ्रष्ट एव अविश्वसनीय पाठ नहीं होना चाहिये। इसके लिये यह आवश्यक हो जाता है कि उन ग्रन्थों का सपादन पाठालोचन की वैज्ञानिक विधि से किया जाय ताकि पाठों के सम्बन्ध में किये जाने वाले निर्णय निश्चयात्मक हो सकें।

दृष्टि से असंपादित है। जिन ग्रन्थों का संपादन हिन्दी के मान्य महारथियों ने किया है, उन्हें भी चाहिये कि पाठालोचन की विधियों के आधार पर अपने संपादन सामग्री की पुनः परीक्षा करके अपने निष्कर्षों में आवश्यक सुधार करें। यह सम्भव हो सकता है कि वैज्ञानिक विधि का अनुगमन न करने के बाद भी कुछ विद्वान मूलपाठ की शोध में सफल हो जाँय, पर वह शोध अनुमान के आधार पर ही होती है। इसके प्रतिकूल वैज्ञानिक विधि से किया गया संपादन अधिक निश्चयात्मक होता है और साथ ही इस विधि से श्रम एवं समय की भी बचत होती है।

———

# २

# विषय-विभाजन

पाठालोचन का उद्देश्य किसी रचना के मूल पाठ का पुनर्निर्माण करना होता है। अतः इस सम्बन्ध में कार्य करने वाले विद्वानों ने अनुभूति के आधार पर पाठ-पुनर्निर्माण के क्रमागत विकास की सीढ़ियों को ध्यान में रखकर उसके अध्ययन के विभाग प्रस्तुत किये हैं। चूंकि इस विषय में भारत में बहुत बाद में कार्य प्रारम्भ हुआ और इसके पूर्व अन्य भाषाओं की संपादन समस्याओं को सुलझाने का कार्य अन्य देशों में पर्याप्त मात्रा में हो चुका था, अतः भारत में भी उन अनुभवों का प्रयोग बड़ी सरलता से किया जा सकता है और हो भी रहा है। मानव की स्वभाव-जनित भूलें प्रायः प्रत्येक देशवासियों में समान होती हैं, चाहे भाषा और लिपि के स्वभाव के कारण उन भूलों के स्वरूप में अन्तर भले ही हों, परन्तु मूलभूत सिद्धान्तों में प्रायः कम ही अन्तर पड़ता है। इस प्रकार पाश्चात्य भाषाओं के पाठों की समस्या को सुलझाने के लिए जो परम्परित क्रम व्यवहार में आता रहा वह इस प्रकार है :

(१) **सामग्री संग्रह** (Hueristics)—सर्व प्रथम जिस पाठ का पुनर्निर्माण करना हो उससे सम्बन्धित सामग्री का संग्रह करना पड़ता है। इस प्रकार की सामग्री में मुख्य-सामग्री तथा सहायक-सामग्री दो प्रकार की सामग्रियों का संग्रह होता है। इन सामग्रियों का संग्रह जिन भाषाओं में हुआ है और हस्तलिखित पोथियों की सूचियाँ (Descriptive catalogues) तैयार की गई हों, उनकी सहायता से यह कार्य किया जा सकता है। भारत म इस प्रकार का कार्य बहुत कम हुआ है, जो हुआ भी है अधिकांश संस्कृत ग्रन्थों के सम्बन्ध में। फिर भी राजस्थान आदि के विभिन्न सरस्वती भण्डारों, जैन भण्डारों तथा इस प्रकार के अन्य हस्तलिखित ग्रन्थ भण्डारों के सूची-पत्रों, नागरी प्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्टों, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, हिन्दुस्तानी तथा हिन्दी अनुशीलन आदि शोध-पूर्ण पत्रिकाओं में प्रकाशित लेखों में उल्लिखित विवरणों के आधार पर सामग्री संग्रह में सहायता ली जा सकती है।

पहिले सभी अपेक्षित सामग्री एकत्र कर ली जाय । उसके उपरान्त हस्तलिपियों के पत्रों को क्रमबद्ध कर लेना चाहिए । कभी-कभी प्राप्त प्रतियों के पन्ने, जो अलग-अलग पत्रों पर लिखी होती हैं, इधर उधर हो जाते हैं और कभी वे गलत ढग से ग्रथित हो जाते हैं । कोई कोई पन्ने टूट-फूट जाते हैं । आदि और अन्त के पन्ने तो अधिकाश प्रतियों के प्रयोगाधिक्य के कारण फटे हुए रहते हैं । कभी-कभी पत्रों के क्रम को ठीक रखने के लिए आगे वाले पन्ने पर आने वाला शब्द या शब्दाश पहले पन्ने के नीचे अङ्कित कर दिया जाता है इनकी सहायता से भी पन्ने क्रमबद्ध किए जा सकते हैं । इन्हें सकेत-शब्द (catch-words) कहते हैं । पद्मावत की कुछ प्रतियों में यह प्रवृत्ति पाई जाती है । कुछ प्रतियों में पन्नों की क्रम-संख्या अकों में न होकर अक्षरों में दी होती है । यह प्रवृत्ति लक्ष्मणसेन सम्पादित ऋगर्थ दीपिका भाग २ की भूमिका में उल्लिखित हुई है । इन प्रवृत्तियों को समझकर इन पत्रों का क्रम ठीक कर लेना चाहिए ।

इसके उपरान्त सभी उपलब्ध सामग्री की सूक्ष्म-परीक्षा करनी चाहिए । उसके त्रुटित अशों को नोट कर लेना चाहिए । जिन प्रतियों की पुष्पिका आदि दी हुई हो उनकी प्रामाणिकता की परीक्षा करके उनके आधार पर उन प्रतियों के तिथि-क्रम को निर्धारित किया जा सकता है । इसके उपरान्त उनकी तुलना करनी चाहिए । तुलना में एक एक पक्ति को अत्यन्त सावधानी से पढ़कर प्रत्येक प्रति से उसकी तुलना करनी चाहिए और उसके निष्कर्षों को निम्नाकित ढग से मिलाना चाहिए ।

| प्रतियाँ | १ | २ | ३ | ४ | ५ | विशेष |
|---|---|---|---|---|---|---|
| प्रति न० १ | तेहिं | वन | निकट | दशानन | गयऊ | |
| प्रति न० २ | " | सन | " | " | " | |
| प्रति न० ३ | " | छन | " | " | " | |

इसी विवरण में त्रुटित, छूटे हुए तथा अन्य किसी भी प्रकार की विशेष बात को नोट कर लेना चाहिए। इतनी क्रिया के उपरान्त सामग्री-सग्रह (Huenstics) का कार्य समाप्त समझना चाहिए ।

(२) **पाठ चयन** (Recension)—पाठ-चयन ही की क्रिया वस्तुतः पाठालोचन की मूल क्रिया है । इसमें हम सामग्री सग्रह में किए गए सूक्ष्म निरीक्षणों

के आधार पर प्रतियों का सम्बन्ध निर्धारित करते हैं और उनका वंशक्रमानुसार वर्गीकरण करते हैं। पाठालोचन के कुछ विशिष्ट नियमों के आधार पर, यदि प्रत्येक शाखा की प्रतियों की आदर्श प्रतियाँ उपलब्ध न हों तो, उन शाखाओं के कल्पित आदर्श का पाठ निर्धारित करते हैं और अन्त में उन कल्पित आदर्शों या आदर्शों के पाठ की तुलना द्वारा कल्पित मूलादर्श के पाठ तक पहुँचते हैं जो पाठ रचना के अभीष्ट पाठ के अति निकट होता है। यह प्रक्रिया किन सिद्धान्तों के आधार पर होती है इसे आगे विस्तार से देखा जायगा।

(३) **पाठ-सुधार** (Emendation)—जिन स्थानों के पाठ की समस्या पाठ-निर्माण की विधि से नहीं हल की जा सकती है, उसके लिए पाठालोचक एक पग आगे बढ़कर पाठसुधार का अस्त्र ग्रहण करता है। यह समस्या उन पाठों के सम्बन्ध में खड़ी होती है जो उस कृति की सभी उपलब्ध प्रतिलिपियों में भ्रष्ट रूप में मिलते हैं और किसी भी प्रकार के कवि-प्रयोग-सिद्ध नहीं कहे जा सकते तथा प्रसगा-नुकूल नहीं होते हैं। वहाँ पर पाठालोचक पाठ सुधार कर सकता है परन्तु उसके द्वारा किया गया पाठ सुधार लेखानुसगत और विषयानुसगत होना चाहिए अर्थात् वह वहिरग और अन्तरग सम्भावनाओं द्वारा पुष्ट होना चाहिए।

(४) **उच्चतर आलोचन** (Higher Criticism)—पाठ की सम्पूर्ण समस्याओं को हल कर लेने के उपरान्त भी एक बात छूट जाती है जो जिज्ञासु पाठकों की मनस्तुष्टि के लिए तथा परवर्ती विद्वानों के उपयोग के लिये दे देनी अनिवार्य होती है। वह है पाठालोचन के लिये उपलब्ध सामग्री का उल्लेख, सम्पादन के मानदण्डों की रूपरेखा तथा विवाद-ग्रस्त पाठों के सम्बन्ध मे पाठालोचक का निर्णय और उनके कारण। इन प्रमुख बातों के उल्लेख के साथ उस रचना के निर्माण-काल तथा उसकी प्रतिलिपियों में प्राचीनतम का लिपिकाल आदि निर्धारण और यदि रचनाकार के सम्बन्ध में विवाद हो तो उसका निर्धारण आदि करना भी पाठालोचक का कर्त्तव्य है। ये बातें प्रायः भूमिका में दे दी जाती हैं। हिन्दी के पुराने सपादकों ने इस प्रकार का आलोचन न देकर उस कृति के साहित्यिक मूल्य के उद्घाटन में सैकड़ो पन्ने रगे हैं, जो सम्भवतः उनका उद्देश्य नहीं है और जिन बातो का उल्लेख होना चाहिए था वे उसे छोड़ गए हैं। परन्तु नये पाठालोचक उस पुरानी लकीर को छोड़कर अपनी वैज्ञानिक सपादन की सामग्री तथा सम्पूर्ण विधियों का स्पष्टतः उल्लेख कर देते हैं।

## ३

# सम्पादन सामग्री

किसी रचनाकार के मूलपाठ को पुनर्निर्मित करने के हेतु जिस वैज्ञानिक प्रक्रिया का अनुगमन करना अभिप्रेत होता है, उसके लिए जिन आधारों की आवश्यकना होती है उन्हें 'सपादन सामग्री' का नाम दिया जा सकता है। इस सामग्री की परिसीमा में वे सभी लेख आ जाते हैं जिनके आधार पर पाठालोचन का कार्य आगे बढ़ता है। वे लेख उपयोगी हों या अनुपयोगी, आधिकारिक हों या अनधिकारिक—सभी सामग्री के अन्तर्गत आ सकते हैं। यह प्रश्न तो उस समय उपस्थित होता है जब सामग्री का मथन करके उसका मूल्य-निर्धारण किया जाता है। इस मूल्य निर्धारण में पाठ विकृतियों की छान-बीन तथा उनके आधार पर सामग्री को सापेक्षिक महत्त्व की दृष्टि से वर्गीकृत करते हैं।[1] यहाँ तो सभी उपलब्ध लेखों को सामग्री का नाम देना उचित है क्योंकि कभी-कभी अत्यन्त भ्रष्ट पाठ की प्रतियाँ मूल पाठ तक पहुँचने में सहायक होती हैं। अतएव जिन लेखों के द्वारा किसी भी रूप में पाठालोचन के कार्य में सहायता मिले उन्हें सामग्री के अन्तर्गत माना जा सकता है। सामग्री को विद्वानों ने दो भागों में विभाजित किया है :

(अ) मुख्य सामग्री

(ब) सहायक-सामग्री

### मुख्य-सामग्री

जिन हस्तलेखों में प्रस्तुत रचना का पाठ मिलता हो उन्हें मुख्य सामग्री कहा जा सकता है। इस वर्ग के अन्तगत प्रायः प्रस्तुत सपाद्य रचना की हस्तलिखित प्रतियाँ आती हैं जो मुद्रण के पूर्व हाथ द्वारा लिखी गई हों। ये प्रतियाँ परिशिष्ट में वर्णित अनेक लेखन-आधारों में से ताड़पत्र, भोजपत्र, कागज, कपड़ा अथवा पत्थर आदि किसी

१ देखिए 'प्रतिलिपिकार और पाठ-विकृतियाँ'।

पर भी हो सकती हैं।[1] 'हरिकेलि' तथा 'ललित विग्रह' नाटक जो सम्पूर्णतः प्रस्तर पर उत्कीर्ण किए गए थे तथा जिनकी दो-दो शिलाएँ अभी उपलब्ध हैं तथा अजमेर के राजपूताना सग्रहालय में सुरक्षित हैं, वे उक्त नाटक के पाठालोचक के लिए मुख्य-सामग्रियों में होंगी। हस्तलिखित प्रतियाँ चाहे वे मूल पाठ को सुरक्षित रखती हों या पाठ-प्रमाद एव प्रक्षेपों के कारण अति भ्रष्ट हों, मुख्य-सामग्री के अन्तर्गत आती हैं। इस प्रकार मानस की 'छक्कनलाल' एव 'कोदव राम' समूह की प्रतियाँ जो पाठ की दृष्टि से अत्यन्त भ्रष्ट हैं, मुख्य-सामग्री के अन्तर्गत आती हैं।[2] इन प्रतियों का परिचय सूचियों द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। इस दिशा में सब से प्राचीन पोथी प कवीन्द्राचार्य काशीवाले की है। इधर नागरी प्रचारिणी सभा की ओर से प्रकाशित होने वाले विभिन्न वार्षिक-विवरणों में दी हुई हस्तलिखित पुस्तकों की सूचियों से पर्याप्त सहायता ली जा सकती है। राजस्थान के विभिन्न भाण्डागारों की सूचियाँ, जिनमे हस्तलिखित पोथियों के संग्रह हैं तथा इस प्रकार की अन्य हस्तलिखित पोथियों के सग्रहालयों की सूचियों से सहायता ली जा सकती है। मुख्य-सामग्री को साधारणतया तीन भागों में विभाजित करते हैं—(१) स्वहस्त लेख (Autograph), (२) प्रथम प्रतिलिपि (Immediate copy of the autograph), (३) प्रतिलिपि की प्रतिलिपि (Copy of the copy)।

**स्वहस्तलेख**—लेखक या कवि के हाथ की लिखी हुई मूल प्रति को स्वहस्त लेख कहते हैं। इस प्रकार की प्रति के प्राप्त हो जाने पर पाठ की सम्पूर्ण समस्या ही समाप्त हो जाती है और पाठालोचक का कार्य सामान्य मुद्रणकर्ता की सावधानी के समकक्ष ही रहता है। किन्तु प्राचीन लेखकों के स्वहस्तलेख बहुत ही कम या यों कहा जाय कि प्रायः नहीं ही मिलते हैं। स्वहस्तलेख के अन्तर्गत वह सामग्री भी आती है जिसे रचयिता के निर्देशन में तैयार किया जाता है तथा वह उसे पूर्णतया पढ़कर सशोधित कर देता है। 'मानस' की अयोध्या की प्रति के सम्बन्ध में लोगों का यह कहना था कि उस पर किए गए सशोधन स्वय तुलसीदास के हाथ से किए गए हैं। उसकी रचना तिथि को भी १६६१ वि लिखकर उसकी रचना को तुलसी की काल-सीमा में लाने का प्रयास किया गया। किन्तु डॉ माताप्रसाद गुप्त ने यह प्रमाणित कर दिया कि यह प्रति १६६१ वि की है तथा इस पर किए गए सशोधन तुलसी कृत नहीं हो सकते। इसी प्रकार राजापुर वाली प्रति के सम्बन्ध में भी तुलसी के स्वहस्त लेख होने

१. विस्तार के लिए—भारतीय प्राचीन लिपिमाला—गौ० ही० ओझा।
२ रामचरितमानस का पाठ—डॉ माताप्रसाद गुप्त।

की बात कही जाती है। पर वह भी पूर्णतया भ्रान्त है।[1] यदि इन दोनों प्रतियों में से किसी का भी तुलसी के हाथ का लिखा जाना, सशोधित किया जाना या उनके निर्देशन में तैयार होना प्रमाणित हो जाता तो ये उनकी स्वहस्तलिखित प्रतियाँ कही जातीं और इनका सम्पादन-मूल्य बहुत अधिक होता।

इस प्रकार की प्राप्त सामग्री में सम्पादक का कार्य प्राय: नगण्य होता है। वह पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादकों की भाँति लेखक की मात्रा, शब्द आदि की सामान्य भूलों को सुधार देता है। इस दशा में भी वह सुधार तभी करता है जब उसे लेखानुसगतियों से यह पता चल जाय कि लेखक का अभीष्ट कुछ और था किन्तु प्रमादवश अमुक शब्द या मात्रा लिखने से रह गए। इसी प्रकार शिलालेखों आदि के रूप में भी प्राप्त सामग्री का सुधार सम्पादक कर सकता है, जहाँ तक लेखक एव उत्कीर्णकर्ता की भूलों का प्रश्न है।

**प्रथम प्रतिलिपि**—स्वहस्त लेख से जिस प्रति की प्रतिलिपि की गई हो वह इस वर्ग के अन्तर्गत आती है। जिस प्रतिलिपि का आदर्श[2] रचयिता की मूल प्रति ही हो, उसे प्रथम प्रतिलिपि कहा जा सकता है। प्रथम प्रतिलिपि एक भी हो सकती है तथा कई भी हो सकती हैं। जिन-जिन प्रतियों को मूल प्रति से अनुकृत किया जाता है सभी को प्रथम प्रतिलिपि के नाम से अभिहित करते हैं।

**प्रतिलिपि की प्रतिलिपि**—किसी भी लोकप्रिय रचना का प्रसार पहले प्रतिलिपियों के माध्यम से हुआ करता था। ये प्रतिलिपियाँ सदैव मूल प्रति से नहीं होती थीं, प्रत्युत प्रतिलिपियों की प्रतिलिपि की जाती थी और यह परम्परा निरन्तर चलती रहती थी। मान लीजिए किसी रचना की एक प्रतिलिपि किन्हीं महाशय के पास है और वे उसे लेकर तीर्थयात्रा पर गए। वहाँ पर किसी अन्य ने उसकी प्रतिलिपि कर ली और पुनः उस प्रतिलिपि से किसी अन्य विद्या-व्यसनी ने प्रतिलिपि करा ली। इस प्रकार प्रतिलिपियों की एक परम्परा चल पड़ती है। इस प्रकार की सभी प्रतिलिपियाँ इस वर्ग के अतर्गत

---

१ रामचरितमानस का पाठ—डॉ माताप्रसाद गुप्त।

२ आदर्श (Exemplar) उसे कहते हैं जिस प्रति से कोई प्रतिलिपि की जाय। जिस भी प्रति से प्रतिलिपि की जाय उसे उस प्रतिलिपि का आदर्श कहते हैं। यह लेखक की मूल प्रति भी हो सकती है या अन्य कोई। डॉ सुकथाकर ने ऐसी प्रति को 'आदर्श पुस्तकम्' नाम दिया है। डॉ कात्रे ने 'आदर्श प्रति' की परिभाषा इन शब्दों में की है : 'a codex which forms a co 'py' for further transcription, a model or original source from which transcripts are directly made'.

आती हैं। इस प्रकार की प्रतिलिपियों मे स्वभावतः निश्चेष्ट विकृतियों का आना सम्भव है। प्रथम प्रतिलिपि की विकृतियाँ तो आगामी प्रतिलिपि में आ ही जाती हैं साथ ही आगामी प्रतिलिपिकारों के दृष्टि-भ्रम एव लेखन-प्रमाद से क्रमशः विकृतियाँ बढ़ती ही जाती हैं। कल्पना कीजिए कि मूल प्रति 'अ' है और उसकी प्रथम प्रतिलिपि 'ब' है तथा उस प्रतिलिपि की अवान्तर प्रतिलिपि 'स' है। यदि 'ब' और 'स' के प्रतिलिपि-कार क्रमशः पाच पाच प्रतिशत भूलें करें तो उनके द्वारा तैयार की गई प्रतिलिपियों की शुद्धता सापेक्षिक ढग से क्रमशः इस प्रकार होगी :

| | | |
|---|---|---|
| 'अ' | मूल प्रति | =१००% शुद्ध |
| 'ब' | प्रथम प्रतिलिपि | =६५% शुद्ध |
| 'स' | प्रतिलिपि की प्रतिलिपि | =६१ १% शुद्ध |

यदि 'स' प्रतिलिपि की भी आदर्श मूल प्रति 'अ' होगी तो वह भी ६५% शुद्ध होगी। किसी मूल प्रति से अ, ब, स, तीन प्रथम प्रतिलिपियाँ हुईं। पुनः उन प्रतिलिपियों की भी दो-दो प्रतिलिपियाँ हुई तो उनकी शाखा का निर्माण इस प्रकार होगा :
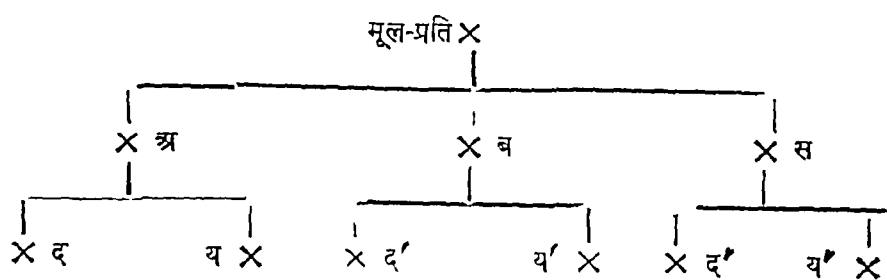
इनमें द, य, द,' य' तथा द", य" प्रतिलिपि की प्रतिलिपियाँ हैं। इनमें अ, ब, स की अपेक्षा पाठ विकृतियाँ अवश्य अधिक होंगी।

इस प्रकार प्रतिलिपि परम्परा मे यदि प्रतिलिपिकार ईमानदार न हुआ और वह अपने गुणों को भलीभाँति न जानता रहा[1] तो प्रक्षेप की भी सम्भावनाएँ रहती हैं। प्रक्षेप की प्रवृत्ति के कारण तो कभी-कभी रचनाएँ इस प्रकार बदल जाती हैं कि उनके मूल रूप और प्रक्षिप्त प्रति में कोई समता ही नहीं रह जाती। पृथ्वीराज रासो के वृहत्, मध्यम, लघु तथा लघुतर चार पाठों की प्रतियाँ इसी प्रवृत्ति की द्योतक हैं। पाठ वृद्धि की प्रवृत्ति के कारण कबीर, मीरा, सूर तथा अन्य सतों के पदों के साथ अन्य सतों

१ देखिए 'प्रतिलिपिकार और पाठ विकृतियाँ'।

के पद मिला दिए जाते है यह देखा जा सकता है।[1] कभी-कभी यह कार्य साम्प्रदायिक दृष्टि से भी किया जाता है। 'मानस' में इस प्रकार का पाठ परिवर्तन बड़ी स्वच्छन्दता से होता रहा है। कुछ लोगों ने जो राम को विष्णु का अवतार माननेवाले वैष्णवों से मतैक्य नहीं रखते, 'मानस' के मूल पाठ 'निज आयुध भुज चारी' को 'निज आयुध भुज धारी' में परिवर्तित कर दिया।

इस प्रकार प्रतिलिपि परम्परा में पाठ प्रायः अपने मूल रूप मे सुरक्षित न रह कर अनेक विकृतियों से युक्त हो जाता है। और इसी कारण विभिन्न शाखाओं के पाठों में वैषम्य मिलता है। इन्हीं समस्याओं के बीच पाठालोचक को अपना कार्य करना पड़ता है। इसका विस्तारपूर्वक विवेचन 'पाठचयन' शीर्षक के अन्तर्गत किया जायगा।

इस वर्गीकरण के अतिरिक्त पाठ की शुद्धि एव मिश्रण के आधार पर प्रतियों के दो भाग किए जाते हैं :

(१) शुद्ध पाठ की प्रतियाँ, (२) मिश्र पाठ की प्रतियाँ।

## शुद्ध पाठ की प्रतियाँ

पाठ-विकृतियों के आधार पर प्रतियों के शाखागत क्रम के निर्धारण करते समय यह स्पष्ट रूप से देखा जाता है कि एक शाखा के अन्तर्गत वे ही प्रतियाँ आती हैं जिनका एक दूसरे से प्रतिलिपि सम्बन्ध स्पष्ट रूप से बैठाया जा सके। इस प्रकार किसी भी एक निश्चित शाखा के पाठ को ही सुरक्षित रखने वाली प्रति को शुद्ध पाठ की प्रति कहते हैं। यहा 'शुद्ध' शब्द का प्रयोग शाब्दिक न होकर पारिभाषिक है। शुद्ध पाठ की प्रतियों को सापेक्षिक रूप से सरलता से तब समझा जा सकता है जब मिश्रपाठ की प्रतियों का भी विवरण पढ़ लिया जाय। कल्पना कीजिए 'अ' आदर्श की 'ब' 'स' दो प्रतिलिपियाँ हुई, पुनः 'ब' की 'द' 'य' तथा 'स' की 'क' 'ख' प्रतिलिपियाँ हुई :
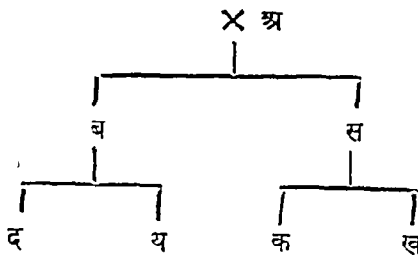
[1] देखिए मेरा लेख 'भीखा साहब—व्यक्तित्व और विचार', हिन्दुस्तानी, भाग १६, स० ४, पृष्ठ ८१।

प्रस्तुत उदाहरण म सभी उपलब्ध प्रतियाँ शुद्ध पाठ की प्रतियाँ हैं।

## मिश्र पाठ की प्रतियाँ

शुद्ध पाठ की प्रतियों के प्रसग में जहाँ हमने देखा कि उनमें किसी एक विशिष्ट शाखा का पाठ सुरक्षित रहता है, वहाँ मिश्र पाठ की प्रतियों में दो या दो से अधिक शाखाओं का पाठ मिश्रित हो जाता है। इस प्रकार के पाठ की सभावना उस दशा में होती है जब प्रतिलिपिकार दो या दो से अधिक प्रतियों की तुलना करके अपनी प्रतिलिपि तैयार कर रहा हो और वे प्रतियाँ दो या दो से अधिक शाखाओं की प्रतियाँ हों। ऐसी दशा में जहाँ एक शाखा में कुछ कम पाठ होगा और दूसरी में अधिक, प्रतिलिपिकार उसे भी उतार लेता है चाहे वह प्रक्षेप ही क्यों न हो। इसी प्रकार विकृतियों के सबन्ध में भी वह उनका चुनाव कार्य करने लग जाता है चाहे वह भले ही अदूरदर्शितापूर्ण हो। स्पष्ट है, इस प्रकार के प्रतिलिपिकार मनमाने ढग से कभी इस शाखा का पाठ और कभी उस शाखा का पाठ ग्रहण कर लेत हैं। परिणामस्वरूप दोनों शाखाओं की कुछ कुछ विकृतियाँ उनके अन्तर्गत आ जाती हैं और इन्हीं विकृतियों के आधार पर उनकी पहचान होती है। इस सम्बन्ध में डॉ पोस्टगेट का कथन है कि जिन प्रतियों में जितना ही अधिक पाठ मिश्रण होता है उनके श्रोतों का पता लगा पाना उतना ही कठिन होता है।*

पाठ मिश्रण की स्थिति एक अन्य ढंग से भी उपस्थित हो सकती है। मान लीजिए किसी व्यक्ति ने अपनी प्रतिलिपि को किसी अन्य शाखा की प्रति से मिलाया है और पाठ-भेदों को हाशिए मे नोट कर दिया है। आगे चलकर किसी ने उस प्रति से प्रतिलिपि की और उसने हाशिए के पाठों को भी मूल में मिश्रित कर दिया। इस प्रकार भी एक मिश्र पाठ की प्रति तैयार हो सकती है। मिश्र पाठ की प्रतियाँ शुद्ध पाठ की प्रतियों की अपेक्षा पाठालोचक की दृष्टि से बहुत ही कम महत्त्व रखती हैं। विशेषत. उस दशा में जब उस प्रति के दोनों 'आदर्श' उपलब्ध हों जिनके आधार पर वह तैयार की गई हो। यदि उन प्रतियों में से, जिनके आधार पर उसका पाठ

---

* These are manuscripts produced by 'crossing' or 'intermixture'. ...Intermixture may take place to any extent, and the more of it there has been, the more difficult does it become to trace the transmission of the text Whether crossing improves a given text or not, depends ultimately on the knowledge and judgment of the crosser, and these will vary indefinitely'

—Encyclopaedia Britannica, Vol 22.

तैयार किया गया है, कोई प्रति उपलब्ध न हो तो इस प्रकार की प्रति का इस अर्थ में उपयोग हो सकता है कि इसके द्वारा अनुपलब्ध प्रति का पाठ जानने में सुविधा हो सकती है। इस प्रकार की प्रतियों को मिश्र पाठ की प्रति ( Mixed Codics or Misch Codics or Conflated Mss ) कहते है। उदाहरण स्वरूप कल्पना कीजिए 'अ' और 'च' दो स्वतन्त्र शाखाओं की प्रतियाँ हैं, इन दोनों के पाठों को मिश्रित करके 'स' प्रतिलिपि तैयार की गई। यह 'स' मिश्र पाठ की प्रति कही जायगी :
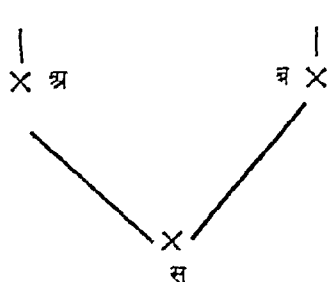
शुद्ध पाठ की प्रतियाँ तो बहुतायत से मिलती ही हैं किन्तु मिश्र पाठ की प्रतियों के भी उदाहरण कम नहीं मिलते हैं। 'मानस' की स १७२१, स १७६२ तथा १६६१ एवं १७०४ की प्रतियों के पाठ-सम्बन्ध को निर्धारित करने के बाद डॉ गुप्त ने अनुमान लगाया कि इन दो शाखाओं में परस्पर साम्य इनका एक शाखा का होना तो सिद्ध करता है किन्तु इनमें वैषम्य का बहुत बड़ा भाग यह लक्षित करता है कि इनमें से किसी एक शाखा पर अवश्य किसी तीसरी शाखा का प्रभाव पड़ा होगा।[1] वह प्रभावित प्रति यदि निर्णीत हो पाती तो मिश्र पाठ की प्रति होती। बीसलदेव रासो की प्राप्त प्रतियों के पाठ-सम्बन्ध निर्धारण मे डॉ गुप्त को पाठ-मिश्रण बहुत मिला है।[2]

प्रतियों का वर्गीकरण एक अन्य ढग से भी किया जाता है, वह उनकी प्राप्ति और अप्राप्ति के आधार पर :

( १ ) उपलब्ध प्रतियाँ, (२) अनुपलब्ध प्रतियाँ।

उपलब्ध प्रतियाँ

प्रत्येक देश में जहाँ की सभ्यता एव सस्कृति कुछ ही वर्षों प्राचीन रहती है, वहाँ मुद्रण के आविष्कार के पूर्व कुछ हस्तलिखित ग्रथ लिखे जाते रहे हैं। उनकी

१ मानस का पाठ—डा० माताप्रसाद गुप्त।

२ बीसलदेव रास की भूमिका।

खोज के उपरान्त किसी प्रमुख सपाद्य रचना की जो प्रतियाँ उपलब्ध होती हैं उन्हें इस वर्ग के अन्तर्गत रखा जाता है।

### अनुपलब्ध प्रतियाँ

किन्तु यह अनिवार्य नहीं होता कि किसी रचना की सभी प्रतियाँ जो क्रमशः तैयार की गई हों उपलब्ध हो जाँय। बहुत-सी बीच के क्रम की प्रतियाँ न भी प्राप्त होती हैं। पाठालोचक अपने कार्य को सुचारु रूप से सम्पन्न करने के लिए अनुपलब्ध प्रतियों का भी अनुमान लगाता है। अनुपलब्ध प्रतियों के उस वर्ग को जिनका अनुमान पाठालोचक को निश्चित रूप से लग जाता है इस वर्ग के अन्तर्गत रखा जा सकता है। अब प्रश्न यह उठता है कि पाठालोचक को इस प्रकार की प्रतियों का अनुमान किस प्रकार लगता है। कहा जा चुका है कि मानव स्वभाव की दुर्बलतावश प्रतिलिपियों की शाखा के आगामी स्तरों में पाठ विकृतियों का क्रम बढ़ता ही जाता है। साथ ही उनमें यह प्रवृत्ति भी देखी जाती है कि वे अपने 'आदर्श' की विकृतियों को तो पूर्णतया ग्रहण ही कर लेती हैं तथा साथ ही उसमें अपनी भी कुछ विकृतियाँ मिला देती हैं। इन्हीं विकृतियों के सूक्ष्म अध्ययन द्वारा पाठालोचक अनुपलब्ध प्रतियों तक पहुँचता है। मान लीजिए, किसी एक शाखा की तीन प्रतियाँ उपलब्ध हैं जिनमें से प्रथम में केवल ( अ+ब ) विकृतियाँ हैं। द्वितीय में (अ+ब+स+र+य)विकृतियाँ उपस्थित हैं तथा तृतीय में (अ+ब+स+य+क ) विकृतियाँ उपस्थित हैं। इससे इतना तो अनुमान हो ही जाता है कि प्रथम प्रति की प्रतिलिपि परम्परा में नीचे इन दो प्रतियों का स्थान पड़ता है क्योंकि प्रथम प्रति की विकृतियाँ इन दोनों में ग्रहण की गई हैं। साथ ही यह भी स्पष्ट है कि अन्य दोनों प्रतियाँ किसी एक दूसरी प्रति की प्रतिलिपि नहीं हैं क्योंकि इनमें से किसी एक की सम्पूर्ण विकृतियाँ दूसरी में नहीं आ पाई हैं तथा प्रथम प्रति की अ+ब विकृतियों के अतिरिक्त एक 'स' विकृति भी दोनों में सामान्य है। अतः यह सिद्ध होता है कि ये दोनों प्रतियाँ किसी (अ+ब+स ) विकृति वाली प्रति की प्रतिलिपियाँ हैं और वह इनकी आदर्श की, जो अनुपलब्ध प्रति है। इस प्रकार एक अनुपलब्ध प्रति का अस्तित्व निश्चित हुआ।

× प्रथम प्राप्त प्रति ( अ+ब) विकृतियाँ

|

× अनुपलब्ध प्रति (अ+ब+स) विकृतियाँ

| द्वितीय प्राप्त प्रति | तृतीय प्राप्त प्रति |
|---|---|
| (अ+ब+स+र+य) विकृतियाँ | (अ+ब+स+य+क) विकृतियाँ |

इन प्रकार की अनुपलब्ध प्रतियों के अनुमान द्वारा और उनके पाठ के निर्माण द्वारा पाठालोचक को अपने कार्य में बड़ी सहायता मिलती है। इसी प्रकार वह विभिन्न शाखाओं के कल्पित आदर्शों के पाठ का पता लगाता है और तत्पश्चात् उनके द्वारा कल्पित मूलादर्श ( Archetype ) के पाठ का निर्माण करता है जो उसका अभिप्रेत होता है। इसका विशद विवेचन 'पाठ चयन' के अन्तर्गत किया जायगा।

## सहायक-सामग्री

सहायक सामग्री से तात्पर्य उस सामग्री से होता है, जिसको पाठालोचक आधार के रूप में न प्रयुक्त करके, जिसकी सहायता मात्र लेता है। यह उस प्रस्तुत रचना के समग्र पाठ के रूप में न होकर उसके उद्धरण, सकलन आदि के रूप में होती है। केवल इस प्रकार की सामग्री के आधार पर ही किसी रचना का सम्पादन नहीं किया जा सकता, प्रत्युत इससे उक्त ग्रथ के सपादन में सहायता मात्र ली जा सकती है, इसीलिए इसे सहायक सामग्री कहा जाता है। सहायक-सामग्री के रूप में प्राप्त होने वाली सामग्रियों में से प्रमुख का उल्लेख इस प्रकार किया जा सकता है :

(१) **संग्रह ग्रंथ**—प्राचीन काल में अच्छे-अच्छे कवियों की तथा लेखकों की रचनाओं के सग्रह-ग्रथ तैयार करने की प्रथा थी। इस प्रकार के सग्रहों में बहुत-से कवियों की रचनाएँ सगृहीत रहती थीं। जिस कवि की कृति का पाठालोचन करना हो, उसकी रचना के छदों की भाषा, रूपरेखा तथा सग्रह में प्राप्त छदों के पाठ का पता उक्त सग्रह में सकलित छदों से लगाया जा सकता है। इस प्रकार के सग्रह ग्रथों में मुनि जिनविजय का 'पुरातन-प्रबन्ध सग्रह' अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसमें पृथ्वीराज रासो के कुछ छद मिलते हैं जिन्हें उक्त रचना का पाठालोचक सहायक सामग्री के रूप में ग्रहण कर सकता है। इस प्रकार के अन्य भी बहुत से सग्रह-ग्रथ उपलब्ध हैं यथा 'शार्ङ्गधर पद्धति', कालिदासकृत 'हजारा' जिसमें हजार कवियों की सुन्दर रचनाएँ सगृहीत कही जाती हैं। 'षट्ऋतु हजारा', 'सत वाणी सग्रह' आदि भी इसी प्रकार के सग्रह ग्रथों में आते हैं। इन सभी सग्रहों का उपयोग पाठालोचक कर सकता है किंतु इनके उपयोग में बड़ी सतर्कता की आवश्यकता होती है। सग्रहकर्ता का काल विचारणीय होता है कि वह रचनाकार का समकालीन रहा है या वह उससे पर्याप्त बाद में हुआ है। यदि वह अधिक परवर्ती रहा है तो हो सकता है वह उसके मूल पाठ का सग्रह न कर सका हो। उक्त उद्धरण की भाषा एव शैली की तुलना लेखक या कवि-सम्मत अन्य प्रयोगों से करनी चाहिए। यह भी विचारणीय होता है कि वह लेखक की रचना है भी या नहीं। कभी-कभी साम्प्रदायिक सग्रहों में किसी प्रसिद्ध कवि के नाम की

छाप लगाकर उस सम्प्रदाय सम्बन्धी रचनाएँ सगृहीत कर दी जाती हैं। इस प्रकार की सतर्कता किसी भी सहायक सामग्री के सबध में रखनी चाहिए।

सग्रह-ग्रथों के अन्तर्गत नीति तथा सुभाषित सम्बन्धी अन्य रचनाएँ भी आ सकती हैं तथा साथ ही साथ इस वर्ग की परिसीमा के अन्तर्गत साहित्य के प्राचीन इतिहास, जिन्हें कवि वृत्त सग्रह के नाम से जाना जाता है, ग्रहण किये जा सकते हैं, यथा 'शिवसिंह सरोज' तथा 'मिश्रबधु-विनोद' आदि।

**(२) टीका ग्रन्थ**—भारत में अति प्राचीन काल से भाष्यों एव टीकाओं की परपरा रही है। कभी-कभी इस प्रकार की रचनाएँ स्वय एक मूल रचना हो जाती हैं। इस प्रकार की मौलिक रचनाओं का महत्त्व पाठालोचन की दृष्टि से बहुत अधिक नहीं होता है। किन्तु कभी कभी वास्तविक टीकाओं की सहायता से पाठ को निर्धारित करने में सहायता मिल जाती है। कभी कभी रचयिता अपने शिष्य से ही अपने ग्रंथ की टीका करा देता है। इस प्रकार की टीकाएँ पाठालोचक के लिए बड़ी ही उपयोगी होती हैं। इनकी सहायता से छदों के क्रम-निर्धारण तथा पाठ-निर्धारण दोनों कार्य सरलता से सभव हो सकते हैं। डॉ ग्रियर्सन ने लल्लूलालकृत बिहारी सतसई की 'लाल चन्द्रिका' नामक टीका के क्रम के आधार पर अपने सम्पादन में उसका क्रम निर्धारण किया। रत्नाकर जी ने सतसई के १४ क्रमों एव ५४ टीकाओं का उल्लेख किया है।[1] उन टीकाओं तथा क्रमों के आधार पर ही रत्नाकर जी ने अपने 'बिहारी रत्नाकर' के छदों का क्रम-निर्धारण किया। इस प्रकार टीकाओं द्वारा ग्रथ सम्पादक को पर्याप्त सहायता मिलती है, यह कहा जा सकता है। कभी कभी तो टीकाओं में पहले मूल पाठ और उसके पश्चात् उसका अर्थ दिया जाता है, इस प्रकार की टीकाएँ तो और भी उपादेय होती हैं।

**(३) अनुवाद (भाषान्तर)**—अन्य भाषान्तरित ग्रन्थों की सहायता भी उसी प्रकार पाठालोचन में ली जा सकती है जिस प्रकार टीकाओं की। कुछ बौद्ध ग्रन्थ चीनी आदि भाषाओं में अनूदित मिले हैं जिनका मूल अब प्राप्त नहीं है। महापण्डित राहुल साकृत्यायन ने कितने ही भोटिया ग्रन्थों को तिब्बत, चीन आदि से एकत्र करके हिन्दी के आदिरूप के निर्धारण का प्रयास किया। इसी प्रकार कुछ प्राकृत ग्रन्थों का अनुवाद सस्कृत में मिलता है यथा, गुणाढ्य की 'बड्डुकहा' का सस्कृत-सार ग्रन्थ क्षेमेन्द्र कृत 'बृहद्-कथा मजरी' के रूप में मिलता है। इस प्रकार की अनूदित तथा भाषान्तरित रचनाओं का भी उपयोग सम्पादक कर सकते हैं।

**(४) लक्षण-ग्रन्थ**—साहित्य-शास्त्र की मीमासा के लिए लिखे गए ग्रन्थों को लक्षण ग्रन्थ कहते हैं। इनमें विभिन्न काव्यागों के लक्षण के लिए विभिन्न कवियों की

---

१ 'कविवर बिहारी'—लेखक—जगन्नाथदास 'रत्नाकर'।

रचनाओं से उद्धरण लिये जा सकते हैं। यदि लक्षण-ग्रन्थ निर्माता रचयिता का समकालीन हुआ या अन्य किसी प्रकार उसके उद्धरण पर विश्वास किया जा सकता है तो इस प्रकार के उद्धरणों की सहायता से पाठालोचक पाठ निर्धारण कर सकता है। इस प्रकार के ग्रन्थ नायिका-भेद, अलंकार ग्रन्थ, रस ग्रन्थ, छन्द ग्रन्थ आदि के रूप में हो सकते हैं।

(५) **विवेचन-ग्रन्थ**—इससे तात्पर्य किसी कवि या रचना पर किए गए विवेचन से है। यदि किसी कवि के किसी प्राचीन जीवन-सम्बन्धी या रचना सम्बन्धी कोई विवेचन-ग्रन्थ मिल जाय तो उस कवि का काल-निर्धारण हो सकता है तथा उसकी शैली तथा भाषा आदि के सम्बन्ध में पता लगाया जा सकता है। इस प्रकार के विवेचन ग्रन्थ हिन्दी की रचनाओं या रचयिताओं के बारे में तो प्राप्त नहीं हैं किन्तु इतिहास के उल्लेखों, जनश्रुतियों तथा अन्य बातों का सहारा लिया जा सकता है जो प्राय. प्रामाणिक नहीं होते हैं। नाभादास कृत 'भक्त-माल' प्रायः इसी प्रकार की सामग्री है।

(६) **परिचय-ग्रन्थ**—परिचय ग्रन्थ से तात्पर्य उन ग्रन्थो से है जिनमें कुछ कथाओं का परिचय दिया गया हो जो कुछ मौलिक रचनाओं की मूल कथा से सबद्ध हों। इस प्रकार की रचनाओं के सम्पादन में परिचय-ग्रन्थो की सहायता ली जा सकती है। मेरुतुङ्ग की 'प्रबन्ध चिन्तामणि' में अपने समय की प्रचलित लगभग सभी कथाओं का परिचय दिया हुआ है जिनके सम्बन्ध में उस समय काव्य लिखे गए थे। इसी प्रकार के कई सग्रह जैन कवियों के प्राप्त हैं जिनका नवीन सकलन मुनि जिनविजय कृत 'पुरातन प्रबन्ध सग्रह' है। पृथ्वीराज नाम की एक कथा का परिचय 'प्रबन्ध चिन्तामणि' में है जिसका पृथ्वीराज रासो की कथा की दृष्टि से उतना महत्त्व नहीं है किन्तु 'पुरातन प्रबन्ध सग्रह' मे पृथ्वीराज और जयचन्द के प्रबन्धो का जो सग्रह है, उसमें 'रासो' की कथा मुख्य रूप से दी हुई है। इसमें चन्द को पृथ्वीराज का राजकवि कहा गया है तथा उसके कुछ छन्द सग्रहीत हैं जिनका उपयोग 'रासो' के सम्पादन में सहायता के रूप में किया जा सकता है।

इसी प्रकार मुञ्ज प्रबध 'प्रबध चितामणि' तथा 'पुरातन प्रबन्ध सग्रह' दोनों मे मिलता है। 'मुञ्जरास' के कुछ दोहे हेमचन्द के 'शब्दानुशासन' मे भी मिलते हैं। इस प्रकार 'मुञ्जरास' का अनुमान 'शब्दानुशासन' तथा 'पुरातन प्रबन्ध सग्रह' के छन्दा तथा 'प्रबन्ध चिन्तामणि' की कथा के आधार पर लगाया जा सकता है जो आजकल एकदम अप्राप्य है।

(७) **अनुकरण-ग्रन्थ** (Parody)—मूल ग्रथों के आधार पर कुछ अनुकरण ग्रन्थों के निर्माण की भी परम्परा देखी जाती है। जैसे 'मधुशाला' के अनुकरण पर 'टी शाला' लिखी गई। इसी प्रकार प्रसिद्ध कवियों के प्रसिद्ध छन्दों के आधार

पर हास्य रस के कवि पैरोडी के रूप में नयी कविता का ढाचा खड़ा कर देते हैं। यदि इस प्रकार की कोई रचना सम्पाद्य रचना के सम्बन्ध में प्राप्त हो सकें तो उससे उसके छन्दादि का अनुमान लगाया जा सकता है तथा उससे सपादन में सहायता मिल सकती है ।

(८) **उसी रचयिता के अन्य ग्रन्थ**—उसी रचयिता के अन्य ग्रथ, जिसकी रचना का सपादन करना हो, उसकी कृति के सम्पादन में उपयोगी हो सकते हैं। यदि हम किसी पाठ के निर्धारण के सम्बन्ध में कुछ सशय में पड़ जायँ तो हम उसी रचनाकार की अन्य रचनाओं में उसी अर्थ में किए गए प्रयोगों के आधार पर उसे स्थिर कर सकते हैं। कभी-कभी उसके काल की प्रवृत्ति जानने के लिए उसके काल के प्रमुख रचनाकारों की कृतियों का भी अवगाहन करना पड़ता है।

(९) **आधार ग्रंथ**—किसी ऐसी रचना के सम्पादन में जिसके लेखक ने अन्य पूर्ववर्ती लेखकों की रचनाओं का आधार ग्रहण किया है, ऐसे सभी आधारग्रन्थों की सहायता ली जा सकती है। जैसे लाल कवि कृत हरि कथा, श्री मद्भागवत पुराण का अनुवाद है जिसका सम्पादन स्व० नलिनविलोचन शर्मा ने प्रारम्भ किया था। उसके सम्पादन में भागवत का पाठ सहायक सामग्री के रूप में देखा जा सकता है। इसी प्रकार 'नाना पुराण निगमागम् सम्मत' रामचरितमानस के पाठ का निर्धारण करते समय वे सभी पुराण, निगम, आगम, सस्कृत के अन्य काव्य ग्रन्थ एव नाटकादि सहायक सामग्री के रूप में देखे जा सकते हैं जिनका आधार मानसकार ने ग्रहण किया है। 'मानस' के काशिराज सस्करण के सम्पादक आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने अपने सस्करण के पाठ-निर्णय में इन सामग्रियों का प्रभूत मात्रा में उपयोग किया है।

स्पष्ट है, इस प्रकार की सामग्री के उपयोग में अत्यन्त पटुता एवं सतर्कता की आवश्यकता है। यथा डॉ ग्रियर्सन ने 'लाल चन्द्रिका' के आजमशाही क्रम के अनुसार बिहारी सतसई का क्रम अपने सम्पादन में स्वीकार किया, किन्तु आगे चलकर रत्नाकर जी ने बताया कि यह क्रम आजमगढ़ के हरजू मिश्र द्वारा निर्धारित क्रम था, यह क्रम बिहारी को अभीष्ट नहीं था।

## सामग्री सम्बन्धी ज्ञातव्य बातें

जिन सामग्रियों का ऊपर विवेचन किया गया है, उनमें सम्पाद्य रचना की प्रतियाँ पाठालोचन की आधार भूत सामग्री होती हैं । अतएव उनका सूक्ष्म परीक्षण अत्यन्त अनिवार्य होता है। इसके लिए उन प्रतियों से सम्बन्धित कुछ विशिष्ट बातों का ज्ञान अनिवार्य है

(१) सर्वप्रथम प्रतियों के एकत्र हो जाने पर उनमें से एक-एक के पत्रों को

क्रमशः लगाना चाहिए तथा उनकी गणना करनी चाहिए। कभी-कभी प्रतियों के कुछ पन्ने गायब हो जाते हैं तथा प्रथम एवं अन्तिम पन्ने प्रयोगाधिक्य के कारण टूट जाया करते हैं जिनका कई दृष्टियों से बड़ा महत्व रहता है। अतएव प्राप्त प्रतियों की परीक्षा करते समय उन बातों की सूचना प्राप्त करना पाठालोचक के लिए अनिवार्य है।

(२) **लेखन सामग्री तथा लेखन-काल की परीक्षा**—प्रथम जानकारी के उपरान्त प्रति के लिपि काल का ज्ञान अनिवार्य होता है, क्याकि नवीन पाठ की अपेक्षा प्राचीन पाठ का पाठालोचक की दृष्टि से बड़ा महत्त्व होता है। इस दृष्टि से प्रति में प्राप्त पुष्पिका का अध्ययन उपादेय होता है। कभी-कभी इन पुष्पिकाओं में प्राप्त सूचना गलत भी होती है, अतएव इनकी प्रामाणिकता की भी परीक्षा अनिवार्य होती है। साथ ही पुष्पिका वाला भाग प्रति के अन्त में होने के कारण प्रायः फट भी जाता है। ऐसी दशा में तथा पुष्पिका की संदिग्ध सूचना को प्रमाणित करने के हेतु लेखन-सामग्री तथा प्रति में प्रयुक्त लिपि के अध्ययन की आवश्यकता होती है ताकि उसके द्वारा प्रतिलिपिकार का निर्धारण हो सके।

(३) **शब्द-विग्रह**—पहले हस्तलिखित पोथियों में शब्द एक दूसरे से इस प्रकार सटा कर लिखे जाते थे कि उनका विग्रह करना ही अत्यन्त अभ्यास का कार्य होता है। कविता में भी चरण चरण अलग-अलग न लिखकर सभी चरण बराबर लिखते चले जाते थे, जहाँ तक कागज चला जाता था। इन कारणों से उत्पन्न भ्रांतियाँ कठिनाई उत्पन्न कर सकती हैं। अतः इस दृष्टि से भी पाठालोचक को सावधानी रखनी चाहिए।

(४) **विराम-चिह्न**—प्राचीन काल में विराम चिह्न उस प्रकार के नहीं होते थे जैसे आज हैं। प्राचीन विराम चिह्नों का ज्ञान सम्पादक के लिए अनिवार्य होता है, जिनका प्रयोग सम्पाद्य रचना की प्रतियों में किया गया हो। खरोष्ट्री लिपि के शिलालेखों मे विराम चिह्न नहीं मिलता। 'धम्मपद' के प्रत्येक पद के अन्त में विन्दु से मिलता-जुलता एक चिह्न पाया जाता है। ब्राह्मी के शिलालेखों में कई प्रकार के चिह्न पाए जाते हैं जिनका ज्ञान उक्त रचनाओं के सम्पादन में अनिवार्य होता है।

(५) **सकेत**—रचना में कभी-कभी कुछ सकेत शब्दों का प्रयोग किया रहता है जिनका ज्ञान सम्पादक को अनिवार्य होता है। पहले जिस शब्द को दो बार लिखना होता था उसको एक बार लिख कर उसके आगे २ लिख देते थे। हाशिए में ग्रन्थ का नाम सक्षेप में दिया जाता था, जैसे, रामचरितमानस का रा. च. मा.। उसी प्रकार बौद्ध तथा जैन सूत्रों मे एक स्थान पर नगर या उद्यान का वर्णन कर लेने पर पुनः

प्रसग आने पर उसका सविस्तर वर्णन न करके लिख देते थे—'वरणवो' (वर्णनम्)। सस्कृत मे प्लुत उच्चारण के लिए ३ का सकेत प्रयुक्त होता है। इन सकेतों का ज्ञान भी पाठालोचक के लिए अनिवार्य होता है।

(६) प्रतिलिपिकार—पाठालोचक को प्राप्त प्रतियों के प्रतिलिपिकारों के समय तथा उनकी प्रामाणिकता आदि का ज्ञान होना चाहिए। यदि प्रतिलिपिकार लेखक का समकालीन होगा तो उसकी प्रतिलिपि में प्रक्षेप की सम्भावनाएँ कम होंगी। यह भी सम्भावना हो सकती है कि यदि कवि जीवित रहा हो तो वह प्रतिलिपि उसे दिखाई भी गई रही हो।

इन विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए प्राप्त सामग्री की परीक्षा द्वारा पाठालोचक को अपने कार्य मे अग्रसर होना चाहिए, अन्यथा उससे भ्रान्ति की आशका हो सकती है।

---

४

# प्रतिलिपिकार और पाठ-विकृतियाँ

## प्रतिलिपिकार

मुद्रणकला के ज्ञान के पूर्व कृतियों के प्रसार हेतु उनकी प्रतिलिपियाँ की जाती थीं। उन प्रतिलिपियों को लोग तीर्थस्थानों, मेलों या इसी प्रकार के अन्य सार्वजनिक स्थानों में ले जाकर बेचा करते थे। इस प्रकार के प्रतिलिपिकार व्यावसायिक होते थे और इन्हीं प्रतिलिपियों द्वारा प्राप्त पारिश्रमिक से उनकी आजीविका चलती थी। ये प्रायः सामान्य पढ़े-लिखे होते थे। विक्रम के पूर्व चौथी सदी में इन्हें 'लिपिकर', 'लिपिकार' या 'लिविकार' कहते थे। विक्रम की सातवीं-आठवीं सदी में इन्हें दिविर-पति ( फारसी 'दबीर ) कहते थे। ग्यारहवीं शताब्दी में इन्हें 'कायस्थ' कहा जाता था—जो आजकल उत्तरी भारत की एक जाति विशेष का नाम हो गया है। कदाचित् यह नामकरण सामान्य व्यवसाय के आधार पर ही हुआ होगा। इसी प्रकार शिला-लेखों या ताम्रपत्रों को उत्कीर्ण करनेवालों को 'करण' (क), 'करणिन्', 'शासकिन्', 'धर्मलेखिन' आदि कहते थे। व्यावसायिक प्रतिलिपिकारों के अतिरिक्त पुस्तकों की प्रतिलिपियाँ अन्य स्रोतों से भी होती थीं। कभी-कभी कुछ विद्याव्यसनी लोग मनःतुष्टि के लिए स्वान्तसुखाय प्रतिलिपियाँ करते थे और राजा-महाराजा भी अपने दरबारों और पुस्तक भाण्डारों के शोभार्थ पुस्तकों की प्रतिलिपि कराते थे। साथ ही शिष्य अपने गुरु की प्रति से अध्ययन की सुविधा के लिए प्रतिलिपियाँ करते थे।

## प्रतिलिपिकार के गुण

(यह कर्म अत्यन्त नीरस एवं दूभर होता था। कितने ही प्रतिलिपिकारों का उल्लेख हमें प्राप्त होता है, जो प्रतिलिपि करते समय अपने दुखों का दारुण उल्लेख करते हैं।) यथा,

'भग्नपृष्ठकटिग्रीव, स्तब्धदृष्टिरधोमुखम् ।
कष्टेन लिखित ग्रन्थ, यत्नेन प्रतिपालयेत् ।।'[1]

इस उद्धरण से सहज ही इस कार्य की कठिनता का आभास हो जाता है । इस कठिनाई की दशा मे लेखन-प्रमाद हो जाने की अत्यधिक आशका रहती है । अतएव प्रतिलिपियों की शुद्धि-अशुद्धि का निर्धारण प्रतिलिपिकार की क्षमता एव योग्यता पर निर्भर रहती है । निसर्गतः योग्यता से आवेष्ठित होने पर भी उसके अन्तर्गत प्रामाणिकता आदि कुछ विशिष्ट गुणों का होना अनिवार्य माना गया है ।

चूँकि यह कार्य अत्यन्त प्राचीन काल से होता चला आया है, अतएव अत्यन्त प्राचीन समय से ही आदर्श प्रतिलिपिकार के अन्दर कुछ विशिष्ट गुणों की आवश्यकता बताई गयी है :

'सर्वदेशाक्षरभिज्ञः सर्वशास्त्रविशारदः ।
लेखकः कथितो राज्ञः सर्वाधिकरणेषु वै ।।
शीर्षोपेतान् सुसपूर्णान् समश्रेणिगतान् समान् ।
अक्षरान् वै लिखेद् यस्तु लेखकः स वरः स्मृतः ।।
उपायवाक्यकुशलः सर्वशास्त्रविशारदः ।।
बह्वर्थवक्ता चाल्पेन लेखकः स्याद् भृगूत्तम ।।
वाक्याभिप्रायतत्त्वज्ञो देशकालविभागवित् ।
अनाहार्यो नृपे भक्तो लेखकः स्याद् भृगूत्तम ।।'[2]

इस प्रकार लेखक के लिए इन गुणों का उल्लेख किया गया है, वे कदाचित् प्रतिलिपिकार के लिए आवश्यक नहीं हो सकते । इसी प्रकार चाणक्यनीति में लेखक के गुण के सम्बन्ध में लिखा गया है :

'सकृदुक्तगृहीतार्थो लघुहस्तो जिताक्षरः ।
सर्वशास्त्रसमालोकी प्रकृष्टो नाम लेखकः ।।'

इसी प्रकार 'काव्यमीमासा' में लिखा गया है : 'सदःसस्कारविशुद्धयर्थं, सर्वभाषाकुशलः, शीघ्र वाक्, चार्वक्षर, इगिताकारवेदी, नानालिपिज्ञः, कविः, लाक्षणिकश्च लेखकः स्यात् ।'[3] इन उपर्युक्त उद्धरणों को श्री मूलराज जैन की पुस्तक 'भारतीय सम्पादन शास्त्र' से उद्धृत किया गया है । लेखक ने इन गुणों को लिपिकार के गुण बतलाया

---

१ ऋग्वेद सस्क० २, मैक्समूलर सम्पादित, भाग १, ( भू० ) पृ०, १३ ।
२. मत्स्यपुराण, अध्याय १८६ ।
३ काव्यमीमासा, पृ० ५० ।

है। परन्तु इनके अर्थ से जो अभिप्राय निकलता है वह स्पष्ट घोषित करता है कि ये गुण रचनाकार लेखक के हैं, प्रतिलिपिकार के नहीं। प्रतिलिपिकार को इतने महत् गुणों से अलंकृत होने की कदापि आवश्यकता नहीं रही होगी।

अब प्रश्न उठता है, तो प्रतिलिपिकार के लिए कौन से गुण अपेक्षित होते हैं? सामान्य ढग से यह कहा जा सकता है कि उसके लिए तीन प्रमुख गुणों की नितान्त आवश्यकता होती है .

(१) सामान्य बुद्धिमत्ता (२) प्रामाणिकता (३) सावधानी।

दुर्भाग्य से इन तीनों गुणों का समन्वय एक व्यक्ति में कठिनाई से ही मिल पाता है। अतएव इन गुणों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रामाणिकता को ही माना जा सकता है। इस गुण से तात्पर्य यह है कि उमे जो पाठ उसकी आदर्श प्रति में प्राप्त हो उसे वह ज्यों का त्यों बिना किसी परिवर्तन के अपनी प्रतिलिपि में प्रस्तुत करे। अपनी ओर से उसमें कुछ भी न जोड़े क्योंकि यदि वह अपनी ओर से उसमें कुछ जोड़ने का प्रयास करेगा चाहे वह उसे भले ही आवश्यक सुधार प्रतीत हो वह लेखक की रचना को उसके मूल रूप से दूर ले जाने की चेष्टा करता है। अपनी इस चेष्टा में यदि किसी भग्न प्रति का पाठ प्रस्तुत करना है तो टूटे-फूटे अशों को उसी भाँति खाली छोड़ देना चाहिए। यदि वह चाहे तो उनका उल्लेख टिप्पणी में कर दे कि वे भग्न थे। परन्तु उसके स्थान पर उसका यह कदापि कर्तव्य नहीं होता है कि वह उसमें अपनी ओर से कुछ जोड़ दे या बढ़ा दे। इस प्रक्रिया को चाहें तो हम एक वाक्य में 'मक्षिका स्थाने मक्षिका' कह कर प्रकट कर सकते हैं। एक प्रतिलिपिकार इसीलिए अपनी प्रामाणिकता का हवाला देते हुए कहता है :

'यादृश पुस्तक दृष्ट्वा तादृश लिखित मया।
यदि शुद्धमशुद्धं वा मम दोषो न विद्यते ॥'

सभी प्रतिलिपिकारों का यही उद्देश्य होना चाहिए कि वे जैसा पावें वैसा ही पाठ प्रस्तुत करें। उसमें रचमात्र भी परिवर्तन करने का अधिकार उन्हें नहीं।

आवश्यकता एव उपयोगिता के क्रम में प्रतिलिपिकार में दूसरा गुण सावधानी होना चाहिये। यह पहले उल्लेख किया जा चुका है कि प्रतिलिपिकार का कार्य अत्यन्त नीरस होता है। अतएव उसमें जरा सी भी असावधानी का परिणाम भयकर हो जाता है। यह देखा भी जाता है कि शब्द, मात्रा, वाक्य तथा छद के छद असावधानी के कारण बड़ी सरलता से छूट भी जाते हैं और उनकी पुनरावृत्ति भी हो जाती है। इस सावधानी के बर्तने के लिए प्रतिलिपि करते समय अत्यन्त एकाग्रचित्त होकर अपना कार्य करने की आवश्यकता होती है। साथ ही एक बैठक में उतना ही कार्य करना चाहिए

जिससे इतनी थकान न आ जाय कि पग-पग पर अशुद्धियों के बढ़ते जाने की सभावना खड़ी हो जाय। इस सावधानी का तीसरा साधन यह है कि सम्पूर्ण कार्य को समाप्त कर लेने के उपरान्त उसे थोड़ा-थोड़ा करके दुहराना चाहिए। इस प्रकार की समग्र प्रक्रिया को सावधानी की संज्ञा दिया जा सकता है। सावधानी की परीक्षा इस बात से की जा सकती है कि लेखक ने कितनी कम भूलें, लेखन प्रमाद, दृष्टिभ्रम, तथा स्मृति दोष आदि निश्चेष्ट कारणों से की है।

तीसरा और अन्तिम अपेक्षित गुण सामान्य बुद्धिमत्ता को माना जा सकता है। प्रतिलिपिकार में कम से कम इतनी विद्या-बुद्धि तो अवश्य हा अपेक्षित होती है कि वह जो कुछ लिखता है उसका आशय समझ सके तथा वह जिस भाषा और लिपि में लिखी हुई प्रति की प्रतिलिपि कर रहा हो उसके वर्तमान रूपों के साथ ही उसके क्रमिक विकास का भी ज्ञान रखता हो। परन्तु उसे थोड़ी देर के लिए अपने ज्ञान और बुद्धि का विस्मरण करके यह कार्य करना चाहिये। वह कहीं ऐसा न सोचने लगे कि यह शब्द अब प्रयोग में नहीं आता अतः इसे बदल कर नवीन समानार्थी शब्द रख दें। इस प्रकार का लोभ-संवरण कम ही हो पाता है। अतः क्षुब्ध हो डॉ पोस्टगेट को लिखना पड़ा 'यद्यपि यह विरोधाभास प्रतीत होगा किन्तु एक मूर्ख पर ईमानदार प्रतिलिपिकार की निश्चेष्ट भूलें, हमें बुद्धिमान किन्तु कम ईमानदार प्रतिलिपिकार की अपेक्षा अधिक ज्ञान दे सकती हैं।'*

यह कथन अपने अन्तर्गत सत्य का पूर्ण आभास लिए हुए है।

प्रतिलिपिकार की प्रामाणिकता की परीक्षा के लिए डॉ पोस्टगेट ने दो मापदण्ड प्रस्तुत किये हैं जिनका उल्लेख यहाँ कर देना ठीक ही होगा :

(१) वर्ण-विन्यास (Orthology or npelling)—इस मापदण्ड के द्वारा यह देखना चाहिये कि प्रतिलिपिकार ने कहाँ तक प्राचीनतम वर्ण-विन्यास की सुरक्षा अपने प्रति में की है। इसी कारण पाठालोचन का एक सामान्य सिद्धान्त बन गया कि जितना ही कठिनतर पाठ मिले उसे उतना ही प्राचीन तथा प्रामाणिक माना जाना चाहिए। ( Harder readiSg should be prefered ) किन्तु इन सभी मापदण्डों में पाठालोचक को सदैव सजग रहना चाहिये, क्योंकि कभी-कभी रचना को प्राचीन प्रमाणित करने के लिए प्रतिलिपिकार उसकी भाषा आदि पर प्राचीनता की बनावटी छाप डालने का प्रयास करते है जो उनकी ईमानदारी पर एक धब्बा होता है।

* 'Paradoxical it may seem, the mechanical corruptions of a stupid but faithful copiest may tell us more than the intelligent copying of a less faithful one'

—Encyclopaedia Britannica (Textual Criticism).

'पृथ्वीराजरासो' की भाषा में प्राकृताभास तथा अपभ्रन्साभास लाने के हेतु इस प्रकार की प्रक्रिया कुछ स्तर के प्रतिलिपिकारों द्वारा हुई ऐसा कुछ विद्वानों का मत है।

(२) छूटे हुए अशों तथा अन्य भूलों का निर्देश (Indication of Lacunae or other fault in his exemplar ) से भी उसकी प्रामाणिकता जाँची जा सकती है। यदि उस प्रति मे त्रुटित, भ्रमात्मक या छूटे हुए अशों के निर्देश की प्रवृत्ति मिलती है तो साधारणतया यह मान लिया जाता है कि प्रतिलिपिकार ने मनमाने ढग से विद्यमान पाठ मे सुधार, सशोधन, घटाव तथा बढ़ाव करने की प्रवृत्ति से बचने का प्रयास किया है।

## पाठ विकृतियाँ

आदर्श प्रतिलिपिकार के अन्तर्गत जिन गुणों का होना अपेक्षित बताया गया है, उनके अभाव में उनके द्वारा की जाने वाली भूलें पाठ-विज्ञान के अन्तर्गत 'पाठ-विकृतियों' ( Textual Errors ) के नाम से जानी जाती हैं। इसकी परिभाषा इस प्रकार दी जा सकती है—किसी भी रचना के लेखक द्वारा प्रस्तुत मूल पाठ में प्रतिलिपिकारों के द्वारा हुए सचेष्ट अथवा निश्चेष्ट परिवर्तन, भूल, वृद्धि अथवा कमी करने की प्रवृत्ति या पाठ विकृति की प्रक्रिया तथा उसका परिणाम 'पाठ-विकृति' के नाम से जाना जाता है। ये पाठ-विकृतियाँ प्रतिलिपिकारों की ईमानदारी तथा बुद्धि दोनों की कमी के कारण सम्भव होती हैं। कभी कभी बुद्धि का आधिक्य ईमानदारी पर हावी हो जाता है।

पाठ-सपादन में इनका ज्ञान होना आवश्यक होता है क्योंकि हम जानते हैं कि किसी रचना के प्रामाणिक पाठ को प्रस्तुत करने के पूर्व हम उसकी सभी प्राप्त हस्तलिखित प्रतियो को प्रतिलिपि क्रम एव वशवृक्ष के रूप में विभाजित करते हैं। इस सपादन की मूल प्रक्रिया के मूल में ही इन पाठविकृतियों का ज्ञान आवश्यक होता है क्योंकि समान निश्चेष्ट या सचेष्ट विकृतियाँ किन्हीं दो प्रतियों के पारस्परिक सबन्ध निर्धारण मे सहायक होती हैं। अतएव इनका ज्ञान आवश्यक होता है। यहाँ लेखक के द्वारा इन पाठ विकृतियों को वर्गीकृत करने की चेष्टा की गयी है। इन वर्गीकृत भेदों में उदाहरण स्वरूप जो उद्धरण दिये गये हैं वे हिन्दी के मान्य सपादित ग्रथों के आधार पर प्रस्तुत किये गये हैं।

साधारणतया पाठ-विकृतियों को दो प्रकार से वर्गीकृत किया जाता है। पहला इच्छा, सकल्प या चेष्टा के आधार पर वर्गीकरण। इस आधार पर इन्हें तीन वर्गों में विभाजित किया जाता है :

'वीसलदेवरास' की राजस्थानी लिपि में प्राप्त प्रतियों के आदर्श पर नागरी में जो प्रतियाँ हुई, वे इस प्रकार की भूलों से भरी पड़ी हैं। डॉ माताप्रसाद गुप्त ने 'वीसलदेवरास' की भूमिका मे इस प्रकार के अनेक उदाहरण सग्रहीत किये हैं। यथा,

थ : घ = चउथि > चउधि

द : ह = दीपइ > हीपइ

श्र श्र = श्रावण > आवण

ज : ड = भूल्योजी > भूल्यो डी

इसी प्रकार उर्दू की प्रतियों के आदर्श से नागरी में जब प्रतिलिपि होती है, तो भी इस प्रकार की विकृतियाँ आ जाती हैं। उर्दू में 'ह' का प्रयोग अल्पप्राण व्यजन को महाप्राण बनाने के लिए स्पष्ट रूप से होता है। हिन्दी में यह लिपि-चिह्न महाप्राण व्यजनों मे दिखायी नहीं देता, वह मात्र उच्चारण में होता है और महाप्राण व्यजनों के अलग ध्वनि-चिह्न हैं। अतएव कभी-कभी कम जानकारी के कारण प्रतिलिपिकार अल्पप्राण व्यजन को उसके रूप में तथा हकार को अलग से उद्धृत कर लेते हैं। यथा 'अर्द्धकथा' का एक पाठ था 'भरयो'। उसका 'बहरयो' हो गया।

लिपि साम्य के कारण मिलनेवाली विकृतियों का उदाहरण सभी भाषा और लिपि की प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों में मिलता रहा है जिसके लिए पाठालोचकों को भी धोखा हो जाता है। अग्रेजी भाषा में रोमन लिपि में भी वर्ण-साम्य के कारण विकृतियाँ हुई हैं। यथा—'बुक आव कामन प्रेयर्स' का एक विकृत पाठ है, 'टिल डेथ अस डू पार्ट'। यह अग्रेजी e और o के साम्य से हो गया। मूल पाठ था 'टिल डेथ अस डिपार्ट'।* इस प्रकार का दोष एक ही लिपि के प्राचीन तथा नवीन रूपों के दो भिन्न प्रकार के होने के कारण सम्भव होता है। जैसे नागरी लिपि में आजकल सामान्यतः अर्द्ध 'र' जब किसी वर्ण के पूर्व प्रयुक्त होता है तो उसमें उसके ऊपर 'रेफ' लगता है परन्तु पहले इसके लिए पड़ी पाई (—) का प्रयोग होता था। इस प्रकार प्राचीन 'भर या' (भर्‌यो) को आज का पाठक 'भस्यो' पढ़ सकता है। इस प्रकार की विकृतियाँ पाठा में नागरीलिपि सुधार के प्रचलित हो जाने पर भी सम्भव थीं, यदि मुद्रण कला का ज्ञान हमें अभी तक न होता।

२ वर्ण साम्य (Homography)—लिपि-चिह्नों के साम्य में हमने यह देखा है कि एक लिपि-चिह्न को अन्य समझकर प्रतिलिपिकार विकृतियाँ उत्पन्न कर देते हैं, परन्तु इस विकृति-भेद में हम यह देखते हैं, कि यदि एक ही वर्ण का प्रयोग किसी छन्द आदि में दो स्थानों पर हुआ रहता है, तो प्रतिलिपिकार प्रथम वर्ण तक प्रतिलिपि

* लीलाधर गुप्त—'पश्चात्य साहित्यालोचन के सिद्धान्त', पृ० २६।

करके, भूल से आगे उसी से मिलते जुलने वर्ण के आगे लिखने लगता है। इन दो समान वर्णों के बीच का अंश लिखने मे छूट जाता है। समान वर्ण के देख कर वह समझता है कि मैं यहाँ तक लिख चुका हूँ। इस प्रकार की भूल प्रायः छन्दबद्ध रचना की प्रतिलिपि में ही सम्भव होती है। इस भूल के कारण 'शब्द', 'शब्दांश', 'पंक्ति' और कभी कभी सम्पूर्ण छन्द भी छूट जाते हैं। जैसे 'मानस' के बालकाण्ड का एक पाठ है :

'राम कृपा ते पारबति सपनेहुँ तब मन माँहि।'

इसमें दो रेखांकित 'पा' के साम्य के कारण बीच का 'पाते' छूट गया और कुछ प्रतियो में इसका पाठ मिला 'राम कृपारबति सपनेहुँ ।' इसी प्रकार मानस में ही दो अर्द्धालियों के तुक के साम्य के कारण दोनों की एक एक पंक्ति छूट गयी। वह है,

'भरत बचन सब कँह प्रिय लागे।
राम सनेह सुधा जनु पागे ॥
लोग वियो विषम विष दागे।
मंत्र सबीज सुनत जनु जागे ॥'

—अयोध्याकाण्ड, दोहा १८४

प्रतिलिपिकार ने तुकान्त साम्य के कारण प्रथम चरण को लिख कर अन्तिम को लिख लिया और बीच के दो चरण छूट गये और विकृत पाठ हो गया :

'भरत बचन सब कँह प्रिय लागे।
मंत्र सबीज सुनत जनु जागे ॥'

इस प्रकार के दोष रामचरितमानस की राजापुरवाली प्रति मे पर्याप्त मात्रा मे मिलते हैं जिसे तुलसीदास के हाथ का लिखा हुआ बहुत दिनों तक माना जाता रहा।

२ शब्द-साम्य—कुछ शब्द एक दूसरे से इतने समान लगते हैं कि उनके रूप मे एकाध मात्राओं का ही अन्तर रहता है। परन्तु अर्थ में पर्याप्त अन्तर रहता है। उनके रूप साम्य के कारण या कभी-कभी यह समझ कर कि इसमे कोई मात्रा भूल से छूट गई होगी, एक के स्थान पर दूसरा शब्द अंकित कर दिया जाता है। मानस मे एक स्थान पर 'सरासुर' पाठ है। इस शब्द का प्रयोग बाणासुर के लिए हुआ है पर प्रतिलिपिकार को इसका अर्थज्ञान न हो सका और उसने यह सोचा कि हो सकता है यह पाठ 'सुरासुर' रहा हो और भूल से एक 'उ' की मात्रा भूल गयी हो और उसने वहाँ 'सुरासुर' पाठ प्रस्तुत कर दिया। तुलसी ने शब्दार्थ के आधार पर नाम मे परिवर्तन करके कई स्थानों पर उन्हे प्रस्तुत किया है यथा, शत्रुघ्न का रिपुदमन। स्वय बाणासुर का ही उन्होंने 'सरासुर' के अतिरिक्त 'त्रिपिरासुर' के रूप मे प्रयोग किया है। अतः

अन्तर्साक्ष्य और बहिर्साक्ष्य दोनों आधारों से 'सरासुर' पाठ ही ठीक है। इसका 'सुरासुर' पाठ इन दो शब्दों में परस्पर अधिकतम साम्य होने के कारण ही सम्भव हुआ।

४ **साधारण असावधानी** ( Simple Negligence )—कभी-कभी साधारण असावधानी के कारण पंक्ति छूट जाने की आशंका रहती है। विशेषतः हिन्दी के प्राचीन काव्य-ग्रन्थों मे एक-एक चरण ही एक पंक्ति में नहीं लिखे जाते थे प्रत्युत पूरी पंक्ति में जितने चरण या चरणांश पड़ते हैं, लिखे जाते थे। ऐसी अवस्था में यदि पूर्ण सावधानी न रखी जाय तो एक भी पंक्ति के छूट जाने पर कई चरण और चरणांश छूट जाते हैं। 'अर्द्धकथा' की एक प्रति में मूल पाठ है :

'आवहि जाहिं करै अति खेद।
नहिं समुझैं ( भावी कै भेद ।।
मोती हार दिए हुतै दै मुद्रा चालीस ।।
सो बच्यो सत्तरि उठे ) मिले रुपैया तीस ।।'

इसमें जो अंश कोष्ठक में घिरा है एक शाखा की प्रतियों में लिखने से छूट गया और पाठ रहा गया

'आवहिं जाहिं करै अति खेद ।
नहिं समुझै मिले रुपैया तीस ।।'

इस सामान्य असावधानी के कारण होने वाली भूल के कारण जो पाठ बच गया था, वह सन्देहास्पद था अतः उस सन्देह को समाप्त करने के हेतु उस पर अनेक प्रकार के प्रक्षेपों की प्रक्रिया हुई जिसका निर्देश आगे हो जायगा। सामान्य असावधानी के कारण शब्द, शब्दांश, चरण आदि के छूट जाने और कभी-कभी उनकी पुनरावृत्ति हो जाने की भी सम्भावनाएँ रहती हैं।

५ **संकेत-भ्रम**—प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों में विभिन्न प्रकार के संकेत भी मिलते हैं। शिलालेखों आदि पर तो स्वस्तिका, धन, गुणे आदि के चिह्न विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त होते रहे हैं। यदि इन संकेतों को ठीक प्रकार से न समझा जाय तो प्रतिलिपि करते समय सामान्य-रूप से भूल का हो जाना संभव हो जाता है। उदाहरण के लिए पुराने समय में '३' का किसी स्वर के आगे प्रयोग संस्कृत प्लुत उच्चारण का बोध कराता था अर्थात् उसको तीन तक गिनने में जितना समय लगे उतनी देर में उच्चारित करना यथा, ओ३म्। परन्तु आगे चल कर इसी भाँति जिस शब्द के आगे दो '२' का प्रयोग होता था उसे दो बार पढ़ना अभिप्रेत समझा जाने लगा जैसे बार२। = बार-बार। 'मालतीमाधव' की एक प्रति के प्रतिलिपिकार

ने प्लुत के सकेत को यह समझ कर कि यह अमुक शब्द के तीन बार लिखने का बोधक है, उसे तीन बार लिख दिया। इस प्रकार के भ्रम अन्य सकेतों के कारण भी सभव हो सकते हैं।

६ भ्रमपूर्ण-विश्लेषण—प्राचीन प्रतियों में शब्द एक दूसरे से इस प्रकार सटे हुए लिखे जाते थे कि अभ्यस्त पाठक ही उन्हें सरलतापूर्वक पढ़ सकता था। अन्य व्यक्ति जो अभ्यस्त न हों, यदि उनकी प्रतिलिपियाँ करने बैठें तो वे शब्दों के विश्लेषण में भूल कर सकते हैं। इस प्रकार की भूलें पर्याप्त मात्रा में प्रतिलिपिकारों द्वारा हुई। इस भूल के कारण मूल का सार्थक पाठ निरर्थक रूप में परिणत हो जाता है। कभी-कभी सपादक भी प्रतिलिपिकार की इस भूल के चक्कर में फँस जाते हैं। इस प्रकार की भूल का एक रोचक उदाहरण हमें डॉ० श्यामसुन्दरदास सपादित 'कबीर ग्रथावली' के पाठ में मिलता है। उसका पाठ है :

'धौल मदलिया बैलर बाबी, कडवा ताल बजावै।
पहिर चोल नागा दह नाचै, भैंसा निरति करावै॥'

इस पाठ मे प्रथम और तृतीय चरण में गलत विश्लेषण के कारण पाठदोष आ गया। वास्तव में इसका मूल पाठ इस प्रकार था जैसा डॉ० रामकुमार वर्मा ने सिद्ध किया :

'धौल मदलिया बैल रबाबी, कडवा ताल बजावै।
पहिर चोलना गादह नाचै, भैंसा निरति करावै॥'[1]

इस प्रकार की विकृतियाँ रामचरितमानस की प्रतियों में भी स्थान-स्थान पर मिलती हैं। जैसे, शिव के लिए 'सदाशिव' शब्द का भी प्रयोग होता है और इसी में इसका प्रयोग 'मानस' की चौपाइयों में बहुधा हुआ है, पर प्रतिलिपिकारों ने तथा कभी-कभी सपादकों ने भी 'सदा' और 'शिव' को अलग अलग पढ़ा है। यथा, 'अब कृपाल तव भगति पावनी। देहु सदाशिव हृदय भावनी।' इसके स्थान पर अनेक पाठों में 'सदा' और 'शिव' अलग-अलग दिया है। इसी प्रकार 'चाहहुँ सदाशिवहिं भरतारा' में भी हुआ है। इस भ्रमपूर्ण विश्लेषण का निर्देश मुझसे प० विश्वनाथ-प्रसाद मिश्र ने किया। इसी भाँति 'पद्मावत' के नवलकिशोर प्रेस वाले सस्करण में भ्रमपूर्ण-विश्लेषण के कारण एक अर्द्धाली का पाठ है, 'को वहि लागहि वचल सीझा। काकहिं लिखी ऐस को रीझा।' जब कि ठीक पाठ है, 'को वोहि लागि हिवचल सीझा। का कहँ लिखी अैस को रीझा।'

---

१ कबीर ( सक्षिप्त ) —भूमिका।

## सचेष्ट-निश्चेष्ट विकृतियाँ

( Semi-Voluntary Corruptions )

इस वर्ग में वे विकृतियाँ आती है जिनमें प्रतिलिपिकार का कोई विशेष उद्देश्य नहीं होता है किन्तु विकृति की प्रक्रिया वह जानबूझ कर करता है। वैसे यह वर्ग बहुत वैज्ञानिक नहीं है किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से इस वर्ग में आने वाली कुछ विकृतियों का अध्ययन किया जायगा।

( १ ) **पुनरावृत्ति**—कभी निश्चेष्ट भाव से भी आवृत्ति चरणों और छदों की हो जाती है किन्तु पाठालोचन के विद्वानों ने अपने अध्ययन द्वारा यह सिद्ध कर दिया है कि एक ही छद जब एक ही प्रति मे एकाधिक स्थानों पर आ जाता है तो उसका कारण निश्चेष्ट नहीं होता, प्रत्युत उसके मूल मे पाठ मिश्रण की सचेष्ट प्रक्रिया होती है। पाठ मिश्रण से तात्पर्य उस पाठ से होता है जो कई शाखाओं की प्रतियों के आदर्श पर तैयार किया जाता है। इस प्रकार के पाठ में यदि एक शाखा में एक ही छद प्रारम्भिक भाग में आया है और उसे कवि ने लिखा लिया, यदि वही छद अन्य शाखा के अन्तिम भाग में आया है तो वह प्रथम को भूल सा गया रहता है और इस छद को द्वितीय मे नवीन समझ कर उतार लेता है। इस प्रकार एक ही छद उसी रचना में दो भिन्न स्थानों पर आ जाता है। इस प्रकार एक ही छद की आवृत्तियाँ 'पृथ्वीराज रासो' में बहुतायत से मिलती हैं। 'बीसलदेवरास' में भी इसके उदाहरण मिलते हैं। डॉ० माताप्रसाद गुप्त संपादित 'रास' के पाठ में १२६वाँ छद 'तसकला मुसकला मोनइ न सुहाय' इस ग्रथ की तीन हस्तलिखित प्रतियों मे कुछ सामान्य परिवर्तन के साथ तीन बार आया है।

( २ ) **स्मृति विभ्रम** ( False Recollection )—कभी-कभी प्रतिलिपिकार किसी ख्यात और प्रिय रचना की प्रतिलिपि करता होता है जिसकी बहुत सी पक्तियाँ उसे कठस्थ होती हैं तो वह किसी एक पक्ति को लिखने पर किसी अन्य स्थान की उसी तुक की पक्ति को, जो उसे गलत ढङ्ग से याद आने लगती है, लिख जाता है। अपनी इस गलत स्मृति पर आत्म-विश्वास हो जाने के कारण वह 'आदर्श' को देखे बिना ही पक्ति लिख जाता है और पाठ कुछ का कुछ और ही हो जाता है। पद्मावत की दो प्रतियों मे इसी प्रकार की पाठ विकृति मिलती है। सामान्य और स्वीकृत पाठ है :

'डोलैं बोहित लहरैं खाहीं।
खिन तर खिनहि होहि उपराहीं॥'

किन्तु दो प्रतियों में द्वितीय चरण का पाठ बदल गया और वह इस प्रकार हुआ :

'डोलैं बोहित तन उपराहीं।
सहस कोस एक पल मँह जाहीं।।'

किन्तु यह बदला हुआ पाठ एक अन्य अर्द्धाली के एक चरण के रूप में अन्य सभी प्रतियों में आया है :

'धावहिं बोहित मन उपराहीं।
सहस कोस एक पल मँह जाहीं।।'

निश्चय ही इन दोनों पाठों के तुक और वज़न के साम्य के कारण प्रतिलिपिकार ने अपनी गलत स्मृति का प्रयोग करके पाठ-भ्रष्ट किया है। इसी प्रकार का एक उदाहरण लाला भगवानदीन के 'बिहारी सतसई' के संस्करण में भी मिलता है। दो दोहों में अन्तिम चरण का पाठ एक ही मिलता है जो निश्चय ही तुक साम्य के कारण संभव हुआ होगा। वे दोहे इस प्रकार हैं :

१ 'सटपटाति सी ससि मुखी, मुख घूँघट पट ढाकि।
पावक झर सी झमकि कै, गई झरोखे झाकि।।'[1]

२ 'नावक सर से लायके, तिलक तरुनि इक ताकि।
पावक झर सी झमकि कै, गई झरोखे झाकि।।'[2]

निश्चय ही ये दोहे प्रतिलिपिकार को स्मरण रहे होंगे और गलत स्मृति से एक स्थान का पाठ भ्रष्ट हो गया। प्रतिलिपि परम्परा से यह पाठ चलता आया होगा और लालाजी ने इन्हें ग्रहण कर लिया।

(३) हासिए के पाठ का मिश्रण (Incorporation of Marginalia)—कभी-कभी किसी हस्तलिखित प्रति के संरक्षक जो साहित्य मर्मज्ञ होते थे, किसी अच्छे पाठ के समान मिलने वाले पाठ को तुलनार्थ हाशिए में अंकित कर देते थे। आगे जब उस रचना से प्रतिलिपि होती थी तो प्रतिलिपिकार कभी-कभी उस पाठ को भी मूल का पाठ समझ कर रचना में मिश्र कर देता है और कभी कभी किसी मूल पाठ को छोड़कर हासिए के पाठ से उसको स्थानापन्न कर देता है। भुड़कुड़ा में भीखा साहब के छन्दों को देखने के हेतु मैं वहाँ की सुरक्षित एक हस्तलिखित प्रति का निरीक्षण करने गया। उसके पन्ने उलटते उलटते मुझे उसमें मीरा का एक पद मिल गया जो संतों की रच-

---

१ बिहारी बोधिनी ( लाला भगवानदीन ), दोहा ७० ।
२ बिहारी-बोधिनी ( लाला भगवानदीन ), दोहा ८० ।

नाओं में सग्रहीत था। सम्भव है यह पद पूर्ववर्ती प्रति के हासिए पर तुलनार्थ रहा हो और आगे के प्रतिलिपिकार ने इसे मूल पाठ में ले लिया हो। 'पद्मावत' में इस प्रकार के पाठ बहुतायत से मिलते हैं और उसकी हस्तलिखित प्रतियों में हासिए पर बहुत लिखा हुआ भी मिलता है। उदाहरणार्थ, निम्नलिखित पाठ 'पद्मावत' की चौदह प्रतियों में प्राप्त है :

'रानी उतर मानसों दीन्हा ।
पडित सुआ मझाली लीन्हा ।।२
... . . ...
रुहिर चुवै जब जब कह बाता ।
भोजन बिनु भोजन मुख राता ।।७'

किसी आदर्श प्रति में हासिए में एक पाठ अकित था :

'वेगि सुआ लै आवहु रानी ।
नींद परै कछु कहौ कहानी ।।'

दो प्रतियों में, एक में द्वितीय अर्द्धाली के स्थान पर, एक में सातवीं के स्थान पर, यह पाठ स्थानापन्न मिलता है। कदाचित् हासिए में यह पाठ तिरछे लिखा हुआ था जो पूरे छन्द की द्वितीय से सप्तम अर्द्धाली तक था। एक ने इसे दूसरी के स्थान पर तथा दूसरे ने सातवी के स्थान पर समझ कर ले लिया। जब कि प्रसग आदि की दृष्टि से चौदह प्रतियों मे प्राप्त पाठ ही ठीक है।

इसी प्रकार एक अन्य रोचक उदाहरण इसी रचना में मिलता है। सामान्य पाठ है :

'एहि ठाउँ कर गुरु सँग कीजै ।
गुरु सँग होइ पार तब लीजै ।। दूसरी अर्द्धाली
× × ×
तीस सहस्र कोस कै पाटा ।
अस साकर चलि सकै न चाँटा ।। छठीं अर्द्धाली
खाडे चाहि पैनि पैनाई ।
बार चाहि पातर पतराई ।। सातवीं अर्द्धाली'

एक अन्य पाठ जो कदाचित् हासिए मे था एक में छठीं के स्थान पर और दूसरी मे सातवीं के स्थान पर आया है :

'एहि पथ सब कँह है जाना ।
होइ दुसरे विसवास निदाना ।।'

और एक तीसरी प्रति में सामान्य पाठ की सातों अर्द्धालियाँ ज्यों की त्यों हैं और यह उपर्युक्त हासिए का पाठ आठवीं अर्द्धाली के रूप में ग्रहण कर लिया गया है। इस प्रकार की पाठ-विकृति का निर्देश बा जगन्नाथदास रत्नाकर ने बिहारी-सतसई की अपने द्वारा प्रयुक्त प्रति न० ४ में किया है। उसमें 'अमर चन्द्रिका' के कुछ छन्द सतसई के दोहों के साथ मिला दिए गए हैं। ये दोहे अन्य किसी प्रति में नहीं हैं। रत्नाकर जी का अनुमान है कि ये दोहे प्रति न ४ की 'आदर्श' प्रति के हासिए में तुलनार्थ अंकित कर दिए गए रहे होंगे जिसे प्रतिलिपिकार ने बिहारी का ही मान कर मूल पाठ में सम्मिलित कर लिया होगा।

(४) **क्रम-परिवर्तन**—(Transposition)—क्रम-परिवर्तन छन्द तथा पंक्तियों का तो होता ही है। कभी-कभी पत्रों का भी हो जाता था। पहले ग्रन्थ अलग-अलग पत्रों पर लिखे जाते थे, यदि उनकी सिलन टूट जाती थी और पत्रों पर संख्या नहीं होती थी तो उनके क्रम को ठीक करने का कोई मार्ग नहीं रहता है और इस प्रकार उनके क्रम परिवर्तन की सम्भावनाएँ रहती हैं। पद्मावत की प्रतियों में छन्दों से लेकर पत्रों तक का क्रम-परिवर्तन मिलता है। छन्दों का क्रम-परिवर्तन कभी-कभी हासिए में अंकित पाठ के कारण भी हो जाता है। यदि कोई छन्द भूल गया हो और उसे पुनः हासिए में लिख दिया गया हो तो आगे प्रतिलिपिकार उसे अपनी बुद्धि से जहाँ ठीक समझता है उतारता है, इस प्रकार क्रम-परिवर्तन की सम्भावना रहती है। मुल्लादाउद कृत 'लोरकहा' की एक प्राप्त प्रति इतने कलात्मक ढंग से लिखी गयी है कि उसमें क्रम-परिवर्तन की बड़ी सम्भावनाएँ हैं। यह परिवर्तन कभी-कभी रचना चारुता लाने के लिए सचेष्ट ढंग से भी किया जाता है। जैसे बिहारी सतसई के २४ क्रम मिलते हैं जो रचना को भिन्न भिन्न ढंग से सजाने के हेतु किये गये। आजमशाही-क्रम विषय के अनुसार रचना के छन्दों को एक एक स्थान पर संगृहीत करने के हेतु हुआ। इस प्रकार के क्रम परिवर्तन की प्रक्रिया भी प्रक्षेप की प्रक्रिया है।

(५) **उच्चारण-सम्बन्धी विकृतियाँ**—कभी-कभी एक ही शब्द का लिखित रूप कुछ और होता है और उच्चरित रूप कुछ और होता है। यदि प्रतिलिपिकार ऐसी दशा में किसी से पढ़वा कर स्वयं प्रतिलिपि करता है तो इस प्रकार की बहुत सी भूलें उससे सम्भव हो जाती हैं। भाषाविज्ञान की दृष्टि से अनुनासिक व्यंजनों के पूर्व के व्यंजन को भी हम अनुनासिक प्रयोग करते हैं पर यह भेद लिखने में नहीं दिखाया जाता परन्तु 'मानस' की एक प्रति में ऐसा लिखित रूप भी मिलता है यथा 'राँम', 'काँम', 'जाँमवंत', 'अतिबलवाँना' आदि।[१] यह भूल उच्चारण के इस रूप के कारण

१ 'हिन्दी भाषा का इतिहास—धीरेन्द्र वर्मा—पृ० १४०, फुटनोट।

ही सम्भव हुई होगी। इस प्रकार की उच्चारण सबन्धी भूलें अंग्रेजी के पाठों में बड़ी सरलता से सम्भव हो सकती हैं क्योंकि उनमें शब्दों के उच्चरित और लिखित रूप में अधिकांशतः भेद रहता है।

## सचेष्ट विकृतियाँ

सचेष्ट विकृतियों को सामान्यतः प्रक्षेप कहा जाता है। अंग्रेजी में इसका समानार्थी शब्द है—इन्टरपोलेशन। यह शब्द 'पॉलिस' धातु से निकला है जिसका अर्थ होता है चमत्कृत करना। वास्तव में प्रतिलिपिकार जब मूल पाठ में प्रक्षेप करता है तो उसका उद्देश्य उस पाठ को चमत्कृत करना ही होता है। सम्भव भी है कि प्रक्षेप के द्वारा मूल पाठ और सुन्दर बन जाय परन्तु वैज्ञानिक पाठालोचक इस प्रक्रिया को हस्तक्षेप से अधिक नहीं मानता। यह प्रक्रिया चार प्रकार से होती है—आगम, लोप, विपर्यय और व्यत्यय। इस वर्ग के अन्तर्गत आने वाली भूलों के कुछ उदाहरण इस प्रकार दिये जा सकते हैं :

( १ ) **अनधिकार सुधार करना**—यह सुधार कई प्रकार से किया जा सकता है। जैसे यदि किसी शब्द का व्याकरण रूप प्राचीन पड़ गया हो तो कभी-कभी प्रतिलिपिकार उसके नवीन रूप के द्वारा उसे स्थानापन्न कर देते हैं। इस प्रकार रचना के प्राचीन गौरव को समाप्त करने का प्रयास प्रतिलिपिकार द्वारा हो जाता है। इसी प्रकार प्रयोग से उठ गये शब्दों के स्थान पर वह नवीन प्रयोग में आने वाले शब्दों को ला खड़ा कर देता है। जैसे पद्मावत में एक पाठ है :

'सात समुद ज्यों कागर करई ॥'

इसमे 'कागर' शब्द अब प्रयोग में नहीं आता है, अतः प्रतिलिपिकारों ने इसके स्थान पर किसी प्रति में 'कागद' किया और किसी में 'कागज'। पर यह पुराना रूप है जो कागज के लिए प्रयोग में आता रहा है। इसी प्रकार एक अन्य पाठ है :

'गिरि पहार पब्बै गहि पेलहिं।'

इसमें 'पब्बै' पाठ पर्वत के लिए प्रयुक्त हुआ है जो बाद में प्रचलित नहीं था, अतः किसी-किसी प्रतिलिपिकार ने इसका 'पर्वत' पाठ कर दिया।

( २ ) **अपनी ओर से पाठ बढ़ा देना**—यह भी प्रक्रिया कई कारणों से होती है। कभी कभी मूल-प्रति या आदर्श त्रुटित होती है तो प्रतिलिपिकार टूटे हुए अंशों के पाठ अपने मन से बना कर जोड़ देता है। इसी प्रकार यदि किसी रचनाकार की ख्याति का लाभ किसी सम्प्रदाय विशेष को पहुँचाने का मन्तव्य रहा तो उसकी

रचना में उस सम्प्रदाय के सिद्धान्त सम्बन्धी कुछ छन्द बना कर अपनी ओर से जोड़ दिया गया। जैसे 'मानस' में मूल-पाठ था—'निज आयुध भुजचारी' तो राम को विष्णु का अवतार न मानने वाले ने अपनी प्रति में इसका 'निज आयुध भुज-धारी' कर दिया। इसके अतिरिक्त किसी रचना को और जन-प्रिय बनाने तथा उसको विस्तृत बनाने के हेतु भी यह प्रक्रिया होती देखी जाती है। कबीर के पदों में उनके नाम से उनके कितने ही शिष्यों ने अपने पद जोड़ दिये। पृथ्वीराजरासो में युद्ध-वर्णन, ऋतु-वर्णन, विवाह-वर्णन के कितने ही प्रसग प्रतिलिपिकारों द्वारा किये गये प्रक्षेप हैं। इसी प्रकार 'रामचरितमानस' में भी हमें प्रक्षेपों की एक वृहद् शृखला मिलती है। सस्कृत के ग्रन्थों में भी यह प्रक्षेप पर्याप्त मात्रा में हुआ। 'रामायण' का प्रथम और अन्तिम काण्ड प्रक्षिप्त माना जाता है। वाल्मीकि ने राम को मानव-रूप में प्रस्तुत किया था पर इन दो काण्डों के प्रक्षेप ने उन्हें ईश्वरत्व देने की चेष्टा की। इसी प्रकार महाभारत किस प्रकार 'जय काव्य' से 'भारत काव्य' और पुनः महाभारत के रूप में पहुँचा यह भारतीय साहित्य के विद्यार्थी जानते हैं।

( ३ ) **छन्द-सुधार करना**—छन्दभग को दूर करने के लिए तथा कभी-कभी उनके रूप परिवर्तन की लालसा से भी अनेक प्रकार की पाठ विकृतियाँ हो जाती हैं। इस प्रकार के कुछ उदाहरण बनारसीदास जैन कृत 'अर्द्धकथा' से दिये जायँगे।[१] एक पाठ था :

'कही बात ( जब ) बनारसी।
तब वे कहन लगे पारसी॥
एक कहै ये ठग तहकीक।
एक कहै व्योपारी ठीक॥'

इसमें प्रथम चरण का 'जब' शब्द भूल से छूट गया और प्रतिलिपिकार को मात्रा के आधार पर प्रथम चरण दोहे का प्रतीत हुआ और उसने इस पाठ को काट-छाँट कर दोहे में परिवर्तित कर दिया जो एक शाखा की प्रतियों में मिलता है :

'कही बात बानारसी, कहन लगे पर सीक।
कहि ये ठग तहकीक हैं, कोउ कह व्यापारीक॥'

इसी प्रकार की प्रवृत्ति के कारण उसी प्रतिलिपिकार ने एक स्थान पर दोहे को

---

१ 'अर्द्धकथा का पाठ'—डॉ माताप्रसाद गुप्त—हिन्दी अनुशीलन, अक ३, वर्ष १।

चौपाई के रूप में परिवर्तित कर दिया है। ऊपर एक स्थान पर 'आवहिं जाहि करै अति खेद' वाली असावधानी के कारण हुई भूल का उल्लेख हुआ है जिसमें प्रथम अर्द्धाली के बाद तीन अर्द्धाली तथा दोहे के तीन चरण छूट गये थे। उसके प्रतिलिपि-कार ने दोहे के एक बचे हुए छन्द को भी अर्द्धाली का एक चरण बना कर पहले बचे हुए चरण के साथ मिला दिया :

'आवहिं जाहिं करै अति खेद।
समुझे मिले न रुपये तेद ॥'

बिहारी सतसई में जो कुछ पाठ के रूप में मिलते हैं, किन्हीं-किन्हीं प्रतियों में दोहे सोरठे के रूप में मिलते है, जो केवल कुछ चरणों के हेर-फेर से हो गये हैं :

१—'यह जग काचो काच सो, मै समुझो निरधार।
प्रतिबिम्बित लखियो, जहाँ एकै रूप अपार।'

२—'जो अनेक पतितन दिये, मोहूँ दीजै मोप।
तो बाधौ अपने गुनन, जो बाधे ही तोप ॥'

यह प्रक्रिया पाठ को भ्रष्ट कर देती है। यही प्रक्रिया हमें नाभादास के 'भक्त-माल' में तथा नारायणदास की 'मधुमालती' में भी मिलती है।

इन पाठ-विकृतियों की जानकारी के बिना वैज्ञानिक पाठालोचन का कार्य सम्भव नहीं होता है।

————

# ५

# पाठ-चयन

पाठ-निर्धारण की दिशा में सभी उपलब्ध मुख्य तथा सहायक सामग्रियों का सूक्ष्म परीक्षण करना प्रथम सोपान माना जाता है। यह कार्य करते समय सभी हस्तलिखित प्रतियों या अन्य सामग्रियों की विशेषताओं को दृष्टिपथ में रख कर आगे बढ़ना होता है। वास्तव में पाठालोचन का मूल कार्य यहीं से प्रारम्भ होता है और इसे पारिभाषिक रूप में 'पाठचयन' कहा जाता है। 'पाठचयन' मूल पाठ के पुनर्निर्माण की उस प्रक्रिया को कहते हैं जिसमे प्रतियों के तुलनात्मक साक्ष्य के आधार पर ही पाठ ग्रहण किया जाता है। पाठ निर्धारण करते समय यदि हमारे सामने रचना की केवल एक ही प्रति हो तो उस समय संपादन का कार्य प्रायः नगण्य सा हो जाता है। वहाँ सम्पादक, पत्रिकाओं आदि के सम्पादकों की भाँति, लेखक की शब्द, शब्दांश एवं मात्रा आदि की दृष्टिभ्रम या लेखन प्रमाद जैसी निश्चेष्ट भूलों का संशोधन मात्र प्रस्तुत कर सकता है, इससे अधिक नहीं। ऐसी स्थिति में यदि उसे प्राप्त प्रति में कहीं कोई छंद या उसकी कोई पंक्ति छूट गई प्रतीत हो या पाठ फट जाने के कारण छूटा हुआ हो, तो संपादक उनका उल्लेख मात्र कर देता है, उनके स्थान पर अपनी ओर से कुछ स्थानापन्न नहीं करता। यदि किसी रचना की बहुत सी हस्तलिखित प्रतियाँ प्राप्त हों और उनमें पाठ-वैषम्य प्रभूत मात्रा में मिलता हो, तो पाठ संपादन की वास्तविक समस्या खड़ी होती है और उसके समाधान हेतु पाठ-चयन की विधि का सहारा लेना पड़ता है।

पाठ-चयन का एक सामान्य सिद्धान्त यह है कि सभी प्रतियों में समान रूप से प्राप्त होने वाला पाठ किसी समान उद्गम की ओर संकेत करता है। संभव है वह समान उद्गम रचयिता का स्वहस्तलेख ही हो।[1] पर साथ ही पाठों की समानता

[1] Accident apart, identity of reading implies identity of source The source of transmitted reading may, undoubtedly, be the author's autograph —Postgate

का कारण यह भी हो सकता है कि उपलब्ध सभी प्रतियाँ एक ही आदर्श प्रति की प्रतिलिपियाँ हों। ऐसी दशा में उन प्रतियों के आधार पर प्रस्तुत पाठ उस विशिष्ट शाखा के मूलादर्श ( Archetype ) मात्र का पाठ होगा, रचना का मूल पाठ नहीं। रचना के मूल पाठ तक पहुँचने के लिए तो प्रायः कई शाखाओं की प्रतियों की आवश्यकता होती है। 'शाखा' से तात्पर्य प्रतियों की परस्पर सम्बन्ध परम्परा से है जिसमें प्रतियाँ क्रमशः एक दूसरे की प्रतिलिपि होती हैं। इस प्रकार जब एक विशिष्ट वर्ग की प्रतियाँ जो निर्भ्रान्त निश्चेष्ट विकृतियों में भी एकमत होती हैं, एक परिवार, एक समूह या एक शाखा की प्रतियाँ कही जाती हैं। पाठ सपादक के पास उपलब्ध अनेक प्रतियों के शाखागत वर्गीकरण के लिए प्रतियों के परस्पर पाठ सम्बन्धों की छानबीन करनी पड़ती है। प्रतियों मे पाए जाने वाले पाठ-सम्बन्ध प्रायः दो प्रकार के होते हैं . १ मुख्य सम्बन्ध (Primary Relationship) २ सकीर्ण सम्बन्ध (Secondary Relationship)।

**मुख्य सबंध**—मुख्य सम्बन्ध से तात्पर्य उस सम्बन्ध से होता है जो लेखक की मूल प्रति से प्रवाहित होने के कारण उस रचना की सभी उपलब्ध प्रतियों में प्राप्त होता है। जब सभी प्रतियों में कुछ पाठ समान रूप से प्राप्त हों और साथ ही वे सभी पाठ शुद्ध हों अर्थात् प्रसग, अर्थ एव प्रयोग आदि की दृष्टि से ठीक हों तो किसी न किसी रूप मे उनका मूलपाठ होना प्रमाणित ही हो जाता है। इस प्रकार मूलपाठ से नि सृत पाठ के कारण स्थापित प्रतियों के परस्पर सम्बन्ध को 'मुख्य सम्बन्ध' कहा जाता है। इस सम्बन्ध के कारण पाए जाने वाले साम्य को 'शुद्धि साम्य' कहते हैं। प्रतियों का मुख्य सम्बन्ध या शुद्धि साम्य उनके पारिवारिक शाखा निर्धारण में बहुत सहायक नहीं होता है।

**सकीर्ण सबध**—लेखक की मूल प्रति से इतर, अन्य व्यक्तियों—प्रतिलिपिकार, प्रक्षेपकर्त्ता, सपादक या पाठक आदि—द्वारा सशोधित या स्थापित पाठ से प्रसूत होकर कुछ प्रतियों मे आए हुए पाठ का परस्पर सम्बन्ध 'सकीर्ण सम्बन्ध' कहा जाता है। सकीर्ण सम्बन्ध का निर्धारण प्रमुख रूप से निश्चेष्ट विकृतियों के साम्य के आधार पर होता है। सचेष्ट विकृतियाँ, जब किसी सिद्धहस्त व्यक्ति द्वारा होती हैं तो प्रसग आदि की दृष्टि से वे रचयिता के मूल पाठ के मेल में बैठ अवश्य जाती हैं, पर अन्य शाखा की प्रतियों से विशिष्ट सचेष्ट विकृति से समन्वित प्रतियों का पाठ या तो निश्चित प्रसगों पर अधिक होगा या परिवर्तित होगा। इन दोनों ही दशाओं में, मूल पाठ का निर्धारण तो आगे चल कर होता है, इतना तो निश्चय हो जाता है कि ये विशिष्ट

पाठ समन्वित प्रतियाँ अवश्य एक परिवार की हैं।† इसी प्रकार जब विभिन्न प्रतियों में पाए जाने वाले कुछ पाठों में परस्पर विषमता हो, पर सभी अपने अपने स्थान पर सामान्यतया शुद्ध प्रतीत हों तो भी उन विशेष पाठवाली प्रतियों का परस्पर सकीर्ण सम्बन्ध प्रमाणित होता है और शुद्ध लगने वाले पाठों की इस विषमता को 'शुद्धि-वैषम्य' कहते हैं। इसके अतिरिक्त जब निश्चेष्ट विकृतियों की समानता विविध प्रतियों में मिलती है या अन्य अशुद्धियों की ऐसी ही समानता मिलती है तो भी उन प्रतियों का सकीर्ण सम्बन्ध निश्चित हो जाता है तथा इस प्रकार की समानताओं को 'अशुद्धिसाम्य' कहते हैं। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि निश्चेष्ट विकृतियों की समानता और सचेष्ट विकृतियों की विषमता से प्रतियों के सकीर्ण सम्बन्ध पहचाने जाते हैं। डॉ माताप्रसाद गुप्त का कथन है कि 'प्रतियों की पाठ-विषयक पारस्परिक सम्बन्ध स्थापना के लिए उनके पारस्परिक पाठ-साम्य एव पाठ-वैषम्य का विश्लेषण आवश्यक हुआ करता है और यह विश्लेषण शुद्ध पाठों और अशुद्ध पाठों के आधार पर किया जाता है। पर 'अशुद्धि साम्य' इस विषय में जितना निश्चयात्मक हो सकता है उतना 'शुद्धि साम्य' नहीं और इसी प्रकार 'शुद्धि वैषम्य' जितना निश्चयात्मक हो सकता है उतना 'अशुद्धि वैषम्य' नहीं। 'अशुद्धि-शुद्धि वैषम्य' भी इस प्रकार की सम्बन्ध स्थापना में सामान्यतः निश्चयात्मक नहीं हुआ करता।'[१]

सकीर्ण सम्बन्ध के निर्धारण हेतु डॉ कात्रे ने लिखा है[२] कि यह सम्बन्ध साधारणतः दो प्रमाणों के आधार पर निर्णीत होता है :—(१) जब कुछ प्रतियाँ अपनी पाठगत विशेषताओं में प्रभूत मात्रा में साम्य रखती हैं तो उनका सकीर्ण सम्बन्ध प्रमाणित होता है। ये समानताएँ स्वल्प नहीं होनी चाहिए, प्रत्युत प्रभूत मात्रा में पाई जाने वाली विशिष्ट समानताएँ ही सम्बन्ध निर्धारण में सहायक होती हैं। ये समानताएँ प्रायः दो प्रकार की होती हैं। पहली तो यह कि ऐसी विशेषताएँ, जो मूल प्रति

---

† The peculiar resemblance of two (or more) manuscripts, though not sufficient to warrant the derivation of either from the other, may be sufficient to establish some connexion between them From the axiom which has just been cited, it follows that this connection can be only due to community of source and we thus arrive at the idea of family of manuscripts —Postgate

[१] 'अर्द्धकथा का पाठ'—हिन्दी अनुशीलन, वर्ष ३, अ० १।

[२] Introduction to Indian Textual Criticism, Page 76

या किसी शाखा विशेष के मूलादर्श में रही सम्भव नहीं प्रतीत होतीं, यदि कई प्रतियों में समान रूप से मिलें, तो उन प्रतियों में परस्पर सम्बन्ध होना प्रमाणित होता है। इस प्रकार की कई विशेषताओं का उल्लेख डॉ माताप्रसाद गुप्त ने रामचरितमानस की प्रतियों मे किया है। मानस की १७२१ और १७६२ की प्रतियों में इस प्रकार की प्रभूत समानताएँ मिलीं जिनके आधार पर उनका परस्पर सकीर्ण सम्बन्ध सिद्ध हुआ। १७२१ वाली प्रति मे बालकाण्ड में दोहा स० २२६ के स्थान पर प्रमादवश दोहा संख्या २२६ लिख गया। इस प्रकार वास्तविक दोहों की सख्या से ३ संख्या बढ़ गई क्योंकि २२६ के स्थान पर २२६ लिख गया और क्रम उसी से आगे बढ़ता गया। चूँकि १७६२ की प्रति १७२१ की प्रतिलिपि है अत उसमें भी यह भूल ज्यों की त्यों उतार ली गई है। यह विशेषता मानस की अन्य शाखाओं की प्रतियों मे नहीं मिलती है और न ही इस प्रकार की विशेषताओं का मूल पाठ मे होना स्वीकार किया जा सकता है। अतः इस प्रकार की अनेक विशेषताएँ इनके परस्पर सकीर्ण सम्बन्ध को सिद्ध करने में सहायक हुई। दूसरी विशेषताएँ भूल के कारण छूटे हुए अथवा प्रक्षेप के कारण बढे हुए अशों की समानता के कारण दृष्टिगत होती हैं। इनमें भी प्रक्षेप के कारण बढे हुए अशो की समानता सकीर्ण सम्बन्ध निर्धारण में उतनी निश्चयात्मक नहीं होती, जितनी भूल के कारण छूटे हुए अशों की समानता होती है। रामचरितमानस की जिन दो प्रतियों का एक उदाहरण ऊपर प्रस्तुत किया गया है, उन्हीं में इस प्रकार की भूलों की भी अनेक समानताएँ प्राप्त होती है जिनसे उनके सकीर्ण सम्बन्ध का निश्चय और दृढ़ हो जाता है। पाठ विकृतियों के अध्ययन के समय हमने वर्णसाम्य के कारण हुई भूल के अन्तर्गत जो उदाहरण प्रस्तुत किया है कि मूल पाठ था 'राम कृपाते पारवति', भूल से एक प्रति मे लिख गया 'रामकृपारवति'। ठीक यही पाठ दूसरी प्रति में भी उतार लिया गया। ये छूटे हुए अशो की कई समानताएँ जब मिलती हैं तो प्रतियो के परस्पर सकीर्ण सम्बन्ध से सम्बन्धित होने की धारणा दृढ़ होती है। (२) प्रतियों के परस्पर सकीर्ण सम्बन्ध के निराकरण के हेतु प्रस्तुत किए गए इन प्रथम कोटि के साक्ष्यों के अतिरिक्त उनके सकीर्ण-सम्बन्ध की स्थिति एकदम दृढ़ हो जाती है जब उनमे बड़ी ही छोटी छोटी बातो की समानताएँ मिलती हैं तथा वे शब्दशः एक दूसरे के समान होती है।

सकीर्ण सम्बन्ध का निराकरण करते समय 'मिश्रपाठ' की सम्भावनाओं से सदैव सतर्क रहना चाहिए। सकीर्ण सम्बन्ध जहाँ मूल या एक शाखा के मूलादर्श से चलने वाले मूल स्रोत के प्रवाह के साथ प्रतिलिपिकार की सचेष्ट या निश्चेष्ट भूलों के कारण उत्पन्न होते हैं, वहाँ 'मिश्रपाठ' दो भिन्न शाखाओं के पाठ को मिलाकर प्रस्तुत

करने के कारण उत्पन्न होते हैं। 'मिश्रपाठ' के निराकरण के उपरान्त ही सकीर्ण सम्बन्धों की छान-बीन उपयोगी होती है। पाठ-मिश्रण के समय 'मिश्रपाठ' में दो या दो से अधिक शाखाओं की प्रतियों की विकृतियाँ सम्मिलित हो सकती हैं पर इससे उस प्रति का सीधे किसी शाखा के साथ सकीर्ण सम्बन्ध से सम्बन्धित होना नहीं प्रमाणित होता।

## शाखा-विभाजन

विशिष्ट प्रकार के पाठों को धारण करने वाली प्रतियाँ, जो परस्पर सकीर्ण सम्बन्ध से सम्बन्धित होती हैं, एक शाखा, एक परिवार या एक वश की प्रतियाँ कही जाती हैं। जिस प्रकार एक वश-परम्परा के व्यक्तियों में परस्पर रक्त-सम्बन्ध होता है और इस सम्बन्ध का वस्तुगत प्रतीक उनके रूप, रग, गुण तथा धर्म आदि की समानता के रूप में प्रकट होता है, उसी प्रकार परस्पर प्रतिलिपि-सम्बन्ध से सम्बद्ध हस्तलेख एक परिवार के होते हैं और उनकी निजी विशेषताएँ भी परस्पर बहुत कुछ समान होती हैं। सकीर्ण सम्बन्ध के निराकरण के सिद्धान्त प्रस्तुत करते समय यह देखा जा चुका है कि परस्पर सम्बन्ध निर्धारण मे 'अशुद्धि साम्य' एव 'शुद्धि वैषम्य' विशेष सहायक होते हैं। इस प्रकार के 'अशुद्धि साम्यों' एव· 'शुद्धि वैषम्यों' की प्रभूत मात्रा मे प्राप्ति, प्रतियों के परस्पर प्रतिलिपि सम्बन्ध की द्योतक होती है :

कल्पना कीजिए कि किसी रचना की सात प्रतियाँ हमें प्राप्त हैं जिन्हे हम क्रमश अ, ब, स, द, य, र, फ नामों से अभिहित करते हैं। इनके परस्पर सकीर्ण-सम्बन्धों की परीक्षा करने पर ज्ञात हुआ कि अ, ब, स में अशुद्धियों का परस्पर साम्य प्रभूत मात्रा मे मिलता है। इसी प्रकार के साम्य के कारण द, य, र का भी परस्पर सकीर्ण सम्बन्ध प्रमाणित होता है। फ प्रति अपनी स्वतन्त्र अशुद्धियों से युक्त है और उसका किसी अन्य प्रति से साम्य नहीं है। इस दशा में इतना तो अत्यन्त सरलता से निश्चित हो जायगा कि प्राप्त प्रतियाँ तीन समूहों में विभक्त की जा सकती हैं और वे तीन शाखाओं की प्रतियाँ हैं। पर पाठों के आधार पर प्रतियों का समूह निर्धारण ही पर्याप्त नहीं होता बल्कि उनके परस्पर सम्बन्धों की छान-बीन करके उनके परस्पर सम्बन्ध का निर्देश तथा उनके प्रतिलिपि सम्बन्धों का वश-वृक्ष तैयार करना पड़ता है। इस वश-वृक्ष के तैयार करने मे एक शाखा की सभी प्रतियों के परस्पर प्रतिलिपि-सम्बन्ध को ढूढना पड़ता है। दो प्रतियों का एक शाखा या समूह मे होना जब निश्चित हो जाता है तो उनके परस्पर सम्बन्ध निर्धारण मे हमारे सम्मुख प्राय· तीन प्रश्न खड़े होते हैं

१—क्या वे दोनों प्रतियाँ किसी सामान्य आदर्श की प्रतिलिपियाँ हैं ?

२—यदि नहीं तो क्या उनमें से प्रथम प्रति दूसरे की प्रतिलिपि है ?

३—यदि यह भी नहीं तो क्या दूसरी प्रति प्रथम की प्रतिलिपि है ?

इनमें से पहली स्थिति तो तब मानी जायगी जब उन दोनों ही प्रतियों में कुछ विकृतियाँ ऐसी मिलती हों जो समान हों, पर इसके अतिरिक्त दोनों में अपनी कुछ विशेष विकृतियाँ भी हों, तो वे दोनों किसी सामान्य 'आदर्श' की प्रतिलिपियाँ मानी जायगीं। क्योंकि इस स्थिति के निर्माण का मूल कारण यह होता है कि समान मिलने वाली विकृतियाँ प्रायः सामान्य आदर्श से ग्रहण करली जाती हैं और विशेष मिलने वाली विकृतियाँ उन दोनों प्रतियों के प्रतिलिपिकारों के कारण उत्पन्न होती हैं। दूसरी स्थिति तब मानी जाती है जब द्वितीय प्रति में मिलने वाली सपूर्ण विकृतियाँ प्रथम प्रति मे ज्यों-की-त्यों उतार ली गई हों या प्राय. यह स्थिति देखी जाय कि द्वितीय प्रति में कोई भी ऐसी विकृति नहीं है जो प्रथम में न आगई हो। साथ ही द्वितीय प्रति की विकृतियों के अतिरिक्त प्रथम मे अपनी कुछ विशेष विकृतियाँ भी मिलती हों जो उस प्रति के प्रतिलिपिकार के दृष्टिभ्रम तथा लेखन-प्रमाद आदि के कारण प्रसूत पाठ विकृतियों के रूप में होती हैं। तीसरी स्थिति इसके प्रतिकूल प्रमाण प्राप्त होने पर मानी जाती है। जब प्रथम की सम्पूर्ण विकृतियाँ द्वितीय में आ गई हों तथा द्वितीय में प्रथम मे प्राप्त विकृतियों के अतिरिक्त अपनी कुछ विशेष विकृतियाँ भी हों तो यह प्रमाणित होता है कि द्वितीय प्रथम की प्रतिलिपि है। इन तीनों स्थितियों को उदाहरण द्वारा इस प्रकार देखा जा सकता है :

| (१) प्र० = ५ + (३) | (२) द्वि० = ५ | (३) प्र० = ५ |
|---|---|---|
| द्वि० = ५ + [२] | प्र० = ५ + (३) | द्वि० = ५ + (३) |

इनमें से प्रथम स्थिति के उदाहरण में ५ विकृतियाँ तो प्र० और द्वितीय दोनों में समान हैं, पर प्र० की (३) उस प्रति की विशेष विकृतियाँ हैं तथा द्वितीय की [२] उस प्रति की दूसरी विशेष विकृतियाँ हैं। इसीलिए इन्हें भिन्न आकार के कोष्ठकों द्वारा दिखाया गया है। इसी प्रकार दूसरी स्थिति में द्वि० की ५ और प्र० की ५ समान विकृतियाँ हैं और प्र० की (३) उस प्रति की विशेष विकृतियाँ हैं तथा तीसरी स्थिति में प्र० की ५ और द्वि० की ५ समान विकृतियाँ हैं तथा द्वि० की (२) उस प्रति की अपनी विशेष विकृतियाँ हैं। इन तीनों स्थितियों की प्रतियों को हम वंश-वृक्ष के रूप में इस प्रकार प्रस्तुत करेंगे.
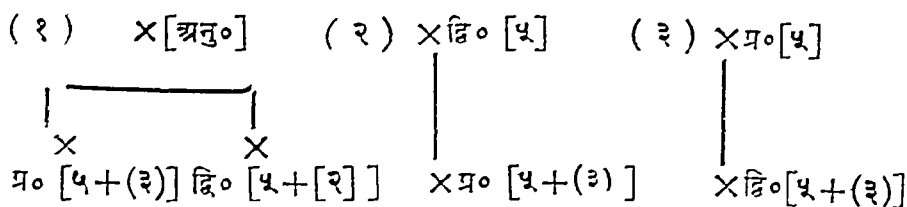
इनमें प्रथम स्थिति में 'आदर्श' के स्थान पर [अनु०] संकेत अनुपलब्ध प्रति के लिए दिया गया है। यही अनुपलब्ध प्रति इस शाखा की इन दोनों प्रतियों की कल्पित आदर्श प्रति है। प्रथम स्थिति में हमने जिस प्रकार का काल्पनिक उदाहरण प्रस्तुत किया है, ठीक इसी प्रकार की वंश-परम्परा की दो 'छिताई वार्ता' की प्रतियों की प्राप्ति डॉ० माताप्रसाद गुप्त को हुई थी जिन्हें उन्होंने क्रमशः क एवं श्री संकेतों से अभिहित किया है। इनके परस्पर प्रतिलिपि सम्बन्ध की छानबीन ऊपर उल्लिखित ढंग से कर डॉ० गुप्त ने उनका पाठ संबंध इस प्रकार प्रस्तुत किया है :[1]
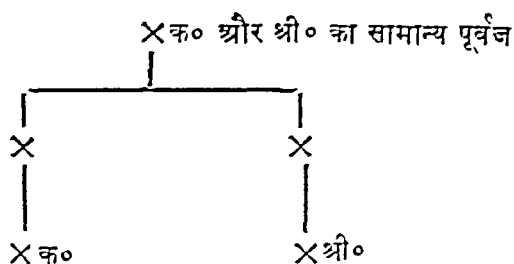
प्रतियों के परस्पर संबंध निर्धारण के यही सामान्य सिद्धान्त हैं। इन सिद्धान्तों के प्रयोग में इस बात की सावधानी अनिवार्य होती है कि पाठ-विकृतियों में विशेष रूप से निश्चेष्ट पाठ-विकृतियाँ सम्बन्ध-निर्धारण में सहायक होती हैं। साथ ही जब प्रतिलिपिकार अत्यन्त प्रामाणिकता-पूर्वक 'मक्षिका स्थाने मक्षिका' के सिद्धान्त का पालन करता हुआ न चलेगा और वह अपनी सूझ-बूझ के प्रयोग द्वारा पूर्व प्रतिलिपिकार की भूलों का सुधार करता चलेगा तो सम्बन्ध-निर्धारण में कुछ कठिनाई हो सकती है। फिर भी इन संभावनाओं को दृष्टि में रखकर पाठालोचक सम्बन्ध-निर्धारण का कार्य करता है और प्रतियों की सूक्ष्म परीक्षा करने पर उनके परस्पर प्रतिलिपि सम्बन्ध स्थापित करने वाले प्रमाण मिल ही जाते हैं चाहे प्रतिलिपिकार ने कितनी ही निजी सूझबूझ का प्रयोग किया हो या प्रस्तुत पाठ में कितना ही परवर्ती संशोधन हुआ हो। इतना निश्चय है कि ये सिद्धान्त सामान्य निर्देश मात्र हैं। विविध रचनाओं की पाठ समस्याओं के अध्ययन द्वारा विविध प्रकार की अद्भुत समस्याएँ सम्मुख आती

---

१ विस्तार के लिए भाग २ में 'छिताईवार्ता' शीर्षक देखें।

हैं जिन्हें इन्हीं मूल सिद्धान्तों के आधार पर पाठालोचक अपनी सूझबूझ द्वारा हल किया करते हैं। उदाहरणार्थ, 'पृथ्वीराज रासउ' की पाठ-शोध करते समय डॉ माता-प्रसाद गुप्त को एक विशिष्टता दिखलाई दी कि 'रासो' के अन्दर कुछ स्थलों पर उक्ति शृङ्खला सा चलती हुई दीख पड़ती है जिसमें प्रथम छद की अन्तिम पक्ति में जो शब्द प्रयुक्त होते हैं उन्हीं में से कुछ के प्रयोग द्वारा आगामी छद का प्रारम्भ होता है। इस प्रकार की उक्ति-शृखला की अत्यन्त प्रशस्त परपरा 'रासो' में दीख पड़ती है। इन शृङ्खलाओं के बीच भी प्रतिलिपिकारों ने प्रक्षिप्त छदों को घुसा दिया है। इस प्रकार के छदों की प्रक्षिप्तता एक तो पाठानुसगति से सिद्ध है, दूसरे विषयानुसगति अथवा अर्थानुसगति से भी वे प्रक्षिप्त ही सिद्ध होते हैं। इस प्रकार की शृङ्खलाओ को एक विशेष प्रकार से तोड़ने वाले छदो से युक्त प्रतियो के परस्पर प्रतिलिपि सबध मे सबद्ध होना सिद्ध होता है।[1]

इसी प्रकार की अन्य जानकारियों की प्राप्ति द्वारा पाठ-सम्बन्ध निर्धारण करने वाली विकृतियों का विस्तार बढ़ता जा सकता है और पाठ-सम्बन्धी विकटतम गुत्थियों को भी सूझबूझ द्वारा सुलझाया जा सकता है।

अब तक हमने दो बातें देख लीं। पहली समान विकृतियों के आधार पर समूहों का विभाजन करना और दूसरी दो प्रति के परस्पर प्रतिलिपि सम्बन्ध का निराकरण करना। अब हम उन्हीं दोनों सिद्धान्तों के आधार पर, 'शाखा विभाजन' उप-शीर्षक के प्रारम्भ मे लिए गए सात प्रतियों अ, ब, स, द, य, र, फ को शाखाओं के अनुसार वशानुक्रम में प्रस्तुत करेंगे। हमने देख लिया है कि ये सातों प्रतियाँ अपनी समानताओं और विषमताओं के आधार पर तीन वर्गों में विभाजित की जा चुकी हैं। प्रथम वर्ग अ, ब, स, द्वितीय वर्ग द, य, र तथा तृतीय वर्ग फ का है। सर्व-प्रथम हम इन तीनों वर्गों की प्रतियों के आदर्शों की कल्पना करते हैं तथा साथ ही सभी शाखाओं के एक मूलादर्श की भी कल्पना करते हैं। इस उदाहरण मे मान लीजिए इन वर्गों के कल्पित आदर्श क्रमश: 'आ', 'ओ' तथा 'ई' हैं और सभी शाखाओं का मूल पाठ 'अ' है। अब हम एक एक वर्ग की प्रतियों का परस्पर सम्बन्ध निर्धारण करेंगे। प्रथम वर्ग की प्रतियों अ, ब, स मे कल्पना कीजिए कि 'अ' में मिलने वाली सभी अशुद्धियाँ 'ब' मे मिलती हैं, साथ ही ब में अ से प्राप्त अशुद्धियों के अतिरिक्त कुछ अपनी निजी अशुद्धियाँ भी हैं। इसी भाँति 'स' मे ब में प्राप्त सपूर्ण अशुद्धियाँ प्राप्त हैं तथा उनके अतिरिक्त अपनी कुछ निजी अशुद्धियाँ भी हैं। तो इस

[1] विस्तार के लिए भाग २ मे 'पृथ्वीराज रासउ' शीर्षक देखें।

दशा में व अ की और स व की प्रतिलिपि हुई। इनका काल्पनिक सम्बन्ध इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है :

अ = १०
ब = १० + ५
स = १० + ५ + ३

×अ
|
×ब
|
×स

इसी ढंग से कल्पना कीजिए कि द, य, र के परस्पर सम्बन्धों पर विमर्श करते हुए हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि द की सम्पूर्ण अशुद्धियाँ य तथा र दोनों में आ गई हैं। पर साथ ही य तथा र में अपनी-अपनी निजी अशुद्धियाँ भी हैं। इस दशा में य तथा र दोनों ही द की प्रतिलिपियाँ हैं और इनका यह काल्पनिक पाठ-सम्बन्ध इस प्रकार प्रस्तुत होगा :

द = १५
य = १५ + (३)
र = १५ + [५]

×द
|
×य ×र

फ तो अपनी शाखा की एकमेव प्रतिनिधि है। अतः उसके किसी अन्य के साथ अशुद्धि-साम्य वा विकृति-साम्य का होना सम्भव ही नहीं। यदि फ का स्वतन्त्र शाखा का निर्भ्रान्त रूप से प्रमाणित होने पर भी कुछ अशुद्धियाँ उसकी अन्य शाखाओं के समान मिलें तो यह विचार उठता है कि उसकी पूर्वज प्रतियों का पाठ अन्य शाखा के पाठ के साथ किसी न किसी स्तर पर अवश्य मिश्रित हुआ रहा होगा।

इस ढंग से इन सातों प्रतियों के परस्पर पाठ सम्बन्ध का निराकरण कर लेने के उपरान्त इन कल्पित प्रतियों का वंश-वृक्ष इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है :
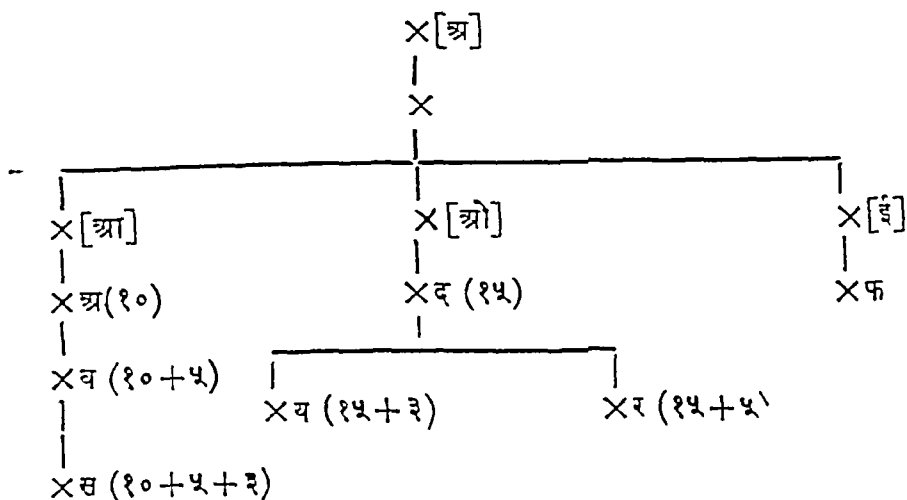
नोट—इस वंश-वृक्ष में दिखलाई गई संख्याएँ पाठ विकृतियों या अशुद्धियों की द्योतक हैं तथा बड़े कोष्टक [ ] अप्राप्त कल्पित आदर्शों के सूचक हैं।

प्रतियों के शाखानुसार परस्पर पाठ-सम्बन्ध के अतिरिक्त दो या दो से अधिक शाखाओं की प्रतियों को आदर्श बना कर उनके मिश्रित पाठ के आधार पर जो प्रतियाँ तैयार होती हैं उन्हें मिश्र-पाठ की प्रतियाँ कहते हैं। मिश्र-पाठ की प्रतियों का निराकरण तब होता है जब उनमें स्वतन्त्र शाखाओं के पाठों में पाई जाने वाली अशुद्धियाँ सम्मिलित कर ली गई हों। इस प्रकार की प्रतियाँ प्रायः पाठ-निर्धारण में उपयोगी नहीं होती हैं। विशेष रूप से उस दशा में तो इनका उपयोग प्रायः नहीं ही होता है, जब उन दो शाखाओं की शुद्ध पाठ की प्रतियाँ उपलब्ध हों जिन शाखाओं के पाठ का मिश्रण उस प्रति में हुआ हो। जब उस प्रति में मिश्रित दो शाखाओं में से किसी एक शाखा की कोई प्रति उपलब्ध न हो तो इनसे अनुपलब्ध शाखा के पाठ की जानकारी कुछ-कुछ अवश्य हो सकती है। अपने निर्धारित वंश-वृक्ष में इन प्रतियों का भी अस्तित्व-निर्देश करना पाठालोचक के लिए अनिवार्य होता है। मान लीजिए ऊपर जिन सात प्रतियों का उदाहरण लिया गया है, उनके अतिरिक्त, च और छ, दो और प्रतियाँ प्राप्त हैं। इसमें च प्रति की परीक्षा करने पर यह विदित होता है कि उसके अन्दर कुछ 'आ' समूह की तथा कुछ 'ओ' समूह की विकृतियाँ दिखलाई पड़ती हैं। इस प्रकार यह निश्चय हुआ कि च प्रति इन दोनों समूहों के मिश्र-पाठ की प्रति है। इसी भाँति यदि छ प्रति में 'इ' और 'ओ' समूह की प्रतियों की विकृतियाँ एकत्र मिलती हों तो वह इन दोनों शाखाओं के मिश्र-पाठ की प्रति होगी। उपर्युक्त वंश वृक्ष में इन प्रतियों का स्थान इस प्रकार दिखाया जा सकता है :
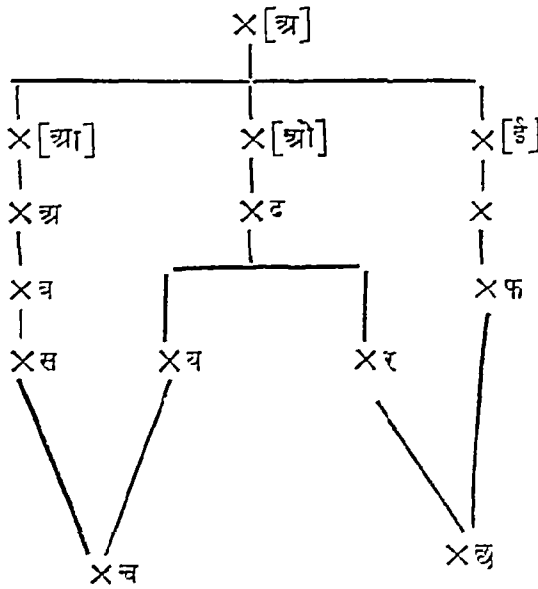
उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत किए गए इन पाठ-सम्बन्धों की ही भाँति सीधे और सरल सम्बन्ध प्रायः सभी रचनाओं की प्रतियों में नहीं मिलते हैं। पर मूलसिद्धान्तों को समझने के लिए इतना पर्याप्त है। उलझे हुए पाठ-सम्बन्धों के उदाहरण के लिए 'पद्मावत' की विभिन्न प्रतियों का पाठ सम्बन्ध तथा कबीर की रचनाओं की संगृहीत करने वाली विभिन्न शाखाओं का परस्पर सम्बन्ध देखे जा सकते हैं।

## पाठालोचक के प्रबोधन

पाठनिर्धारण की प्रकृत प्रक्रिया (पाठ-चयन) के विवेचन के पूर्व हम पाठालोचकों के सम्मुख चेतावनी के रूप में पाठ-चयन के लिए स्वीकृत दो तीन सिद्धान्तों का विवेचन कर देना चाहते हैं।

(१) **पाठानुसंगति तथा अर्थानुसंगति**—पाठ-चयन करते समय हम एक निर्धारित विधि से क्रमशः प्राप्त पाठ से अप्राप्त पाठ की ओर बढ़ते हैं और इसी क्रम से हम धीरे-धीरे रचयिता के मूल-पाठ तक पहुँचते हैं। इस विधि के प्रयोग के समय हमें विभिन्न शाखाओं में प्राप्त होने वाले पाठों की समानता मात्र का ही ध्यान नहीं देना होता है, प्रत्युत उस पाठ की संगति के साथ उसकी संगति, अर्थ एवं प्रसंग आदि की दृष्टि से भी, ठीक बैठनी चाहिए। इन संगतियों का विस्तृत विवेचन आगे 'पाठ-सुधार' के अन्तर्गत किया जायगा क्योंकि उसी प्रसंग में इनकी विशेष आवश्यकता भी

पड़ती है। यहाँ पर इतना ही उल्लेख पर्याप्त है कि पाठ की दृष्टि से मूल का लगने वाला पाठ अर्थ तथा प्रसंग की दृष्टि से भी उपयुक्त होना चाहिए।

(ख) **कठिनतर पाठ की स्वीकृति**—जहाँ पर भिन्न-भिन्न शाखाओं में दो पाठ उपलब्ध हों, दोनों ही सार्थक एवं संगत प्रतीत हों, और उनमें से एक कठिन पाठ हो और दूसरा सरल, तो सामान्यतया पाठालोचन का यह नियम है कि कठिन पाठ को सरल की अपेक्षा वरीयता देकर ग्रहण कर लेना चाहिए।* प्रतिलिपिकारों की यह सामान्य प्रवृत्ति देखी जाती है कि वे कठिन तथा असूक्ष्म लगने वाले भाषा के प्राचीन रूप के शब्दों को उसी अर्थ एवं मात्रा या वर्ण के शब्दों द्वारा स्थानापन्न कर देते हैं। कभी-कभी तो कठिन शब्दों के समानार्थी सरल शब्द अर्थ समझने की सुविधा से प्रति के हाशिए में अंकित कर दिए गए होते हैं और प्रतिलिपिकार उन्हीं सरल शब्दों को मूल पाठ के स्थान पर उतार लेता है। विभिन्न प्राप्त पाठों में, जो अन्य दृष्टियों से समान रूप से संगत लगते हों, वे पाठ जो भाषा के प्राचीन रूप को अभिव्यक्त करते हों या जिनकी वर्तनी वर्तमान रूप से पर्याप्त प्राचीन हो वे अधिक ग्रहण करने योग्य होते हैं। यह सिद्धान्त अधिकांशतः सत्य सिद्ध होता है, पर इसके अपवाद भी होते हैं। कभी-कभी भाषा पर प्राचीनता की कलई करने की चेष्टा प्रतिलिपिकारों द्वारा भी की जाती है। जब अन्य दृष्टियों से किसी शाखा के नीचे के स्तर की प्रतियों में पाठ कठिनतर मिलता हो तो सम्भावना इस बात की अधिक रहती है, कि उसकी भाषा प्रतिलिपिकार के सचेष्ट प्रयत्न द्वारा कठिन हो गई हो सकती है। इस प्रकार कठिनतर पाठ होना मूल पाठ का प्रमाण नहीं है, प्रत्युत यह एक सम्भावना मात्र है जिसके अपवाद भी हो सकते हैं।†

(ग) **संक्षिप्त पाठ की स्वीकृति**—कभी-कभी यह देखा जाता है कि एक ही रचना की भिन्न-भिन्न शाखाओं में पाठ कम और अधिक मिलता है। ऐसी दशा में प्रायः यह सम्भावना रहती है कि बृहद् पाठ प्रक्षेपों के प्रभाव के कारण बढ़

* One of the most commonly recognized maxims is 'prefer the harder reading' or what is technically called 'Lectio difficilior'

—Katre

† This dictum is valid in most cases—though not necessarily in all—where a transcriber has deliberately altered which he found in his exemplar, since a frequent motive for such change was a [illegible] to make the sense clearer —Katre

गया है और संक्षिप्त पाठ मूल के अधिक निकट है। यह एक सामान्य प्रवृत्ति देखी जाती है कि प्रतिलिपिकार अपनी ओर से प्रक्षेप करते समय वर्णन आदि के प्रसगों को और विस्तृत रूप में प्रस्तुत करने के लोभ से प्रेरित होते हैं। इस प्रकार प्रक्षेपों द्वारा बढ़ते बढ़ते मूल के संक्षिप्त पाठ विस्तृत आकार धारण कर लेते हैं। इसी प्रकार की प्रवृत्ति पृथ्वीराजरासो की प्रतियों में मिलती है। रूप के आधार पर उसके चार रूपान्तर मिलते हैं। इस ग्रथ की पाठ-शोध के सदर्भ में डॉ माताप्रसाद गुप्त ने यह सिद्ध कर दिया है कि इनमें से सबसे छोटा रूपान्तर 'रासो' के मूल-पाठ के सर्वाधिक निकट है। यह नियम भी उसी भाँति अपवाद युक्त है जैसा इसके पूर्व वर्णित नियम है। पाठ की संक्षिप्तता प्रतिलिपिकार की चयन-वृत्ति की भी द्योतक हो सकती है। पर ऐसा प्रायः कम ही होता है। 'रासो' के सबसे छोटे रूपान्तर में 'रासउ-रसाल' शब्द का प्रयोग पुष्पिका में हुआ था जिसे देख कर प्रारंभ में डॉ गुप्त की यह धारणा हुई थी कि यह रूपान्तर 'रासो' के मूल-पाठ से एक चयन मात्र है, पर परीक्षा करने पर यह सिद्ध हुआ कि वह चयन नहीं है, प्रत्युत मूल के सर्वाधिक निकट का पाठ है।

**(४) प्रतियों की संख्या का नहीं, उनके मूल्य का महत्व** (Manuscripts should be weighed, not counted)—अधिकतम प्रतियों में मिलने वाला पाठ आवश्यकरूप से मूल का पाठ नहीं हो सकता। यदि किसी रचना की दश प्रतियों में एक पाठ मिलता है और दो प्रतियों में दूसरा और परीक्षा करने पर यदि यह सिद्ध हो कि प्रथम दश प्रतियाँ एक शाखा की हैं और शेष दो प्रतियाँ दो भिन्न भिन्न शाखाओं की हैं तो इन दो प्रतियों में मिलने वाले पाठ का अधिक महत्व होगा, अपेक्षाकृत प्रथम दश प्रतियों में मिलने वाले पाठ के। विभिन्न शाखाओं की प्रतियों में समान मिलने वाले पाठों का तो मूल्य होता ही है, साथ ही विश्वसनीय प्रतियों का पाठ अधिक मूल्यवान् होता है। जिन प्रतियों में विकृतियाँ कम हुई हों तथा प्रक्षेप की प्रवृत्ति प्रायः कम देखी जाय, वे प्रतियाँ विश्वसनीय प्रतियों की कोटि में आती हैं। किन्हीं प्रतियों को विश्वसनीय मानने के पूर्व उनकी बारबार परीक्षा होनी चाहिए।†

## प्रतियों का सापेक्षिक महत्व

प्रतियों के शाखागत वर्गीकरण और पाठालोचक के सामान्य प्रबोधनों को जान लेने के उपरान्त प्रतियों के सापेक्षिक महत्व का आकलन करना पड़ता है। इस प्रकार

† In short, the doctrine is that all the trustworthy witnesses to a text must be heard and heard continuously before a verdict is given —Katre, Page 36

उनके पारस्परिक महत्व के आधार पर यह चुनाव करना पड़ता है कि किन किन प्रतियों के आधार पर प्रस्तुत रचना का पाठ-निर्माण किया जा सकता है। यह चुनाव करते समय एक एक प्रतियों के तुलनात्मक महत्व तथा उनकी विश्वसनीयता की परीक्षा करनी पड़ती है। इन विश्वसनीय प्रतियों के आधार पर ही पाठचयन योग्य रीति से सम्भव होता है। पाठालोचक का कार्य विविध प्रतियों मे मिलने वाले समान पाठों को पहचानना नहीं होता है, प्रत्युत उसमें से मूल-पाठ का चयन करना होता है।। अतः पाठालोचक को यह देखना पड़ता है कि किन शाखाओं की प्रतियाँ अधिक विश्वसनीय हैं और किन शाखाओं की नितात भ्रष्ट एव विकृत हैं। इस विश्वसनीयता का पता लगाने के लिए दो तीन बातों का ध्यान रखना चाहिए। पहला यह कि जिन शाखाओं की प्रतियों मे भाषा तथा व्याकरण के प्राचीन रूपों को सुरक्षित रखा गया हो, वे उन शाखाओं की प्रतियों से अधिक विश्वसनीय होती हैं जिनमें भाषा तथा व्याकरण के अपेक्षाकृत नवीन रूप प्रयोग मे आए हैं। दूसरे जिन शाखाओं की प्रतियों मे कवि या लेखक द्वारा स्वीकृत काव्य-शास्त्र या साहित्य-शास्त्र की मान्यताओं का पालन किया गया मिलता हो, वे इन मान्यताओं को उल्लघन करनी वाली प्रतियों की शाखा से अधिक विश्वसनीय हैं। तीसरे उन शाखाओं की प्रतियाँ जिनमें टूटे-फूटे स्थानों को उसी रूप में उल्लिखित कर दिया हो, उन शाखाओं की प्रतियों से अधिक विश्वसनीय होती हैं जिनमे टूटे-फूटे अशों को भी स्थानापन्न कर दिया हो। चौथे जिन प्रतियों म प्रक्षेप की अनावश्यक प्रवृत्ति देखी जाती है, वे कम प्रक्षेपयुक्त प्रतियों से कम विश्वसनीय होती हैं। रामचरितमानस की प्रतियों मे से डॉ माताप्रसाद गुप्त ने चार प्रमुख विश्वसनीय प्रतियों को चुन कर अपने पाठ का आधार बनाया।

उसकी प्रतिलिपि हुई रहती है, पर आदर्श प्रति बराबर सुधार और सन्शोधन होते रहने के कारण उस प्रतिलिपि से भी बाद के स्तर का पाठ प्रस्तुत करती है। इसी प्रकार की स्थिति रामचरितमानस की १७६२ तथा १७२१ वाली प्रतियों के सम्बन्ध में देखी जाती है। यों तो १७२१ की प्रति १७६२ की प्रति की आदर्श है, पर १७२१ की प्रति में १७६२ वाली प्रति की प्रतिलिपि हो जाने के बाद भी सन्शोधन होता रहा है। अतः मानस के सम्पादन में डॉ गुप्त ने १७२१ वाली प्रति में सन्शोधन के पूर्व के पाठ का पता लगाने के निमित्त १७६२ वाली प्रति का भी पर्याप्त उपयोग किया।

इसी प्रकार जहाँ मिश्र-पाठ की प्रतियाँ उपलब्ध हों और साथ ही वे प्रतियाँ भी उपलब्ध हों जिनके पाठों का मिश्रण उस प्रति में हुआ हो तो मिश्र-पाठ की प्रतियों का उपयोग प्रायः नहीं होता है। यदि वे प्रतियाँ जिनके पाठ का मिश्रण मिश्र-पाठ की प्रति में हुआ हो, उपलब्ध न हों, पर उन्हीं शाखाओं की अन्य प्रतियाँ उपलब्ध हों, तो भी मिश्र पाठ की प्रतियाँ उपयोगी नहीं होतीं। किन्तु इसके साथ एक बात अवश्य ध्यान रखनी चाहिए कि उन शाखाओं की प्रतियाँ पाठ-मिश्रण की प्रतियों के पूर्व के स्तर की होनी चाहिए। पाठ-मिश्रण के स्तर के बाद की उन्हीं शाखाओं की प्रतियाँ उतनी उपयोगी नहीं होंगी तथा केवल उन्हीं के प्राप्त होने पर मिश्र पाठ की प्रतियाँ भी उनके पूर्ववर्ती स्तर के पाठ का पता लगाने में सहायक होती हैं, जिन शाखाओं के पाठ का मिश्रण हुआ हो, उनमें से यदि किसी शाखा की प्रतियाँ तो उपलब्ध हों और अन्य शाखा की कोई प्रति उपलब्ध न हो तो मिश्र-पाठ की प्रतियों से दूसरी शाखा के पाठ का भी कुछ अनुमान किया जा सकता है। मान लीजिए किसी रचना की अ, ब, स तीन प्रतियाँ प्राप्त हैं। परीक्षा करने पर यह विदित होता है कि अ और ब तो स्वतन्त्र शाखाओं की प्रतियाँ हैं, पर स में ब तथा किसी अन्य शाखा की एक प्रति का पाठ मिश्रण हुआ है और उस शाखा की कोई भी प्रति उपलब्ध नहीं है। इनका वंश-वृक्ष इस प्रकार होगा :
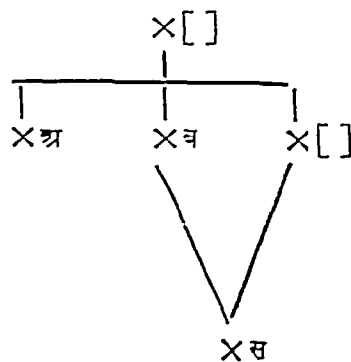
इस चित्र से स्पष्ट होगा कि स जो मिश्र-पाठ की प्रति है उसकी दो आदर्श प्रतियों में से एक तो उपलब्ध है, पर दूसरी अनुपलब्ध है। स और ब के पाठ की तुलना करने पर जो पाठाधिक्य या अन्य विशेषताएँ स प्रति मे मिलेंगी उनसे अनुपलब्ध प्रति तथा उस शाखा के पाठ का अनुमान किया जा सकता है और ऐसी दशाओं में मिश्र-पाठ की प्रतियाँ भी पाठ-निर्णय मे उपयोगी होती हैं। कल्पना कीजिए कोई पाठ अ और ब प्रतियों में भिन्न-भिन्न ढग से मिलता है, पर अ प्रति में मिलने वाला पाठ स प्रति मे मिलने वाले पाठ से साम्य रखता है। हम यह देख चुके हैं कि अ प्रति का स प्रति से किसी प्रकार का सकीर्ण सबन्ध नहीं है। अतः स प्रति में मिलने वाला यह पाठ जो ब प्रति के पाठ से भिन्न है, अवश्यमेव तीसरी अनुपलब्ध शाखा के स्रोत से आया होगा। इस प्रकार अ शाखा तथा अनुपलब्ध शाखा इन दो शाखाओं में मिलने वाला पाठ केवल एक ही शाखा ब मे मिलने वाले पाठ की अपेक्षा अधिक स्वीकार्य होगा। इस विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि सामान्यतया अपने पूर्वजो के प्राप्त होने पर मिश्र-पाठ की प्रतियाँ उपयोगी नहीं होती हैं, पर किन्हीं किन्हीं परिस्थितियों में उनकी भी उपयोगिता होती है।

इस प्रकार पाठ-चयन प्रारभ करने के पूर्व सपूर्ण उपलब्ध सामग्रियों मे से उन सामग्रियों को चुन लिया जाता है जिनके आधार पर पाठ-चयन करके रचयिता के मूल पाठ तक पहुँचा जा सकता है। जिस प्रकार खेत मे फसल बोने के पूर्व उपलब्ध बीज को साफ सुथरा कर लिया जाता है और उसमे सम्मिलित अनावश्यक तत्वों तथा रुग्ण एव निर्बल बीजों को निकाल कर अलग कर दिया जाता है, उसी प्रकार पाठ-चयन प्रारभ करने के पूर्व सपादन-सामग्री में से अविश्वसनीय तत्वों एव निर्बल प्रमाण को सबल प्रमाणों एव विश्वसनीय तत्वों की तुलना मे छाँटकर अलग कर लिया जाता है।

## पाठ-चयन के सामान्य सिद्धान्त

का पाठ प्राप्त किया जाता है। उस शाखा की सम्पूर्ण उपलब्ध प्रतियों के ऊपर पाठ चयन के इन 'सामान्य सिद्धान्तों' के उपयोग द्वारा हम उस शाखा के अनुपलब्ध कल्पित आदर्श का पाठ प्राप्त करते हैं। सभी शाखाओं के आदर्श का पाठ, या तो उपलब्ध आदर्श प्रति के रूप में या अनुपलब्ध कल्पित आदर्श की पाठ-प्राप्ति द्वारा मिल जाता है, तो पाठालोचक अपने कार्य की दिशा में और आगे बढ़ता है। वह अब सभी शाखाओं के प्राप्त आदर्शों के पाठ के तुलनात्मक अध्ययन एवं विवेचन द्वारा 'कल्पित मूलादर्श' के पाठ को प्राप्त करने की चेष्टा करता है। इस प्रकार प्राप्त किया गया 'कल्पित मूलादर्श' का पाठ यदि रचयिता का आदि पाठ नहीं होता, तो कम से कम उसके सर्वाधिक निकट का पाठ तो अवश्य ही होता है। पाठ-चयन के इन सामान्य सिद्धान्तों को क्रमशः इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है :

(१) जो पाठ किसी रचना की प्राप्त प्रतियों की सभी शाखाओं और अनेक शाखाओं की सभी प्रतियों में मिलते हैं, वे निश्चित रूप से मूल पाठ से प्रवाहित हुए रहते हैं। भिन्न-भिन्न शाखाओं में परस्पर किसी प्रकार का प्रतिलिपि सम्बन्ध या संकीर्ण सम्बन्ध नहीं होता, अतः इस प्रकार का विस्तृत साम्य मूल रचना के पाठ के अतिरिक्त अन्य किसी कारण से नहीं हो सकता। इस साम्य में प्रायः 'शुद्धि-साम्य' को ही लिया जाता है, 'अशुद्धि-साम्य' तो संकीर्ण सम्बन्ध के प्रारंभिक प्रमाण होते हैं। मुख्य सम्बन्ध का निर्धारण सभी शाखाओं में मिलने वाले समान पाठ के आधार पर ही होता है। अतएव इस प्रकार समान मिलने वाले पाठों को मूलपाठ के रूप में स्वीकृत कर लेना चाहिए। इस सम्बन्ध में एक प्रश्न अवश्य खड़ा हो उठता है कि यदि कोई पाठ निर्भ्रान्त रूप से अशुद्ध हो किन्तु वह सभी शाखाओं की सभी प्रतियों में अप्रतिहत रूप से प्राप्त हो रहा हो, तो बहुत संभावना इस बात की होती है कि वह अशुद्धि इतनी गहराई से आ रही है कि उसका संशोधन समीचीन नहीं अथवा वह लेखक की मूल प्रति की अशुद्धि है। हाँ, यदि यह अशुद्धि निर्भ्रान्त हुई है तो वह लेखक की भूल होने पर भी सुधारी जा सकती है। इस संदर्भ में विस्तृत विवेचन 'पाठ-सुधार' में किया जायगा।

(२) जो पाठ सभी शाखाओं में समान रूप से न प्राप्त हो रहे हों, उनमें से वे पाठ जो दो या दो से अधिक शाखाओं में समान रूप से प्राप्त हों, उन्हें भी मूल पाठ होने की संभावना होती है और उन्हें मूलपाठ के रूप में स्वीकार कर लेना चाहिए। इस दशा में पाठ-मिश्रण की सतर्कता सदैव रखनी चाहिए, क्योंकि जिन दो शाखाओं में यदि किसी स्तर पर पाठ मिश्रण हुआ होगा, तो इन प्रतियों के लिए

भिन्न शाखाओं के होने पर भी वह समानता रचयिता के मूलपाठ से आने के कारण सम्भाव्य न होकर पाठ-मिश्रण के कारण सभाव्य होगी और वह समानता मूलपाठ के लिए प्रमाण नहीं मानी जा सकती।

(३) जो पाठ वैसे सभी शाखाओं में भिन्न भिन्न ढग से मिलता हो और किसी भी शाखा की सम्पूर्ण प्रतियों का पाठ दूसरी शाखा की सपूर्ण प्रतियों के पाठ से नी मिलता हो, पर एक शाखा की कुछ प्रतियाँ उस पाठ के सम्बन्ध में अन्य शाखा की कुछ प्रतियों के समान हों, तो इस समान पाठ के मूलपाठ होने की सम्भावना होती है। ऐसे समान पाठों को भी, भिन्न पाठ की सभावना को ध्यान मे रखते हुए, मूलपाठ में स्वीकार कर लेना चाहिए।

(४) जो पाठ सभी शाखाओं मे भिन्न-भिन्न रूप में मिलते हो और सभी अपने-अपने स्थल पर शुद्ध प्रतीत हों या किन्हीं दो शाखाओं में एक पाठ समान रूप से मिलता हो और अन्य दो शाखाओं मे दूसरा पाठ समान रूप से उसी स्थल पर मिलता हो और दोनों ही पाठ समान रूप से शुद्ध हों, तो ऐसी दशा में पाठा-लोचक को उन प्रतियों को अधिक महत्व देना चाहिए जो विश्वसनीय हों और ऐसी प्रतियों में मिलने वाले पाठों को ग्रहण कर लेना चाहिए। जब दो समान विश्वसनीय शाखा की प्रतियों में कोई शुद्ध-पाठ भिन्न-भिन्न ढग से मिले तो उसमें पाठालोचक को अपने बुद्धि-वैभव के प्रयोग द्वारा उत्कृष्टतर पाठ को मूल में ग्रहण कर लेना चाहिए। ऐसे पाठों के सम्बन्ध में यह भी सम्भावना रहती है कि मूलरचना के निर्माण के बाद रचयिता पर्याप्त काल तक जीवित रहा हो और उसने अपने पूर्व मूलपाठ में कुछ संशोधन प्रस्तुत कर दिया हो। इस प्रकार उसके पाठ के प्रतिलिपियों की दो

यद्यपि ये पाठ-भेद कविकृत ही हैं, पर इसमें भी अन्तिम और उत्कृष्टतर पाठ उसके अभीष्ट होने के नाते ग्राह्य होंगे।

(५) जो पाठ सभी शाखाओं में भिन्न-भिन्न मिलते हों, पर पाठानुसंगति से कुछ पाठ भ्रष्ट हों, तो भ्रष्ट पाठ तो सब से पहले छोड़ दिए जाते हैं और शेष पाठों में से यदि किसी एक ही शाखा का पाठ शुद्ध हो और पाठानुसंगति हो तो उसे अन्य भ्रष्ट पाठों की तुलना में ग्रहण कर लेना चाहिए। पर जहाँ भ्रष्ट पाठों को छोड़ देने पर भी दो या दो शाखाओं में समान रूप से शुद्ध पाठ प्राप्त हों तो उनका निर्णय 'सामान्य सिद्धान्त' क्रम ४ के अनुसार किया जायगा।

(६) जो पाठ सभी शाखाओं का विशेष पाठ होगा और वह अन्य शाखाओं में नहीं प्राप्त होगा, वह प्रायः प्रक्षिप्त पाठ होता है। प्रसंग की आवश्यकतानुसार पाठ में विस्तार लाने के लिए, किसी विशेष धार्मिक सिद्धान्त या मत प्रतिपादन के लिए या रचना में और चमत्कार लाने के लिए ऐसे पाठों की अवतारणा होती है। ऐसे पाठों के सम्बन्ध में इतना ही पर्याप्त प्रमाण नहीं माना जा सकता कि वे सभी शाखाओं के विशेष पाठ हैं, इसलिए प्रक्षिप्त हैं। प्रत्युत रचयिता की स्वीकृत भाषा, शैली एवं अन्य काव्यगत प्रयोगों से तुलना करने पर ये अन्श प्रक्षिप्त प्रतीत होते हों तथा इनके अलग कर देने पर भी रचना ( विशेषतः प्रबन्ध-रचना ) के सुगठित स्वरूप में कोई अन्तर न आवे। इसके लिए पाठालोचक को विषयानुसंगति एवं पाठानुसंगति के साथ प्रक्षेपकर्ता के मन्तव्य का विमर्श करते हुए निर्णय करना पड़ता है।

(७) प्रमाण के आधार पर स्वीकृत तथा प्रमाण के व्यक्त पाठों के अतिरिक्त संदिग्ध पाठों की भी स्थिति पाठालोचक के सम्मुख आती है। ऐसी स्थिति प्रायः उन स्थलों पर होती है, जहाँ पाठानुसंगति से तो कोई पाठ प्रक्षिप्त प्रतीत हो, पर प्रसंग आदि की अनिवार्यता से वह मूल का प्रतीत हो। इस प्रकार 'प्रमाण' और 'प्रक्षिप्त' के बीच 'संदिग्ध' स्थिति के पाठों को यदि संदेह के साथ स्वीकृत किया जाय तो मूलपाठ में उन्हें रखते हुए भी पाद-टिप्पणी में इस संदेह का उल्लेख कर देना चाहिए और यदि वे संदेह पूर्वक व्यक्त हों तो उन्हें रचना के परिशिष्ट में संगृहीत कर देना चाहिए। अच्छा तो यह रहता है कि मूल के अतिरिक्त सभी शाखाओं के विशेष पाठों को परिशिष्ट में संगृहीत कर दिया जाय।

(८) अन्त में एक स्थिति यह भी आ सकती है कि जितने भी पाठ विभिन्न शाखाओं की प्रतियों में मिलते हों, वे सभी भ्रष्ट पाठ हों। ऐसी दशा में उन पाठों का संशोधन पाठालोचक प्रस्तुत करता है, जिसका विस्तृत विवेचन 'पाठ सुधार' के अन्तर्गत किया जायगा।

(४) शेष पाठों में जहाँ दोनों परस्पर विरोधी पाठ प्रस्तुत करें और उनमें से कोई भी पाठ अन्य शाखाओं की प्रतियो से न मिले तो वे पाठ सदेहात्मक होंगे। उनमें से जो पाठ उन प्रतिलिपियों के, स्पष्ट रूप से, विशेष पाठ प्रतीत हों, वे प्रक्षिप्त होने के नाते त्यक्त होंगे और जिनके बारे मे आदर्श प्रति [ङ] से आने की कुछ भी सम्भावना परिलक्षित हो उनमें से लेखानुसगति और विषयानुसगति के आधार पर [ट] के सम्भावित पाठ को चुन लिया जायगा।

[घ] का पाठ

अनुपलब्ध आदर्श प्रति [घ] के पाठ को प्राप्त करने के लिए प्रायः हम उसी विधि को प्रयोग में लाएँगे, जिसका प्रयोग [ङ] का पाठ प्राप्त करने के लिए किया गया है। इसमें 'ल' प्रति 'र' की प्रतिलिपि है। अतः र के रहते हुए ल का कोई विशेष उपयोग नहीं होगा। ल का उपयोग केवल उन्हीं स्थलों पर होगा जहाँ र त्रुटित हो या अन्य किसी कारण से उसका पाठ स्पष्ट न हो रहा हो अथवा र से ल की प्रतिलिपि हो जाने के उपरान्त भी र प्रति में प्रतिलिपिकारों या पाठकों द्वारा सशोधन और सुधार होता रहा हो। इसके बाद [घ] का पाठ प्राप्त करते समय र के अलावा य प्रति की भी सहायता उसी भाँति ली जायगी जैसे [ङ] का पाठ प्राप्त करते समय ली गई है तथा समय समय पर अन्य शाखाओं की प्रतियो के पाटों से भी उसका मिलान उसी भाँति करते हुए चलना पड़ेगा। इस प्रकार हम अविद्यमान कल्पित आदर्श प्रति [घ] का पाठ प्राप्त कर लेंगे।

[ग] का पाठ

जिस प्रकार [ङ] और [घ] का पाठ प्राप्त किया गया है, उसी प्रकार य, [घ] और [ङ] के निर्धारित पाठ के तुलनात्मक अध्ययन के सहारे [ग] का पाठ प्राप्त कर लिया जायगा। इस दिशा मे जहाँ कहीं भी आवश्यकता होगी, अन्य शाखाओं की प्रतियो से भी पाठ की तुलना कर ली जायगी। इस प्रकार हम एक शाखा के कल्पित मूलादर्श [ग] का पाठ प्राप्त कर लेंगे। इसी भाँति अन्य शाखाओं के भी मूलादर्शों का पाठ निर्मित करना होगा।

[ख] का पाठ

(१) अ, ब, स, द का समान पाठ [ख] का पाठ होगा।

(२) जो पाठ इन चारों प्रतियो में समानरूप न मिलता हो, पर किन्हीं दो या दो से अधिक प्रतियों में मिलता हो, वह [ख] का पाठ होगा।

(३) जो पाठ इन चारों प्रतियों मे पृथक-पृथक मिलता हो, पर उनमे से कोई

६

# पाठ-सुधार

हम देख चुके हैं कि पाठालोचन का कार्य चार भागों में बाँटकर किया जाता है—सामग्री संग्रह, पाठ-चयन, पाठ-सुधार एवं उच्चतर आलोचना। वस्तुतः, पाठ की समस्या तृतीय सोपान तक आने के उपरान्त समाप्त हो जाती है। चतुर्थ स्थिति मे तो केवल प्रसाधनों, विधियों एवं निष्कर्षों का विवरण प्रस्तुत किया जाता है। पाठ-चयन के पूर्व ही सामग्री की समग्र परीक्षा करने के उपरान्त पाठालोचक विभिन्न पाठों के सम्बन्ध में चार बातें सोच सकता है—(१) पाठ की स्वीकृति, (२) पाठ के सम्बन्ध मे सन्दिग्धता, (३) पाठ का त्याग (४) पाठ सुधार। यहाँ 'पाठ-सुधार' पर ही विचार करना है।

कभी कभी पाठालोचक के सम्मुख जितनी भी शाखाओं की प्रतियाँ उपलब्ध होती हैं, सभी में भिन्न-भिन्न पाठ मिलते हैं तथा सभी पाठ असङ्गत होते हैं। ऐसी दशा में वह यह विचार करता है कि यह पाठ रचयिता का नहीं हो सकता और काल-व्यवधान में कुछ कारणों से यह अपने मूल से परिवर्तित होकर इस असङ्गति की दशा में पहुँच गया है। इस प्रकार, वह रचयिता के मूल पाठ को ढूँढ़ता है और निश्चयात्मक निष्कर्ष पर पहुँच जाने पर सभी प्राप्त प्रतियों के पाठों को छोड़कर वह अपनी ओर से ढूँढे गये रचयिता के सम्भव-पाठ को प्रस्तुत करता है। पाठालोचन की इस प्रक्रिया को, जो कुछ वैज्ञानिक विधियों और निरी सङ्गति पर आधृत न होकर, 'प्रस्तुत किये जाने वाले' पाठ की अधिकतम सम्भाव्यता पर आधृत होना चाहिए। इस प्रकार के सम्भावित पाठ को प्रस्तुत करने के पूर्व पाठालोचक को उस पाठ की उपयुक्तता एवं यथार्थता की परीक्षा अन्तरङ्ग तथा बहिरङ्ग सम्भावनाओं के आधार पर भलीभाँति कर लेनी चाहिए और इस द्विविध परीक्षा के उपरान्त यदि उस पाठ की सङ्गति बैठ जाय, तभी उसे प्रस्तुत करना चाहिए, अन्यथा नहीं। कात्रे महोदय ने इस सम्बन्ध में उचित ही कहा है कि पाठ-सुधार प्रतिलिपि-परम्परा में प्राप्त होने

जाता है, उसका अभिप्राय कोई आधिकारिक (authentic) अथवा उस पाठ के सम्बन्ध में 'अन्तिम शब्द' से नहीं होता।

पाठ-चयन के सम्बन्ध में जिन सीधी पाठ-परम्पराओं तथा पाठ-समस्याओं का उदाहरण लिया गया है, उससे अत्यन्त विकट एवं असूझ पाठ-सम्बन्ध एवं पाठ-समस्याएँ कार्यक्षेत्र में आने पर सम्मुख आती हैं। विशेषतः मिश्र-पाठ की अधिकांश प्रतियों के प्राप्त होने पर तो पाठ-निर्णय में और भी दुरूहता आ जाती है। पर इन मूल सिद्धान्तों को ध्यान में रखकर पाठालोचक, अपने कार्य की आवश्यकतानुसार, अपने सिद्धान्त और मानदण्ड निर्धारित करते चलते हैं और उनके नित नवीन प्राप्त होने वाले अनुभव इस विषय की सीमा को बढ़ाते चलते हैं।

— —— ——

पाठ अन्य शाखा अर्थात् [ग] या ह शाखा के पाठ से मिलता तो वह पाठ [ख] का पाठ होगा।

(४) जो पाठ सभी प्रतियों में पृथक-पृथक मिले तथा वह किसी अन्य शाखा की भी किसी प्रति में न मिले तो वह उन प्रतियों का विशेष पाठ होगा और उसके प्रक्षिप्त होने की अधिकतम सम्भावना होगी। जहाँ कहीं इस स्थिति मे किसी पाठ के बारे में सन्देह हो तो उसका निर्णय पाठानुसगति तथा विषयानुसगति को ध्यान में रखकर किया जा सकता है।

इस प्रकार हम इस शाखा के कल्पित मूलादर्श [ख] का पाठ प्राप्त कर लेते हैं। दूसरी शाखा के कल्पित मूलादर्श [ग] का पाठ प्राप्त ही कर लिया गया है। तीसरी शाखा की एकमेव प्रतिनिधि प्रति ह है। अब इन तीनों प्राप्त पाठों की मीमांसा द्वारा हमें सभी शाखाओं के मूलादर्श [क] का पाठ प्राप्त करना है।

**[क] का पाठ**

(१) तीनों शाखाओं के आदर्शों का समान पाठ [क] का पाठ होगा।

(२) जो पाठ दो शाखाओं मे समान मिलता हो और तीसरी में भिन्न, तो दो शाखाओं का समान पाठ [क] का पाठ होगा।

(३) जब तीनों शाखाओं का पाठ भिन्न-भिन्न हो, तो वह उन शाखाओं के विशेष पाठ के रूप में त्याज्य होंगे। यदि पाठ एव प्रसग की आवश्यकतानुसार उनमें से किसी का होना अनिवार्य होगा तो वह सदेह पूर्वक स्वीकृत होगा।

(४) जब तीनों शाखाओं में प्राप्त पाठ किन्हीं स्थलों पर भ्रष्ट हों तो पाठानुसगति तथा लेखानुसगति को ध्यान में रखते हुए 'पाठ-सुधार' का आह्वान करना पड़ता है।

इस प्रकार जहाँ कई शाखाओं की प्रतियाँ उपलब्ध होती हैं, वहाँ मूलपाठ के चयन में सुविधा रहती है, चाहे भले ही प्रत्येक शाखा की एक एक प्रति ही उपलब्ध _ कई शाखाओं की प्रतियों के आधार पर चयन किया हुआ पाठ यदि रचयिता का मूल पाठ नहीं है, तो कम से कम मूल के सर्वाधिक निकट अवश्य होता है। इसके प्रतिकूल जहाँ बहुत सी प्रतियाँ प्राप्त हों, पर सभी एक ही शाखा की हों, तो केवल उसी शाखा के आदर्श का पाठ-निर्माण हो सकता है, मूलपाठ का निर्माण सम्भव नहीं होगा। अतएव जब तक प्रतियों का शाखागत विभाजन न कर लिया जाय, उनके आधार पर पाठ चयन करना अवैज्ञानिक है और चूँकि वह पाठ विभिन्न शाखाओं की प्रतियों के आधार पर प्रस्तुत होने का प्रमाण नहीं उपस्थित करता, इसीलिए प्रामाणिक पाठ नहीं माना जाता। पाठालोचन की विधि से प्रस्तुत पाठ इसी अर्थ में 'प्रामाणिक' कहा भी जाता है कि वह भिन्न-भिन्न शाखाओं के पाठों के प्रमाण पर प्रस्तुत किया

जाता है, उसका अभिप्राय कोई आधिकारिक (authentic) अथवा उस पाठ के सम्बन्ध में 'अन्तिम शब्द' से नहीं होता ।

पाठ-चयन के सम्बन्ध में जिन सीधी पाठ-परम्पराओं तथा पाठ-समस्याओं का उदाहरण लिया गया है, उससे अत्यन्त विकट एव असूझ पाठ-सम्बन्ध एव पाठ-समस्याएँ कार्यक्षेत्र में आने पर सम्मुख आती हैं। विशेषतः मिश्र-पाठ की अधिकाश प्रतियों के प्राप्त होने पर तो पाठ-निर्णय में और भी दुरूहता आ जाती है। पर इन मूल सिद्धान्तों को ध्यान मे रखकर पाठालोचक, अपने कार्य की आवश्यकतानुसार, अपने सिद्धान्त और मानदण्ड निर्धारित करते चलते हैं और उनके नित नवीन प्राप्त होने वाले अनुभव इस विषय की सीमा को बढाते चलते हैं।

# ९

# पाठ-सुधार

हम देख चुके हैं कि पाठालोचन का कार्य चार भागों में बाँटकर किया जाता है—सामग्री सग्रह, पाठ-चयन, पाठ-सुधार एवं उच्चतर आलोचना। वस्तुतः, पाठ की समस्या तृतीय सोपान तक आने के उपरान्त समाप्त हो जाती है। चतुर्थ स्थिति में तो केवल प्रसाधनों, विधियों एव निष्कर्षों का विवरण प्रस्तुत किया जाता है। पाठ-चयन के पूर्व ही सामग्री की समग्र परीक्षा करने के उपरान्त पाठालोचक विभिन्न पाठों के सम्बन्ध में चार बातें सोच सकता है—(१) पाठ की स्वीकृति, (२) पाठ के सम्बन्ध में सन्दिग्धता, (३) पाठ का त्याग (४) पाठ सुधार। यहाँ 'पाठ-सुधार' पर ही विचार करना है।

कभी कभी पाठालोचक के सम्मुख जितनी भी शाखाओं की प्रतियाँ उपलब्ध होती हैं, सभी में भिन्न भिन्न पाठ मिलते हैं तथा सभी पाठ असङ्गत होते हैं। ऐसी दशा में वह यह विचार करता है कि यह पाठ रचयिता का नहीं हो सकता और काल-व्यवधान में कुछ कारणों से यह अपने मूल से परिवर्तित होकर इस असङ्गति की दशा में पहुँच गया है। इस प्रकार, वह रचयिता के मूल पाठ को ढूँढ़ता है और निश्चयात्मक निष्कर्ष पर पहुँच जाने पर सभी प्राप्त प्रतियों के पाठों को छोड़कर वह अपनी ओर से ढूँढे गये रचयिता के सम्भव-पाठ को प्रस्तुत करता है। पाठालोचन की इस प्रक्रिया को, जो कुछ वैज्ञानिक विधियों और निरी सङ्गति पर आधृत न होकर, 'प्रस्तुत किये जाने वाले' पाठ की अधिकतम सम्भाव्यता पर आधृत होना चाहिए। इस प्रकार के सम्भावित पाठ को प्रस्तुत करने के पूर्व पाठालोचक को उस पाठ की उपयुक्तता एवं यथार्थता की परीक्षा अन्तरङ्ग तथा बहिरङ्ग सम्भावनाओं के आधार पर भलीभाँति कर लेनी चाहिए और इस द्विविध परीक्षा के उपरान्त यदि उस पाठ की सङ्गति बैठ जाय, तभी उसे प्रस्तुत करना चाहिए, अन्यथा नहीं। कात्रे महोदय ने इस सम्बन्ध में उचित ही कहा है कि पाठ-सुधार प्रतिलिपि-परम्परा में प्राप्त होने

वाले सभी अविश्वसनीय तत्त्वों को दूर करने का प्रयास है।[1] यह प्रयास अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग सम्भावनाओं पर आधृत होता है। इन सम्भावनाओं को क्रमशः लेखानुसङ्गति तथा पाठानुसङ्गति भी कहा जाता है। पाठालोचक को इसके सम्बन्ध में जानकारी अनिवार्य है।

## अन्तरङ्ग सम्भावनाएँ

( Intrinsic Probabilities )

प्रस्तुत पाठ के अन्तर्गत जिन बातों की परीक्षा करके पाठ की उपयुक्तता का पता लगाया जा सकता है, उन्हें अन्तरङ्ग सम्भावनाएँ कहते हैं। इस दृष्टि से निम्नलिखित बातों की परीक्षा की जानी चाहिए :

(१) **प्रसङ्ग**—जो पाठ मिलता है, वह यदि मूल से भिन्न कोई विकृत पाठ होगा, चाहे वही भ्रष्ट पाठ सभी प्रतियों मे क्यों न मिले, वह निश्चय ही प्रस्तुत प्रसङ्ग में ठीक नहीं बैठ सकता है। इस प्रसङ्ग मे वस्तुतः होनेवाले पाठ को प्रस्तुत करते समय पाठालोचक को उस प्रसङ्ग का ध्यान अवश्य रखना चाहिए। शब्द साम्य अथवा तुकान्त-साम्य के कारण होनेवाली विकृतियों से पाठ कुछ छूट जाता है और प्रस्तुत प्रसङ्ग में व्यवधान पड़ जाता है। यदि इसी विकृत पाठ की ही प्राप्ति पाठालोचक की सभी प्रतियों में हो, तो उसे समझ जाना चाहिए कि सम्पूर्ण प्रतियाँ एक ही शाखा की हैं। भिन्न-भिन्न शाखा की प्रतियों के मिलान से इस प्रकार के प्रसङ्गावधान का परिहार हो जाता है। किन्तु, जहाँ अपनी-अपनी विशेष विकृति के कारण एक ही पाठ भिन्न-भिन्न प्रतियों में अलग-अलग मिले और सभी पाठ प्रसङ्गानुकूल न हों, तो पाठालोचक उस पाठ के सुधार की बात सोच सकता है।

(२) **सार्थकता**—पाठ की सार्थकता का प्रसङ्ग से अनन्य सम्बन्ध है। निरर्थक पाठ कभी प्रसङ्ग के अनुकूल नहीं हो सकता। किन्तु पाठ की सार्थकता का निराकरण होने के साथ-साथ पाठालोचक के बहुज्ञान तथा सतर्कता की अत्यन्त आवश्यकता होती है। कभी कभी अधिकाश प्रतियों में मिलनेवाले उपयुक्त पाठ को भी निरर्थक समझकर पाठ सुधार करने की भूल सम्पादकों से हो जाया करती है। जैसा जायसी-ग्रन्थावली के सम्पादक प रामचन्द्र शुक्ल ने किया। पाठ था—"कतहुँ 'छरहटा' पॅखिन्ह लावा", जो प्रतियों मे मिलता था तथा शुक्लजी के पूर्ववर्त्ती सम्पादक डॉ ग्रियर्सन ने जिसे

---

1 Emendation is the attempt to eliminate all the untrust worthy elements in the manuscript tradition —Katre

स्वीकृत भी किया था, किन्तु उन्हें यह पाठ निरर्थक लगा और बिना किसी अन्य सम्भावना पर विचार किये और बिना किसी परीक्षा के उन्होंने इस एक अर्धाली के एक चरण मे ही दो पाठों का सुधार किया। 'छरहटा' के स्थान पर 'चिरहटा' तथा 'पेखन्ह' के स्थान पर 'पँखिन्ह' पाठ प्रस्तुत किया। डॉ माताप्रसाद गुप्त ने जायसी-ग्रन्थावली के सम्पादन मे शुक्लजी की इस भूल की ओर निर्देश किया तथा यह बताया कि प्रतियों में प्राप्त पाठ सार्थक एव प्रसङ्गानुकूल है। छरहटा का अर्थ इन्द्रजाल (छल+हट्ट) तथा पेखन्ह का देखना है। इस प्रकार के अशुद्ध पाठ-सुधार शुक्लजी की ही जायसी-ग्रन्थावली के अन्तर्गत कई प्रसङ्गों में मिलते हैं।

इस प्रकार के निरंकुश पाठ-सुधार द्वारा रचयिता के अभीष्ट पाठ तक पहुँचने के स्थान पर सम्पादक स्वय अपना पाठ प्रस्तुत कर देता है।

इस प्रसङ्ग में एक बात और ध्यान देने की है कि प्रतियों मे प्राप्त पाठ की उपयुक्तता को मानते हुए भी कभी-कभी सम्पादक पाठ को उससे भी उपयुक्त रूप में अपनी ओर से प्रस्तुत करने का लोभ करते हुए देखा जाता है। यह कार्य तो पाठालोचन की सीमा के बिलकुल ही बाहर पड़ता है। (डॉ किशोरीलाल गुप्त को शिवसिंह सरोज के सम्पादन मे एक पाठ मिला—'तन की दुति दीप कली सी लगै।' यही पाठ अन्य प्रसङ्गों मे भी प्राप्त होता है। आपका अनुमान है कि यह पाठ 'दीपक लौ' होना चाहिए, न कि 'दीप कली'। इस उपयुक्तता की सूझ सम्पादक की अपनी सूझ है, न कि लेखक का अभीष्ट पाठ।) इस प्रकार के सुझावों को अधिक-से-अधिक पाद-टिप्पणियों में प्रस्तुत किया जा सकता है। जैसा 'कवित्तरत्नाकर' के सम्पादन में प उमाशकर शुक्ल ने एक-आध स्थान पर किया है।

(३) छन्द की गति—प्रत्येक कवि की अपनी व्यक्तिगत मान्यताएँ होती हैं। वह छन्दो-विधान में भी प्राय. एक निश्चित नियम से परिचालित होता है। कभी-कभी इन नियमों मे शिथिलता पाई जाती है। इन बातों की जानकारी के साथ पाठ की परीक्षा करनी चाहिए। जो पाठ छन्द की गति के प्रतिकूल पड़े, वहाँ अन्य सम्भावनाओं पर विचार करके देखना चाहिए कि वहाँ पर क्या उपयुक्त पाठ रहा। यदि छन्द सम्बन्धी शिथिलता रचयिता की अपनी विशेषता है और वह पाठ उसके अनुकूल पड़ता है, तो कोई समस्या ही नहीं उठती है। पर, यदि वह उसके प्रयोगों के अनुकूल न हो, तो पाठ की अनुपयुक्तता की ओर ध्यान जाता है। इसी प्रकार पाठ-सुधार में प्रस्तुत किया जानेवाला पाठ भी कविप्रयोग सिद्ध छन्दोविधान के अनुकूल पड़ना चाहिए। कभी कभी एक ही कवि छन्दोविधान के नियमों में शिथिल दीख पड़ता है। जैसा, मानस और पद्मावत दोनों में अर्धाली और दोहों के सख्या-

नुसार क्रम के सम्बन्ध में देखा जा सकता है। इस बात की परीक्षा सुधार से पूर्व ही हो जानी चाहिए।

(४) **व्याकरण-शैली**—यदि प्राप्त प्रतियों में किसी स्थान पर प्रयोग रचयिता के काल के व्याकरण के अनुकूल न पड़कर परवर्त्ती काल के व्याकरण के अनुकूल पड़ता हो, तो उसके प्रक्षिप्त होने की सम्भावना होती है। इसी प्रकार, पाठ सुधार में भी ध्यान रखना चाहिए कि प्रस्तुत पाठ कहीं परवर्त्ती व्याकरण के प्रयोग के ही अनुकूल तो नहीं है। उसे तो रचनाकाल के प्रयोगों के अनुकूल होना चाहिए। कभी-कभी जान-बूझकर प्रक्षेप द्वारा कृति की भाषा एव उसके व्याकरण पर प्राचीनता की कलई की जाती है, इसका ध्यान रखना चाहिए।

(५) **रचयिता के व्यक्तिगत प्रयोग**—प्रत्येक लेखक के अपने कुछ व्यक्तिगत प्रयोग होते हैं, जिनकी जानकारी पाठालोचक के लिए अनिवार्य होती है। इस जानकारी के हेतु उस लेखक की सम्पाद्य रचना के अतिरिक्त अन्य रचनाओं के अध्ययन की भी आवश्यकता होती है। कभी-कभी कुछ प्रयोग सामान्यतः अशुद्ध होते हैं, किन्तु लेखक उनका प्रयोग करने में अभ्यस्त है, तो पाठालोचक उनका सुधार नहीं कर सकता। इसके प्रतिकूल जहाँ रचना में ऐसे पाठ आ गये हों, जो लेखक के सिद्ध प्रयोगों के बिलकुल प्रतिकूल पड़ते हों, तो उनके सम्बन्ध में अत्यन्त सतर्क रहने की आवश्यकता होती है।

व्यक्तिगत प्रयोग के उदाहरण-स्वरूप तुलसी को प्रस्तुत किया जा सकता है। जिन्होंने नामों को उसी अर्थ के पर्याय-शब्दों से सम्बोधित किया है। जैसे—शत्रुघ्न को शत्रु-हनन, रिपुदमन आदि शब्दों से तथा बाणासुर को विशिखासुर तथा सरासुर आदि शब्दों से भी सम्बोधित किया है।[1]

इन सङ्गतियों की सपूर्ण परीक्षा को अन्तरङ्ग परीक्षा कहते हैं। हॉल महोदय के अनुसार पाठ सुधार अन्तरङ्ग सम्भावना-सम्मत होना चाहिए, अर्थात् यह वही पाठ हो, जो रचयिता लिखना चाहता था।* अतरग सभावना का सबन्ध केवल उन्हीं पाठों से

---

१—'प्रतिलिपिकार और पाठ विकृतियाँ' भाग १ अध्याय ४, पृ ३७।

* The emendation must be intrinsically probable, that is, it must be something that the author is likely to have written

—Hall

होता है जो मूल लेखक के होते हैं। इनका सम्बन्ध प्रतिलिपिकारों द्वारा प्रस्तुत प्रक्षिप्त पाठ नहीं होता।*

## बहिरङ्ग सम्भावनाएँ

( Extrinsic or Documental Probabilities )

मूल पाठ के ऊपर बाह्य प्रभावों के कारण पाठ कुछ-का-कुछ बन जाता है। ये कारण साधारणतया लिपि सम्बन्धी ही हुआ करते हैं। प्रत्येक लिपि में कुछ वर्ण एक दूसरे से मिलते जुलते रहते हैं। उनके इस साम्य के कारण एक शब्द के स्थान पर दूसरा हो जाना अत्यन्त सरल हो जाता है। उर्दू लिपि की प्रतियों में इस प्रकार की सम्भावना अधिक रहती है। नागरी में भी 'भ' और 'म', 'क' और 'फ' तथा 'ज' और 'ञ' मे अति समता है और यह समता प्रतिलिपिकारो को एक शब्द को भूल से दूसरा बना देने मे अत्यन्त सहायक होती है। इस प्रकार की सम्भावनाओ पर भी भली-भाँति विचार करना अनिवार्य होता है। यदि कोई भी उपयुक्त पाठ प्रतियो में न मिले, तो उस समय पाठालोचक को यह विचार करना चाहिए कि ये पाठ किसी सङ्गत पाठ से लिपि-भ्रम के कारण परिवर्तित होकर तो नहीं बन सकते है। यदि ऐसा सम्भव हो तथा वह अनुमित शब्द अन्तरङ्ग सम्भावनाओ के भी अनुकूल पड़ता हो, तो वहाँ पाठ-सुधार किया जा सकता है। इस प्रकार, लिपि-भ्रम या लेखन-प्रमाद से हुई विकृतियों की परीक्षा को बहिरङ्ग-परीक्षा तथा तत्सम्बन्धी सम्भावित विकृतियों को बहिरङ्ग सम्भावनाएँ कहते हैं। इन विकृतियो का सीधा सम्बन्ध प्रतिलिपिकार से होता है, लेखक से नहीं।†

अन्य बातों के समान रहने पर जो पाठ कविप्रयोग-सिद्ध छन्द के नियमानुकूल सार्थक और प्रसङ्गानुकूल होगा तथा एकाधिक शाखा की प्रतियों में प्राप्त होगा, तो वह स्वीकृत होगा। इसके विपरीत स्थिति में वह त्याज्य होगा। यदि वह एक शाखा में प्राप्त पाठ होगा तथा कुछ सीमा तक अन्तरङ्ग सम्भावनाओ के अनुकूल होगा और

---

* The intrinsic probability of a reading is relative simply to the original author of the text and has nothing to do with the transcriber of the Manuscript —S M Katre

† The documental probability of a reading is relative simply to the transcriber of the manuscript and has nothing to do with the author

—Katre

कुछ सीमा तक प्रतिकूल, तो वह सन्देहास्पद होगा। और, जहाँ निश्चित प्रमाणों के आधार पर, अर्थात् अन्तरङ्ग सम्भावनाओं से, जो पाठ अशुद्ध हो तथा जिसकी बहिरङ्ग सभावना से सङ्गति मिल जाय, वहाँ पाठ-सुधार द्वारा पाये जानेवाले पाठ को स्थानापन्न किया जा सकता है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि पाठ-सुधार वहीं प्रस्तुत किया जा सकता है, जहाँ प्रस्तुत किया जानेवाला पाठ अन्तरङ्ग तथा बहिरङ्ग दोनों सम्भावनाओं के अनुकूल पडता हो। पाठ सुधार में इन दोनों सम्भावनाओं का समान महत्व है। यदि कोई पाठ अन्तरङ्ग सम्भावना से तो उपयुक्त हो, किन्तु उसकी बहिरङ्ग सम्भावना की कोई सङ्गति न मिले, तो उसे पूर्व पाठ के स्थान पर सुधार के रूप में नहीं प्रस्तुत किया जा सकता हे। और इसी भाँति जिस प्रस्तुत किये जानेवाले पाठ की बहिरङ्ग सम्भावना तो पूरी-पूरी सम्भव हो जाय, किन्तु अन्तरङ्ग सम्भावनाओं की दृष्टि से वह निरर्थक हो, तो उसे भी सुधार के रूप में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता है।

कुछ उदाहरणों द्वारा उचित पाठ-सुधार को समझा जा सकता हे। जायसी-ग्रन्थावली के सम्पादन मे डॉ माताप्रसाद गुप्त को कई ऐसे स्थान 'पद्मावत' की प्रतियों में प्राप्त हुए, जिनका उपयुक्त पाठ किसी भी प्रति मे न मिला। सभी में भ्रष्ट पाठ था। पाठालोचक ने किस प्रकार अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग सम्भावनाओं का ध्यान रखकर पाठ-सुधार प्रस्तुत किया, यह देखा जा सकता है।

(१) जायसी के 'पद्मावत' के निम्नलिखित दोहे के रिक्त स्थान के पाठ के लिए भिन्न भिन्न प्रतियों मे डॉ० गुप्त को ग्यारह पाठान्तर मिले :—

दोहा—'बेधि रहा जग बासना, परिमल मेद सुगध।
तेहिं अरघान भँवर सब लुबधे, तजहिं न ' बध ॥'

पाठान्तर—१ तजहिं न तीवी बध।
२ तजहिं न पीवी बध।
३ तजहि न नीमी बंध।
४ तजहिं न तिनवे बध।
५ तजहिं न तेहिसन बध।
६ वार बुध तरनौ बध।
७ तजहिं न सोई बध।
८ तजहिं न ताकर बध।
९ तजहिं न देई बध।
१० तजहिं न अपने बध।
११ तजहिं न सग।

इनमे से कोई भी पाठ सङ्गत नहीं है। प्रसङ्ग, सार्थकता आदि कई दृष्टियों

से ये पाठ भ्रष्ट हैं। पाठालोचक ने अपनी सूझ से देखा कि यहाँ 'नीवी' पाठ रहा होगा। पाठान्तर के पाठों में कई तो स्पष्टतः बहिरङ्ग सम्भावना, अर्थात् लिपि-भ्रम के कारण उत्पन्न हो गये हैं। यह स्पष्ट है, क्योंकि अरबी, फारसी तथा उर्दू की प्रतियों में 'नीवी' से परिवर्त्तित होकर 'पीवी', 'तीवी' और 'सीवी' आदि पाठ अत्यन्त सरलता से हो सकते हैं। इनके परिवर्त्तन में केवल कुछ बिन्दुओं की असावधानी पर्याप्त थी।

इनके अतिरिक्त वे पाठ, जिनकी सङ्गति लिपि-भ्रम से नहीं बैठाई जा सकती, वे प्रतिलिपिकारों की कृपा से हो गये होंगे। उन्होंने देखा कि इन बिगड़े हुए पाठों का कोई अर्थ नहीं निकलता, तो उन्होंने मनमाने सुधार कर दिये, जिससे शब्द तो सार्थक रहा, पर प्रसङ्ग में उसका कोई अर्थ ही न रहा।

इस प्रकार इस पाठ की बहिरङ्ग सम्भावना पर विचार करने पर जब डॉ गुप्त को यह निश्चित हो गया कि यहाँ 'नीवी' पाठ ही रहा होगा और उसीसे लिपि-भ्रम के कारण और कुछ प्रक्षेप के कारण पाठान्तर सम्भव हुए, तो उन्होंने पुनः उस पाठ की परीक्षा अन्तरङ्ग सम्भावनाओं के आधार पर की। उन्होंने देखा कि 'नीवी' शब्द का प्रयोग जायसी ने अन्य प्रसङ्गों में भी बहुतायत से किया है। यह शब्द प्रसङ्ग एव अर्थ की दृष्टि से अत्यन्त सार्थक है तथा उसके स्थानापन्न होने पर छन्द की गति एव मात्रा आदि में कोई ऐसा व्यवधान नहीं पड़ता जो जायसी के छंदोविधान के प्रतिकूल हो। इस प्रकार, डॉ गुप्त ने यह निश्चित रूप से मान कर यहाँ पाठ-सुधार किया कि इस स्थल पर 'नीवी' पाठ ही रहा होगा। इस प्रकार प्रस्तुत पाठ है :

'तेहिं अरधान भँवर सब लुबधे, तजहिं न **नीवी** बध।'

(२) डॉ गुप्त-सम्पादित 'पद्मावत' के पाठ-सुधार का एक अन्य उदाहरण लीजिए।

प्रस्तुत पाठ है—'**नीवी** कमल कली जनु बाँधी।
विसा लक जानहुँ दुइ आँधी॥'

इस पाठ में किसी भी प्रति में 'नीवी' पाठ नहीं था, प्रत्युत इसके स्थान पर निम्नलिखित पाठान्तर मिले :

१ **तरुनी** कमल कली जनु बाँधी।
२ **विनवै** कमल कली जनु बाँधी।
३ **तरविन** कमल कली जनु बाँधी।
४ **तरई** कमल कली जनु बाँधी।
५ **वरनी** कमल कली जनु बाँधी।

पाठालोचक ने देखा कि इन पाठों में कोई भी पाठ अन्तरङ्ग सम्भावना से उचित नहीं है, प्रत्युत इसके स्थान पर 'नीवी' पाठ रहा होगा, यह अधिकतम सम्भव

है। 'नीवी' पाठ के होने की बहिरङ्ग सम्भावना भी मिल जाती है, क्योंकि इससे लिपि-भ्रम के कारण पाठान्तर में प्रस्तुत पाठों का होना सम्भव था तथा प्रसङ्गादि अन्तरङ्ग सम्भावनाओं की दृष्टि से यह पाठ अत्यन्त उपयुक्त भी है।

(२) 'पद्मावत' मे ही प्रस्तुत पाठ है :

'रातिहुँ दिवस इहै मन मोरे।
लागहुँ कन्त छार जेउँ तोरे ॥'

किसी भी प्रति में 'छार' पाठ नहीं मिला, प्रत्युत उसके स्थान पर निम्नलिखित पाठान्तर मिले :

१ लागहुँ कन्त **थार** जेउँ तोरे।
२ लागहुँ कन्त **ठार** जेउँ तोरे।

प्रस्तुत प्रसङ्ग में इन पाठों की कोई सङ्गति नहीं थी। बहिरङ्ग सम्भावना से उर्दू लिपि-भ्रम से 'छार' का 'ठार' और 'थार' होना सम्भव है।

'छार' पाठ अन्तरङ्ग सम्भावनाओं की दृष्टि से भी ठीक है, अतः पाठालोचक ने इसे पाठ को सुधार के रूप में प्रस्तुत किया।

आचार्य चन्द्रवली पाण्डे का मत है कि प्रतियों में प्राप्त पाठ तक ही पाठालोचक को अपने को सीमित रखना चाहिए। उनकी दृष्टि में पाठ-सम्पादन की वैज्ञानिक विधि यही कहती है। निश्चय ही पाण्डे जी की यह मान्यता प्राचीन वर्ग के पाठालोचकों के सम्बन्ध में सार्थक हो सकती है, नवीन वर्ग के पाठालोचकों के लिए नहीं। प्राचीन वर्ग के पाठालोचकों की ही भाँति उन्होने एक प्रति में प्राप्त 'थार' पाठ की सार्थक्ता का समर्थन अर्थानुसङ्गति से किया है। उन्होंने 'जेउँ' के स्थान पर 'कन्न' पाठान्तर माना है। अर्थ है, 'हे कन्त, रात दिन यही भावना मन में बनी रहती है कि जैसे हो सके आपके थाल का प्रसाद मुझे प्राप्त हो सके'।[1] पाण्डे जी के इस तर्क मे वजन है और सभव है यही मूल पाठ हो।

इस प्रकार, उदाहरणों को देखने से यह निश्चय हो जाता है कि पाठ-सुधार एक ही दशा में होना चाहिए, जब सुधारवाला पाठ लेखानुसङ्गति (बहिरङ्ग सम्भावना) तथा विषयानुसगति (अन्तरग सम्भावना) दोनों दृष्टियों से ठीक हो।

कभी कभी यह स्थिति भी उत्पन्न हो सकती है कि प्रतियों में दो या दो से अधिक पाठ ऐसे मिलते हों, जो एक से अधिक शाखा की प्रतियों में मिलते हैं तथा वे सभी विषयानुसगत हों, तो उस दशा में पाठालोचक को क्या करना चाहिए? सामान्य नियम यह है कि उसे ऐसी दशा में सर्वाधिक सुन्दर पाठ ग्रहण

१ ना प्र प, वर्ष ६२, अङ्क २-४, पृ ४६३।

करना चाहिए । इस स्थिति में यह सम्भावना रहती है कि सूतकाल में ही पाठ सुधार किया गया हो अथवा रचयिता अपनी कृति के निर्माण के बाद भी जीवित रहा हो और उसने उसमें समय-समय पर सशोधन प्रस्तुत किये हों जिनकी परम्पराएँ प्रतियों के माध्यम से चल पड़ीं ।

## ✓पाठालोचकों के दो वर्ग

पाठ सुधार होना चाहिए अथवा नहीं, इस प्रश्न पर पाठालोचकों के दो वर्ग हो जाते हैं । कभी-कभी भ्रम से इन दो वर्गों को हिन्दी-पाठालोचन की परिसीमा के भीतर समझने में लोग भूल कर बैठते हैं । वे प्राचीन वर्ग के अन्तर्गत उन सम्पादकों को मान लेते हैं, जो बिना किसी वैज्ञानिक विधि के प्रयोग के स्वेच्छानुसार उपयुक्त लगनेवाले पाठों को ग्रहण करके प्रस्तुत करने में ही अपने कार्य की सार्थकता समझते थे । जहाँ प्रतियों के बाहुल्य का साक्ष्य भी वे ग्रहण करते थे, वह भी भ्रामक होता था, क्योंकि जबतक उनका शाखागत वर्गीकरण न हो जाय, उनके बहुमत के साक्ष्य की कीमत नहीं समझी जा सकती । इस प्रकार, हिन्दी के प्राचीन सम्पादक तो सही अर्थ में पाठालोचक थे ही नहीं । उनका कार्य वैज्ञानिक न होकर स्वरुचि से प्रेरित कलात्मक अधिक था । इस कथन का तात्पर्य यह नहीं कि उनके ऊपर कोई दोषारोपण किया जाय, प्रत्युत यह उनकी काल-सीमा का दोष है, जब यह विधि का ज्ञान ही उन्हें न था । वस्तुतः वैज्ञानिक विधि का अनुसरण करनेवाले पाठालोचकों को हम दो वर्गों में बाँट सकते हैं :

(१) प्राचीन वर्ग (Conservative School)

(२) नवीन वर्ग (Liberal School)

**प्राचीन-वर्ग**—इस वर्ग के पाठालोचक अपनी कार्य-सीमा को पाठ-चयन तक ही सीमित रखना चाहते हैं । इनकी दृष्टि से पाठ सुधार करना पाठालोचक का कार्य नहीं है । तर्क यह है कि जब हम पाठ सुधार प्रस्तुत करते हैं, तब वह रचयिता का पाठ न होकर पाठालोचक का पाठ हो जाता है और हम सही अर्थ में लेखक के अभीष्ट पाठ के पुनर्निर्माण करने के कार्य से विरत हो जाते हैं । कितना ही भ्रष्ट पाठ प्रतियों में क्यों न मिले, उसे ही प्रस्तुत करना चाहिए, क्योंकि यदि वह रचयिता का पाठ नहीं होता है, तो भी कम-से-कम उसका निकटतम पाठ होता है । इसका सामान्य सिद्धान्त है कि ऐसे पाठों को, जो प्रसङ्गानुमोदित न भी हों, ( बिना सुधार के ) प्रस्तुत कर देना चाहिए, क्योंकि यदि ये मूल पाठ नहीं होते हैं, तो भी कम-से-कम मूल पाठ के

अवशेष होते हैं। ('What, if not the original reading, is at least the remains of it')*

इस वर्ग के पाठालोचक पाठ सुधार न प्रस्तुत करके प्रतियों के माध्यम से प्राप्त भ्रष्ट पाठ को भी खींच-तानकर उसका अर्थ निकालने का प्रयास करते हैं, चाहे वह अर्थ उस पाठ में विद्यमान हो अथवा नहीं। किन्तु अपनी क्लिष्ट कल्पना द्वारा वे दूर की कौड़ी लाने का प्रयास करते हैं। इस प्रकार अर्थ की सगति बैठा देने से पाठ-समस्या हल नहीं हो जाती बल्कि उचित शब्द जब अन्यत्र पाठक को प्रयुक्त मिलता है तो वह सदेह पूर्ण हो जाता है। इस सम्बन्ध में डॉ पोस्टगेट का कथन है कि वह अन्य सदर्भों को खींच-तान कर प्रस्तुत पाठ का अर्थ निकालता है, यद्यपि वे अर्थ उस पाठ में नहीं होते हैं। बहुत अच्छा आवश्यक अर्थ प्राप्त हो गया है किन्तु इसके मूल्य भी चुकाने पड़ेंगे। इसका मूल्य यह होता है कि पाठक इन शब्दों का अर्थ अत्यन्त धुँधले तथा भ्रष्ट रूप में ग्रहण करता है तथा जब वह उन्हीं शब्दों को अन्य प्रसङ्ग में प्रयुक्त पाता है वह भ्रम तथा सन्देह से परिपूर्ण हो जाता है।† इस पर भी यदि वे समर्थ नहीं होते हैं, तो वे इसे रचयिता का असाधारण प्रयोग कहकर टाल देते हैं या उक्त पाठ का अशुद्ध प्रयोग कहकर पाठ का दोष रचयिता के सिर पर डाल देते

---

* Postgate : Textual Criticism (Encyclopaedia Britannica, Vol 22)

Now the traditional critic's chief concern is for the safety of the traditional and by preference the transmitted text He urges very rightly that if alteration is carried beyond a certain point, it cuts away its own foundation and so all certainty is destroyed His objective is minimum of change —Postgate.

† He will obtain the required sense by distorting the meaning of other constituents of the context, until they furnish it So far so good the requisite sense is obtained, but the price has now to be paid And the price is that of the reader's perception of a word or words, so wrested in, bedimmed and impaired, and his power of discriminating and understanding them when it meets them again is shot with doubt and error —Postgate

हैं। कात्रे महोदय के अनुसार तो इन पाठालोचकों का सिद्धान्त वाक्य ही है, 'स्थितस्य गतिश्चिन्तनीया'।*

इनके अनुसार कितने ही अदृष्ट और असङ्गत पाठ को सुधार करके प्रस्तुत नहीं करना चाहिए। यदि वे सदेहपूर्वक स्वीकृत हों या सन्देहपूर्वक त्यक्त हों, तो उनका उल्लेख पाद टिप्पणी में करके, पाठालोचक चाहे तो पाठ के सम्बन्ध में अपना सुझाव प्रस्तुत कर सकता है।

यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि पाठालोचकों का यह वर्ग अधिक ईमानदार है और वह, प्रतियों के प्रमाण पर ही किसी पाठ के प्रस्तुत किये जाने की मान्यता देता है। फिर भी, वह पाठालोचक के कर्त्तव्यों का पूर्णतः पालन नहीं करता है, जैसा पोस्टगेट का कथन है 'उसकी दुनिया एक ईमानदार व्यक्ति की दुनिया होती है, वह प्राचीन पाठ का रक्षकमात्र होता है, पाठालोचक नहीं। वह पाठ को उसके सभाव्य मूल रूप में पुनर्निर्मित करने के कर्त्तव्य को स्वीकार नहीं करता। ('His world will be of a honest man, but of a textual antiquarian, not a textual critic, since he declines the duty of 'Restoration of text as far as possible to its original form'')†

इस प्रकार के प्रस्तुत किये गये पाठ में बड़ी कठिनाइयाँ उत्पन्न हो सकती हैं। पाठक को ऐसे स्थलों के अर्थ की सगति बैठाने के लिए पद-पद पर रुकना पड़ता है तथा एक-आध इस प्रकार के शब्द, उस सम्पूर्ण छद या पसग के पाठ के रसास्वाद से वञ्चित कर देते हैं।‡

यहाँ पर एक बात को ध्यान मे रखना अनिवार्य होता है, जिसका निर्देश पहले भी हो चुका है कि जहाँ पर यह निश्चय हो जाय कि रचयिता द्वारा प्रस्तुत पाठ

---

* It is the weakness of the conservative critic to extol interpretation or exegesis at the expense of Emendation Some even go to the length of saying that a successful defence of a passage in the text is greater service than its successful correction —Katre

† Postgate : Textual Criticism (Encyclopaedia Britannica, Vol 22)

‡ The great works of classical literature are not studied as a pathological specimen and they will be studied the less, the more they continue to repel and disquiet the reader —Postgate

# ७

# उच्चतर आलोचना

पाठ की सम्पूर्ण समस्याओं को सुलझा लेने के उपरान्त पाठालोचक उस कृति की रूपरेखा तैयार कर लेता है और उसका मुख्य कार्य यहीं समाप्त हो जाता है किन्तु उसे भूमिका के रूप में प्राप्त सपाद्य सामग्री तथा सम्पादन सम्बन्धी स्वीकृत मानदण्डों का पूर्णरूप से उल्लेख करना होता है। सम्पादन कार्य एक वैज्ञानिक प्रक्रिया पर अवश्य आधारित होता है, फिर भी सामग्री की उपलब्धि तथा उसके रूप की सीमाओं से यह कार्य सीमित होता है तथा जो पूर्वकल्पना ( Hypothesis ) सम्पादक अपने कार्य के लिए स्थान-स्थान पर निर्धारित करके चलता है, आगे उपलब्ध होने वाली सामग्रियों के आधार पर खण्डित हो सकती है और शोध की जिस सीमा तक वह पाठालोचक पहुँचा है उसके आगे शोध कार्य वृद्धिगत हो सकता है। अतः इस प्रकार शोध कार्य को आगे बढ़ने के दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर अपनी सामग्री तथा अपने सम्पादन-सिद्धान्तों का पूर्ण विवरण भूमिका में करना चाहिए, ताकि आगे आने वाला शोधकर्ता उन सामग्रियों का उपयोग कर सके और पूर्व पाठ-शोधक के कार्यों की परीक्षा कर सके और उसकी प्रामाणिकता पर अपने खोज की मुहर लगा सके अथवा उसे वैज्ञानिक ढङ्ग से अप्रामाणिक सिद्ध कर सके। इसके अतिरिक्त भी इस प्रकार की भूमिकाओं का यह भी उपयोग होता है कि आलोचनात्मक ढङ्ग से पाठ का अध्ययन करने वाले पाठक की जिज्ञासा की तुष्टि हो सके और जिस कृति का वह अध्ययन कर रहा है उसके प्रति उसके हृदय में विश्वासनीयता का भाव जग सके। उच्चतर आलोचना के अन्तर्गत पाठालोचक को साधारणतया किन बातों का उल्लेख करना चाहिए इस सम्बन्ध में श्री जी बी ग्रे का यह कथन उल्लेख्य है :

'उच्चतर आलोचना में रचना की विभिन्न प्रतिलिपियों के महत्व, उद्देश्य एव उनकी प्रकृति का निर्णय होना चाहिए। उनके लेखन-काल एव लेखन की परिस्थितियों के अनुसार, वे पृथक् पृथक् एक व्यक्ति की या एकाधिक व्यक्तियों की कृतियाँ हैं, किस प्रकार वे अपने वर्तमान रूप में पहुँची हैं, क्या वे पूर्वकालीन स्रोतों के पाठों से युक्त हैं

है कि ये अशुद्धियाँ लेखक की अशुद्धियाँ हैं और वह निश्चेष्ट विकृतियाँ नहीं हैं, अतः उनका सुधार नहीं किया जा सकता है।* इस सम्बन्ध में कात्रे महोदय का मत है कि यदि कोई दोष इतने प्राचीन काल से मिलते हैं जितनी प्राचीन उस ग्रथ की मूल प्रति हो, तो इन दशाओं में साधारणतः लेखानुसगतियों का सहारा लेना सभव नहीं होता है। इन स्थानों पर पाठ-सुधार एक सभावित अनुमान मात्र होता है।†

इस ढङ्ग की समस्याएँ जायसी के 'पद्मावत' तथा तुलसी के 'मानस' के पाठो में भी प्राप्त हुई। डॉ माताप्रसाद गुप्त की मान्यता है कि छद के नियमों की शिथिलता मूलतः इन दोनों ही कवियों में मिलती है अतः उन पाठों को दोषपूर्ण ( corrupt ) मानकर उनके सुधार के लिए प्रयत्न करना उचित नहीं है। कुछ विद्वान् जायसी और तुलसी में किसी भी प्रकार के दोष की कल्पना ही नहीं करते और वे उनके व्यक्तिगत दोषों या प्रयोगों को भी प्रतिलिपिकारों के सिर डाल देना और उसका सुधार प्रस्तुत करना चाहते हैं। ये सुधार तब तक मान्य नहीं हो सकते जब तक वे अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग दोनों ही सभावनाओं से सिद्ध न हो जायँ। मूल लेखक के दोष प्रायः रचनाओं में रह जाते हैं और आगामी सम्पादकों द्वारा उनके सुधार का अनधिकार प्रयत्न भी देखा जाता है। 'शेले' की मूल कविताओ के पाठ में इसी प्रकार छद सम्बन्धी दोष विद्यमान थे जिन्हें प्रतिलिपिकारों के सिर मढ़ने का प्रयास अँग्रेजी के कुछ पाठ मीमासक कर रहे थे।‡ अँग्रेजी के इतने सिद्धहस्त कवि में इस प्रकार के दोष प्राय असूझ से प्रतीत होते, यदि पाठ शोध की इस विधि से उसके

---

* If there is number of instances where there is faultiness which is hard to remove, it is probable that evil lies too deep for emendation The author's own carelessness may be to blame or he may not have been allowed to put finishing touch to his work

—Postgate

† If the faulty readings have been in possession of the text in the period anterior to our 'archetype' dating from a period very near to autograph, it may not be possible to have recourse to transcriptional probability in the ordinary course ..Emendation in his case shall be little more than a fortunate guess —Katre

‡ We may detect occasional lexity also in the handling of his (Shelley's) verse Lines are left unrhymed, or the same word is used in place of another rhyming word

पाठों की परीक्षा न की जाती और सुगठित पाठ प्रस्तुत करने के लोभ में उसके दोषों का परिहार करके एक सुन्दरतर पाठ प्रस्तुत करना उपयुक्त न होता । लेखक में इस प्रकार की भूलों की सभावना पर डॉ कात्रे का कथन अत्यन्त तर्क पूर्ण है* इस प्रकार की भूलों से अँग्रेज़ी आदि भाषाओं के पाठ मुक्त हो गए हैं । हिन्दी मे भी यह कार्य बडी तेजी से आगे बढ़ रहा है ।

पाठ सुधार की समस्या पर विचार करते समय पाठ की अर्थानुसगति कितनी अनिवार्य है, यह कहने की आवश्यकता नहीं । पर इतना कहना उचित ही होगा कि जिन भ्रष्ट पाठों के सम्बन्ध मे लेखानुसंगति ऐसा पाठ प्रस्तुत करती है जो किसी भी प्रकार सार्थक नही है और अर्थानुसगति से दूसरा ऐसा पाठ निकलता है जो प्रसग के अनुकूल तो ठीक हे, पर उसके सम्बन्ध मे कोई लेखानुसगति नही मिलती, ऐसे पाठों की स्थिति सदिग्ध होती है । पर पाठालोचन के सामान्य सिद्धान्तानुसार काम चलाऊ पाठ ( stop-gap ) के रूप में सार्थक पाठ का ग्रहण करना ही समीचीन होता है ।† यह निर्विवाद सत्य है कि अर्थानुसङ्गति अथवा विषयानुसङ्गति पर विचार करने के लिए अगाध पाण्डित्य, निर्बाध निर्णयशक्ति तथा अलौकिक सूझ-बूझ की आवश्यकता होती है । पाठालोचन की प्रक्रिया का प्रयोग कोई सामान्य व्यक्ति करके कभी भी मूल पाठ के निर्णय में सफलता नहीं प्राप्त कर सकता है । अर्थानुसङ्गति के प्रयोग के सम्बन्ध में प विश्वनाथप्रसाद मिश्र के ये शब्द बड़े महत्व पूर्ण हैं कि 'साहित्यिक सरणि में

---

* The dictum that 'even Homer nods sometimes', explains the nature of error in the autograph Even the best authors do not always write worthily of themselves Lapses from felicity of style, from clearness, from consistancy or even through carelessness from correct grammar may occur now and then in the best writings

—Introduction to Indian Textual Criticism, Page 22

† An emendation that violates documentary probability, while it satisfies intrinsic probability may possibly be true, though we have no right to presume its truth, an emendation on the other hand which satisfies documentary probability and get violates intrinsic probability is wholly valueless Hence the dictum that a good critic must be something more than a mere palaeographer

—Katre

सबसे बड़ा दोष यह है कि इसमें यदि कोई सूझ अपने ढङ्ग की हो गई, कवि या कर्ता की पद्धति पर न हो सकी तो वह कुछ की कुछ हो जाएगी। 'गणेश' के स्थान पर 'बानर' हो जायगा। चेतना में विशेषता होनी चाहिए 'परकाय प्रवेश' की, कवि के या लिखक के अन्त करण से जो तादात्म्य नहीं कर सकता वह ठीक पाठ का निर्णय नहीं कर सकता।'* वास्तव में पाठालोचन की सम्पूर्ण प्रक्रिया ही असिधार-व्रत के समान है। उसमें भी पाठ-सुधार और पाठ-सुधार में भी निरे अर्थ की सङ्गति पर पाठ-निर्णय तो और भी कठिन कार्य है। पर कभी-कभी अर्थ ढूंढ़ने का प्रयत्न इतना बढ़ जाता है कि प्राप्त पाठ को न समझने के कारण उसे निरर्थक कहकर अन्य पाठ अपनी ओर से स्थानापन्न कर दिया जाता है और कभी-कभी प्राप्त पाठ से भी उत्कृष्टतर पाठ अपनी सूझ बूझ से निकाल कर उसे कविकृत होने की दलील दी जाती है। ये दोनों ही क्रियाएँ पाठालोचन के उद्देश्य पर कुठाराघात करती हैं। 'ओल्ड टेस्टामेण्ट' के सम्पादकों ने इस प्रकार के अवैज्ञानिक अर्थ प्रेमियों से पाठालोचकों को सावधान रहने को कहा है। उनका कहना है कि 'ओल्ड-टेस्टामेण्ट' का जब आलोचनात्मक संस्करण निकला तो प्राचीन अवैज्ञानिक पाठ ने प्रतिक्रिया की और इस प्रतिक्रिया को अतर्कपूर्ण तथा अशक्त अर्थ-परम्पराओं से बल मिला।† सौभाग्य से हिन्दी में यह कार्य बड़े ही समन्वयात्मक रूप में आगे बढ़ रहा है। डॉ माताप्रसाद गुप्त के अतिरिक्त प विश्वनाथप्रसाद मिश्र भी अर्थ परम्परा तथा पाठ-परम्परा के वैज्ञानिक समन्वय में विश्वास रखते हुए पाठ-शोध की दिशा में आगे बढ़ रहे हैं।

---

* केशव ग्रथावली, भाग ३, भूमिका पृ १८।

† Thus the uncritical text of the original and the common use, not of the original, but of a version, reacted upon it And this was aggravated by unsound methods of interpretations, legal or dogmatic or illogical (Encyclopaedia Britannica, Vol 3, Page 506)

# ७

# उच्चतर आलोचना

पाठ की सम्पूर्ण समस्याओं को सुलझा लेने के उपरान्त पाठालोचक उस कृति की रूपरेखा तैयार कर लेता है और उसका मुख्य कार्य यहीं समाप्त हो जाता है किन्तु उसे भूमिका के रूप में प्राप्त सवाद्य सामग्री तथा सम्पादन सम्बन्धी स्वीकृत मानदण्डों का पूर्णरूप से उल्लेख करना होता है। सम्पादन कार्य एक वैज्ञानिक प्रक्रिया पर अवश्य आधारित होता है, फिर भी सामग्री की उपलब्धि तथा उसके रूप की सीमाओं से यह कार्य सीमित होता है तथा जो पूर्वकल्पना ( Hypothesis ) सम्पादक अपने कार्य के लिए स्थान-स्थान पर निर्धारित करके चलता है, आगे उपलब्ध होने वाली सामग्रियों के आधार पर खण्डित हो सकती है और शोध की जिस सीमा तक वह पाठालोचक पहुँचा है उसके आगे शोध कार्य वृद्धिगत हो सकता है। अतः इस प्रकार शोध कार्य को आगे बढ़ने के दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर अपनी सामग्री तथा अपने सम्पादन-सिद्धान्तों का पूर्ण विवरण भूमिका में करना चाहिए, ताकि आगे आने वाला शोधकर्ता उन सामग्रियों का उपयोग कर सके और पूर्व पाठ-शोधक के कार्यों की परीक्षा कर सके और उसकी प्रामाणिकता पर अपने खोज की मुहर लगा सके अथवा उसे वैज्ञानिक ढङ्ग से अप्रामाणिक सिद्ध कर सके। इसके अतिरिक्त भी इस प्रकार की भूमिकाओं का यह भी उपयोग होता है कि आलोचनात्मक ढङ्ग से पाठ का अध्ययन करने वाले पाठक की जिज्ञासा की तुष्टि हो सके और जिस कृति का वह अध्ययन कर रहा है उसके प्रति उसके हृदय में विश्वासनीयता का भाव जग सके। उच्चतर आलोचन के अन्तर्गत पाठालोचक को साधारणतया किन बातों का उल्लेख करना चाहिए इस सम्बन्ध में श्री जी वी ग्रे का यह कथन उल्लेख्य है :

'उच्चतर आलोचना में रचना की विभिन्न प्रतिलिपियों के महत्व, उद्देश्य एव उनकी प्रकृति का निर्णय होना चाहिए। उनके लेखन-काल एव लेखन की परिस्थितियों पर विचार, वे पृथक पृथक एक व्यक्ति की या एकाधिक व्यक्तियों की कृतियाँ हैं, किस समय वे अपने वर्तमान रूप में पहुँची हैं, क्या वे पूर्वकालीन श्रोतों के पाठों से युक्त हैं

सबसे बड़ा दोष यह है कि इसमें यदि कोई सूझ अपने ढङ्ग की हो गई, कवि या कर्ता की पद्धति पर न हो सकी तो वह कुछ की कुछ हो जाएगी। 'गणेश' के स्थान पर 'बानर' हो जायगा। चेतना में विशेषता होनी चाहिए 'परकाय प्रवेश' की, कवि के या लिखक के अन्त करण से जो तादात्म्य नहीं कर सकता वह ठीक पाठ का निर्णय नहीं कर सकता।'* वास्तव में पाठालोचन की सम्पूर्ण प्रक्रिया ही असिधार-व्रत के समान है। उसमें भी पाठ-सुधार और पाठ-सुधार में भी निरे अर्थ की सङ्गति पर पाठ-निर्णय तो और भी कठिन कार्य है। पर कभी-कभी अर्थ ढूढ़ने का प्रयत्न इतना बढ़ जाता है कि प्राप्त पाठ को न समझने के कारण उसे निरर्थक कहकर अन्य पाठ अपनी ओर से स्थानापन्न कर दिया जाता है और कभी-कभी प्राप्त पाठ से भी उत्कृष्टतर पाठ अपनी सूझ बूझ से निकाल कर उसे कविकृत होने की दलील दी जाती है। ये दोनों ही क्रियाएँ पाठालोचन के उद्देश्य पर कुठाराघात करती हैं। 'ओल्ड टेस्टामेण्ट' के सम्पादकों ने इस प्रकार के अवैज्ञानिक अर्थ प्रेमियों से पाठालोचकों को सावधान रहने को कहा है। उनका कहना है कि 'ओल्ड-टेस्टामेण्ट' का जब आलोचनात्मक सस्करण निकला तो प्राचीन अवैज्ञानिक पाठ ने प्रतिक्रिया की और इस प्रतिक्रिया को अतर्कपूर्ण तथा अशक्त अर्थ-परम्पराओं से बल मिला।† सौभाग्य से हिन्दी में यह कार्य बड़े ही समन्वयात्मक रूप में आगे बढ़ रहा है। डॉ माताप्रसाद गुप्त के अतिरिक्त प विश्वनाथप्रसाद मिश्र भी अर्थ परम्परा तथा पाठ-परम्परा के वैज्ञानिक समन्वय में विश्वास रखते हुए पाठ-शोध की दिशा में आगे बढ़ रहे हैं।

———

* केशव ग्रथावली, भाग ३, भूमिका पृ १८।

† Thus the uncritical text of the original and the common use, not of the original, but of a version, reacted upon it And this was aggravated by unsound methods of interpretations, legal or dogmatic or illogical (Encyclopaedia Britannica, Vol 3, Page 506)

## ७

# उच्चतर आलोचना

पाठ की सम्पूर्ण समस्याओं को सुलझा लेने के उपरान्त पाठालोचक उस कृति की रूपरेखा तैयार कर लेता है और उसका मुख्य कार्य यहीं समाप्त हो जाता है किन्तु उसे भूमिका के रूप में प्राप्त सपाद्य सामग्री तथा सम्पादन सम्बन्धी स्वीकृत मानदण्डों का पूर्णरूप से उल्लेख करना होता है। सम्पादन कार्य एक वैज्ञानिक प्रक्रिया पर अवश्य आधारित होता है, फिर भी सामग्री की उपलब्धि तथा उसके रूप की सीमाओं से यह कार्य सीमित होता है तथा जो पूर्वकल्पना ( Hypothesis ) सम्पादक अपने कार्य के लिए स्थान-स्थान पर निर्धारित करके चलता है, आगे उपलब्ध होने वाली सामग्रियों के आधार पर खण्डित हो सकती है और शोध की जिस सीमा तक वह पाठालोचक पहुँचा है उसके आगे शोध कार्य वृद्धिगत हो सकता है। अतः इस प्रकार शोध कार्य को आगे बढ़ने के दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर अपनी सामग्री तथा अपने सम्पादन-सिद्धान्तों का पूर्ण विवरण भूमिका में करना चाहिए, ताकि आगे आने वाला शोधकर्ता उन सामग्रियों का उपयोग कर सके और पूर्व पाठ-शोधक के कार्यों की परीक्षा कर सके और उसकी प्रामाणिकता पर अपने खोज की मुहर लगा सके अथवा उसे वैज्ञानिक ढङ्ग से अप्रामाणिक सिद्ध कर सके। इसके अतिरिक्त भी इस प्रकार की भूमिकाओं का यह भी उपयोग होता है कि आलोचनात्मक ढङ्ग से पाठ का अध्ययन करने वाले पाठक की जिज्ञासा की तुष्टि हो सके और जिस कृति का वह अध्ययन कर रहा है उसके प्रति उसके हृदय में विश्वासनीयता का भाव जग सके। उच्चतर आलोचन के अन्तर्गत पाठालोचक को साधारणतया किन बातों का उल्लेख करना चाहिए इस सम्बन्ध में श्री जी बी ग्रे का यह कथन उल्लेख्य है :

'उच्चतर आलोचना में रचना की विभिन्न प्रतिलिपियों के महत्व, उद्देश्य एव उनकी प्रकृति का निर्णय होना चाहिए। उनके लेखन-काल एव लेखन की परिस्थितियों पर विचार, वे पृथक् पृथक् एक व्यक्ति की या एकाधिक व्यक्तियो की कृतियाँ हैं, किस समय वे अपने वर्तमान रूप में पहुँची हैं, क्या वे पूर्वकालीन श्रोतों के पाठों से युक्त हैं

और यदि ऐसा है तो उन पाठों का पुनर्निर्माण तथा उनकी तिथि का निर्धारण आदि कार्य उच्चतर आलोचना के क्षेत्र का निर्धारण करते हैं।'*
इसका विवरण संक्षेप में इस प्रकार दिया जा सकता है :

(१) **सामग्री परिचय**—सर्वप्रथम पाठालोचक को अपनी सम्पूर्ण उपलब्ध सामग्री का विस्तारपूर्वक परिचय देना अपेक्षित होता है। जैसा कहा जा चुका है कि यह सामग्री दो प्रकार की होती है। (१) मुख्य सामग्री (२, सहायक सामग्री। पहले तो मुख्य सामग्री के रूप मे प्राप्त उस रचना की सम्पूर्ण हस्तलिखित पोथियों का परिचय देना चाहिए। इस परिचय में उन प्रतियों के प्राप्ति स्थान, उसके संरक्षण-कर्ता तथा उनकी प्रतिलिपि तिथि आदि का परिचय देना चाहिए। डॉ माताप्रसाद गुप्त ने अपने सम्पूर्ण सम्पादित ग्रन्थों मे प्रतियों का विस्तारपूर्वक परिचय दिया है। प्रति-लिपि तिथि देते समय—अत्यन्त सतर्क दृष्टि से—उसका कर्तव्य यह भी हो जाता है कि वह उन तिथियों की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में भी अपना मन्तव्य प्रकट करे। कहने का तात्पर्य यह है कि उसे भलीभाँति निरीक्षण एव परीक्षण करके देखना चाहिए कि उक्त प्रति में दी हुई तिथियाँ प्रामाणिक हैं या नहीं। कहीं ऐसा तो नहीं हुआ है कि प्रतिलिपिकार ने अपनी प्रति को प्राचीन सिद्ध करने के प्रलोभन में कोई गलत तिथि दे दी है अथवा किसी अन्य व्यक्ति ने बाद में सत्य तिथि पर लीपापोती तो नहीं की है। प्रति की प्राचीनता के निर्धारण में उसकी लेख सामग्री तथा उसकी रूपरेखा को देख कर भी सहायता ली जा सकती है। जो प्रतियाँ सुरक्षित होती हैं और जिनका कोई भी अंश खण्डित नहीं होता है उनमे तो प्रारम्भ में अथवा अन्त में पुष्पिका के रूप में उस प्रति के संबध में कुछ परिचय प्राप्त होता है। उस परिचय को भी पाठालोचक अपनी उच्चतर आलोचना में समाविष्ट करता है परन्तु इन पुष्पिकाओं के संबध म भी प्राचीन काल से ही पर्याप्त जाल होता रहा है। अतः

---

* The attempt must be made to determine the scope, purpose and character of various books (Manuscripts), the time in and the conditions under which they were written, whether they are severally the work of one or more authors, at what date they reached at their present form, whether they embody earlier sources, and if so, to reconstruct these and assign dates to them This is the province of Higher Criticism, so called to distinguish it from the lower criticism
—Gray

इनकी परीक्षा भी अत्यन्त सतर्क दृष्टि से होनी चाहिए। इनके अतिरिक्त वे प्रतियाँ जो पूर्ण सुरक्षित नहीं होती हैं और उनके आगे और अन्त के कुछ पन्ने खण्डित रहते हैं तब तो इस समस्या का सुलझाव पाठालोचक की विवेक दृष्टि पर ही पूर्णतया निर्भर करता है। उसे प्रति की लेखन सामग्री या उसकी अन्य अन्तरग परीक्षाओं द्वारा उसकी प्राचीनता का पता लगाना पड़ता है। किन्हीं-किन्हीं प्रतियों में तो प्रत्येक सर्ग या अध्याय के अन्त में पुष्पिका देने की प्रथा देखी जाती है। उनमे तो तिथि आदि की समस्या का हल निकल आता है। परन्तु जिनमें ऐसा नहीं रहता है उनमें पाठालोचक के ऊपर ही सम्पूर्ण उत्तरदायित्व होता है। इसके अतिरिक्त उसे यह भी चाहिए कि वह प्रत्येक हस्तलिखित प्रति के परिचय में इस बात का भी पूर्णतया उल्लेख करे कि वह प्रति कितनी सुरक्षित थी, किस लिपि में लिखी गई थी, कितना हस्तक्षेप उस पर परवर्ती काल में हुआ था और उसमें छंद आदि की कितनी सख्या है। यदि हो सके तो इसी परिचय म उसे यह भी उल्लेख करना चाहिए कि उसने उक्त प्रति के ऊपर कितना विश्वास किया है, उससे अपने कार्य में कितनी सहायता ली है तथा इस समय वह प्रति कहाँ पर रखी हुई है।

मुख्य सामग्री के इस प्रकार पूर्ण विवरण के उपरान्त, सहायक सामग्री का भी परिचय दे देना चाहिए, यदि उनसे सपादन कार्य में सहायता मिली हो। उस सहायक सामग्री की प्रामाणिकता, प्राचीनता आदि की आलोचनात्मक परीक्षा भी उसी प्रकार प्रस्तुत की जानी चाहिए जिस प्रकार मुख्य सामग्री की प्रस्तुत की जाती है।

**परीक्षा-विवरण**—प्रतियों के सामान्य परिचय के उपरान्त उनकी परीक्षा और शाखागत वर्गीकरण में प्रयुक्त विधियों का सोदाहरण सक्षिप्त परिचय देना अपेक्षित होता है। सर्व प्रथम उन प्रतियों की तुलना के द्वारा जो साम्य और वैषम्य के उदाहरण मिले हैं उनके कुछ उदाहरणों को प्रस्तुत करके यह बताना चाहिए कि उस प्रकार के कितने उदाहरणों के प्राप्त होने पर पाठालोचक ने उनके परस्पर प्रतिलिपि सबन्ध का निर्धारण किया है। इस प्रकार के समूह के रूप में उनके वर्गीकरण की अवस्था तक का परिचय देने के उपरान्त किन विशेषताओं के कारण उनके शाखानुसार परस्पर प्रतिलिपि सबन्ध का निर्धारण किया गया है, उसका भी विवरण देना आवश्यक होता है। इन विवरणों को समाप्त करने के उपरान्त प्रतियों के शाखागत वर्गीकरण को चार्ट द्वारा प्रस्तुत कर देना चाहिए ताकि पाठक एक ही दृष्टि में पाठालोचक के निष्कर्षों का पता चला सके।

**सिद्धान्त विवेचन**—प्रतियों के वर्गीकरण के उपरान्त वह जिन सामान्य सिद्धान्तों का निर्धारण करता है, उनका उल्लेख उसे अवश्य करना चाहिए। उनमे

यह भी उल्लेख होना चाहिए कि उसने किन-किन प्रतियों पर अपने कार्य को आधारित किया है और किन को अनावश्यक समझ कर छोड़ दिया है, साथ ही उसने किन सिद्धान्तों का निर्धारण किया है और उसने उन सिद्धान्तों का किस सीमा तक पालन किया है, कहाँ तक उसने पाठ चयन करने में सफलता प्राप्त की है और किस सीमा पर जाकर उसे पाठ सुधार करना पड़ा है ? इसका भी उल्लेख स्पष्टतया होना चाहिए कि जहाँ उसने पाठ-सुधार किया है, वहाँ पर किन लेखानुसगतियों एव विषयानुसगतियों ने उस उक्त पाठ को स्थानापन्न करने को वाध्य किया ।

**मूलरचना की भाषा तथा लिपि**—कभी-कभी ऐसा होता है कि सपाद्य रचना की प्रतियाँ एक से अधिक लिपियों में मिलती हैं । ऐसी दशा में कभी-कभी यह निश्चय करना कठिन हो जाता है कि रचना की मूल प्रति किस लिपि में रही होगी । साथ ही पाठ निर्धारण में रचना की मूल लिपि के सम्बन्ध में भ्रम हो जाने पर अनेक गलतियों की सम्भावना शेष रह जाती है । जैसा जायसी के पाठ के सम्बन्ध में डॉ माताप्रसाद गुप्त के पूर्ववर्ती सपादकों ने किया । इसी प्रकार भाषा के भी आदि रूप का ज्ञान न होने के कारण पाठ-निर्धारण में सपादकों ने बड़ी भ्रान्तियाँ की हैं । अतएव आदि प्रति की भाषा और लिपि का निर्धारण भी पाठालोचक को करना चाहिए तथा उस निर्धारण को तर्कों द्वारा सिद्ध करना चाहिए ।

**रचयिता का समय**—भाषा और लिपि के निर्धारण के साथ ही साथ कभी कभी रचयिता के समय का निर्धारण करना अनिवार्य हो जाता है । पाठ-सम्पादक का यह कर्त्तव्य होना चाहिए कि वह प्राप्त सामग्री की भाषा, लिपि तथा उसमें उल्लिखित सदर्भों द्वारा रचयिता के समय का निर्धारण करे । इस निर्धारण में भी उसे अपनी वैज्ञानिक मर्यादा का सदैव ध्यान रखना चाहिए । इस बात के लिए सतर्क रहना चाहिए कि कहीं भावुकता-वश वह किसी मत विशेष का समर्थन तो नहीं करने जा रहा है ।

**रचना तथा रचयिता का नाम**—कभी-कभी खडित प्रतियों के प्राप्त होने पर न तो रचना का और न ही रचयिता के नाम का उल्लेख मिलता है, ऐसी दशा में पाठालोचक अतरग एव बहिरग सम्भावनाओं के आधार पर इनकी शोध करता है । महरी-वाईसी का नाम उस रचना में नहीं दिया गया था और इसी प्रकार की स्थिति छिताई वार्ता की भी है । ऐसी स्थिति में पाठालोचक जो रचना या रचयिता के नामों का निर्धारण करता है, उसके सम्बन्ध में अपने तर्कों के साथ विवरण प्रस्तुत करता है कि उसने यही नाम क्यों निर्धारित किया ? सही नाम का पता जब तक नहीं लग जाता स्थानापन्न पाठ ( stop-gap ) के रूप में रचना का सभावित नाम दे देना चाहिए । महरी वाईसी तथा छिताई वार्ता ऐसे ही नाम हैं । इस प्रकार के

विस्तारपूर्ण उल्लेखों द्वारा उच्चतर आलोचना का कार्य पूर्ण होता है। उच्चतर आलोचना वास्तव में सम्पादन विधा का मूल अग नहीं है। प्रत्युत सम्पादक सम्पादन की प्रथम तीन सीढ़ियों से किस प्रकार अपने निर्धारित पाठ पर पहुँच सका, इसका विवरण इसमें दिया जाता है। हिन्दी में प्रारम्भिक तथा कथित पाठ-शोधकों ने किसी भी रचना के प्रारभ में उसकी साहित्यिक आलोचना अत्यन्त विस्तार से प्रस्तुत करने की चेष्टा की है, परन्तु अपने सपादन के आधारों एव मानदण्डों का कहीं भी उल्लेख नहीं किया है। वास्तविकता तो यह थी कि उनके आधार और मानदण्ड स्वय इतने ढीले-ढाले थे कि उनका उल्लेख करना ही व्यर्थ था। हिन्दी के प्राचीन सम्पादकों के सम्मुख एक कठिनाई यह थी कि उनके पास प्रतियों आदि के साधन स्वल्प थे, सम्पादन विज्ञान का न प्रचलन था और न ही उन स्वल्प साधनों के ऊपर उन वैज्ञानिक सिद्धान्तों का प्रयोग ही सम्भव था। अतः प्राचीन सम्पादकों को पानी पी-पीकर कोसना उचित नहीं, प्रत्युत युग की मर्यादाओं को ध्यान में रखते हुए हमें उनके द्वारा प्रस्तुत किए गए पाठों के प्रति भी नतमस्तक होना पड़ता है। लेकिन यह विज्ञान प्रयोग बढे, यह आज की अनिवार्य साहित्यिक आवश्यकता है। नई पीढ़ी की सपादन परम्परा में साहित्यिक आलोचना का स्थान उच्चतर आलोचना ने ले लिया है जिसमें सम्पादन के आधारो एव मानदण्डों का ही उल्लेख रहता है। कभी कभी तो ये मानदण्ड इतने विस्तार से प्रकट किए गए हैं कि उनके लिए स्वतन्त्र पुस्तक की अवतारणा करनी पड़ी। जैसा डॉ माताप्रसाद गुप्त ने 'रामचरितमानस का पाठ' का विवेचन एक स्वतन्त्र पुस्तक के रूप में प्रस्तुत करके किया तथा पृथ्वीराज रासो के पाठ निर्धारण की विधियों एव समाधानों को सैकड़ों पृष्ठ की भूमिका द्वारा स्पष्ट किया। इसी प्रकार का कार्य उन्होंने अपने अन्य पाठालोचनों में प्रस्तुत किया है।

ऐतिहासिक आलोचना—(Historical Criticism)

'ओल्ड टेस्टामेन्ट' के सम्पादक जी बी ग्रे आदि ने उच्चतर आलोचना के अतिरिक्त ऐतिहासिक कथानकों से सबद्ध ग्रथों के सम्बन्ध मे उनकी ऐतिहासिकता आदि पर विचार करने को 'ऐतिहासिक आलोचना' कहा है। हिन्दी के प्राचीन आख्यान काव्यों के पाठालोचक को उस ग्रथ की 'ऐतिहासिक आलोचना' प्रायः प्रस्तुत करनी पड़ती है। 'पृथ्वीराज रासउ' तथा 'बीसलदेव रास' इसके प्रमुख उदाहरण हैं।

———

भाग २

# हिन्दी के विशिष्ट सम्पादन

## अ. स्वतन्त्र संपादन

१—बिहारी-रत्नाकर

२—कवित्त-रत्नाकर

३—नन्ददास-ग्रन्थावली

४—केशव-ग्रन्थावली

५—शिवसिंह सरोज

## ब. शास्त्रीय संपादन

६—पद्मावत

७—वीसलदेव रास

८—छिताई वार्ता

९—कबीर-ग्रन्थावली

१०—मधुमालती

११—पृथ्वीराज रासउ

१२—रामचरितमानस

१

# बिहारी-रत्नाकर

हमें यह भलीभाँति ज्ञात है कि सामान्य संपादन का जो रूप मुद्रण-यंत्रों के आविष्कार से लेकर सन् १९४२ ई. तक चलता रहा, वह वैज्ञानिक संपादन या पाठालोचन से सर्वथा भिन्न था। हम हिन्दी संपादन का संक्षिप्त इतिहास प्रस्तुत करते समय उन सभी संपादनों के क्रमिक विकास की रूपरेखा देखेंगे। यह निर्विवाद है कि सामान्य संपादन के अंतिम चरण में ही वैज्ञानिक संपादन का सूत्रपात हो चुका था। मनमाने पाठचयन के संबंध में देखी जानेवाली प्राचीन संपादकों की निरंकुश वृत्ति समाप्त हो चुकी थी। प्रतियों के साक्ष्य पर संपादन होने लगा था तथा उचित प्रतीत होने वाले पाठ को प्रस्तुत करने के उपरांत पादटिप्पणियों में पाठांतर प्रस्तुत किया जाने लगा था। संपादकों के इस वर्ग को पूर्णतः वैज्ञानिक संपादक नहीं कहा जा सकता, प्रत्युत इनके संबंध में इतना ही कहा जा सकता है कि प्रामाणिकता पूर्वक हस्तलिखित प्रतियों के साक्ष्य पर पाठ प्रस्तुत किया गया। इन कार्यों को पाठालोचन की वैज्ञानिक विधि का संबल प्राप्त नहीं था। अतः वे पाठ वैज्ञानिक न हो सके। इस दृष्टि से विचार करने के लिए सर्वप्रथम हम रत्नाकर जी द्वारा प्रस्तुत 'बिहारी - सतसई' के पाठ की समीक्षा करेंगे।

रत्नाकर जी ने, सतसई के पाठ को 'बिहारी - रत्नाकर' के नाम से गंगा पुस्तक माला, लखनऊ द्वारा प्रकाशित कराया। इसके पूर्व बिहारी - सतसई के कई संपादित संस्करण प्राप्त थे। इनमें से तीन प्रमुख थे। प्रथम संस्करण रायल एशियाटिक सोसायटी के संरक्षण में डॉ. सर जार्ज ग्रियर्सन ने प्रस्तुत किया था। इसमें ग्रियर्सन महोदय ने किसी विधिविशेष का अनुगमन न करते हुए हरजू मिश्र द्वारा तैयार आज़मशाही के क्रम के आधार पर प्रस्तुत की गई लल्लूलाल जी 'लालचंद्रिका टीका' के पाठ एवं क्रम को स्वीकार किया। द्वितीय प्रमुख प्रयास पं. पद्मसिंह शर्मा का साहित्य - कुटीर दिल्ली से प्रकाश में आया। इनमें न तो बिहारी के पाठ के संबंध में कोई समस्या उठाई गई और न कोई समाधान प्रस्तुत किया गया। शर्मा जी

बिहारी के अत्यन्त प्रबल समर्थकों मे से थे। अतः सतसई को लबी भूमिका एव टीका के साथ प्रस्तुत करके बिहारी का हिंदी साहित्य में स्थान प्रतिपादन और तत्सबधी एक योग्य तुलनात्मक समीक्षा प्रस्तुत करने में ही उनका महत्व रहा, इससे इतर नहीं। तीसरा महत्व का प्रकाशन लाला भगवानदीन ने 'बिहारी - बोधिनी' के रूप में किया। यह पाठ्य - पुस्तक के रूप में बहुत दिनों तक विद्यार्थियों में समादृत रहा। इसमें भी सतसई के पाठ का कोई योग्य निराकरण न करते हुए, जैसा इस प्रकाशन के नाम से ही स्पष्ट है, टीका द्वारा बिहारी के समझे जानेवाले पाठ का 'बोध' ही मात्र कराया गया। पाठालोचन के सिद्धातों की कसौटी पर कसकर सतसई की प्राप्त हस्तलिखित प्रतियों की परीक्षा करने पर इन सभी के दोष ( पाठ - सबधी ) प्रकट हो सकते हैं। उदाहरण स्वरूप दीन जी के सस्करण के दो पाठों पर दृष्टिपात कीजिए। उक्त सस्करण के सत्तरवें दोहे का पाठ है :

'सट पटाति सी शशि मुखी, मुँख घूँघट पट ढाँकि।
पावक झर ली झमकि कै, गई झरोखे झाँकि ॥'

आगे अस्सीवें दोहे का पाठ है :

'नावक सर से लाय कै, तिलक तरुनि इक ताकि।
पावक झर सी झमकि कै, गई झरोखे झाँकि ॥'

इन दोनों दोहों के अतिम चरण एक ही हैं। बिहारी जैसे सिद्धहस्त कवि से इस प्रकार की पुनरावृत्ति की कल्पना व्यर्थ है। निश्चित ही यह भूल सतसई की प्रतिलिपि-परपरा से स्मृति - विभ्रम या पद - साम्य - दोष के कारण आई होगी। सपादक के संमुख पाठालोचन की कसौटी नहीं थी अन्यथा वह इन सामान्य पाठ - विकृतियों का अत्यत सरलता से निराकरण कर लेता। इसी प्रकार दो अन्य पाठ हैं :

१ 'यह जग काचो काच सो, मैं समुझ्यो निरधार।
प्रतिबिंबित लखिए जहाँ, एकै रूप अपार ॥'
२ 'जो अनेक पतितन दिए, मोहूँ दीजै मोष।
तो बाधौ अपने गुनन, जो बाधे ही तोष ॥'

अन्य सभी पाठों में लगभग ये सोरठे के रूप में मिलते हैं। सोरठा की दोनों पक्तियों के चरणों के क्रम में परस्पर परिवर्तन करने से वर्तमान दोहे का रूप हो गया। यह स्पष्ट ही प्रक्षेप है। चाहे यह प्रक्षेप किसी प्रतिलिपिकार द्वारा हुआ हो अथवा स्वय सपादक द्वारा। उपर्युक्त पाठों में अतिम पाठ का प्रारभिक 'जो' और 'तो' स्पष्ट प्रक्षेप घोषित करते हैं क्योंकि ये प्रयोग बिहारी जैसे सिद्धहस्त कवि के लिए अत्यत

अस्वाभाविक लगते हैं। इस प्रकार के पाठ - संबंधी दोष उपर्युक्त सभी संस्करणों में मिल जायँगे।

प विश्वनाथप्रसाद मिश्र के अनुसार रत्नाकर जी ने बिहारी की पाठ समस्या को हल करने में लगभग बीस वर्ष का समय लगाया। मैं अपने विषय की सीमा में इतना ही प्रकट करना चाहूँगा कि इतने दिनों के योग्य श्रम के बाद भी सतसई की पाठ - समस्या अधूरी ही रह गई है। इसका मूल कारण यह है कि पाठालोचन की विधि का अनुगमन नहीं हुआ, अन्यथा इससे कम ही समय में वे समस्याएँ सुलझ गई होतीं। रत्नाकर जी द्वारा प्रस्तुत पाठ में कुछ स्पष्ट समस्याएँ दृष्टिगोचर होती हैं, जो इस बात का संकेत करती हैं कि बिहारी के पाठ - शोध का पुनर्प्रयास होना चाहिए।

इसमें संदेह नहीं कि रत्नाकर जी ब्रजभाषा के पण्डित थे और ब्रजभाषा के इस सुप्रसिद्ध ग्रंथ का संपादन उन्होंने प्रतियों के साक्ष्य पर ही किया, पर कहीं कहीं निरंकुशता स्पष्ट लक्षित होती है। वैसे स्वतंत्र रीति से उन्होंने प्रक्षेपों के निराकरण का प्रयास किया और 'हाशिए के पाठ के समिश्रण' (इन्कार्पोरेशन आफ मार्जिनेलिया) आदि भूलों का निराकरण भी किया, किन्तु फिर भी समग्र रूप से पाठालोचन के सिद्धांतों का आदर्श सम्मुख न होने के कारण वे बिहारी का अभीष्ट पाठ प्राप्त करने में सफल नहीं हो सके। फिर भी उन्होंने इतनी सामग्री का संग्रह किया और उनका इतना विस्तृत अध्ययन नागरी प्रचारिणी पत्रिका में समय समय पर प्रस्तुत किया कि अब वैज्ञानिक विधि की सहायता से सतसई की पाठसमस्या को सरलता से सुलझाया जा सकता है। प्राच्यपरिषद के लखनऊ अधिवेशन में सभापति के पद से बोलते हुए डॉ धीरेन्द्रवर्मा ने कहा था कि 'बिहारी - रत्नाकर' हिन्दी में पहला वैज्ञानिक संपादन है। वैज्ञानिक शब्द का प्रयोग यहाँ सामान्य अर्थ में किया गया है। पाठालोचन की दृष्टि से विचार करने पर इस शब्द का प्रयोग यहाँ अनुपयुक्त ही प्रतीत होता है, जैसा आगे के विवरण से स्पष्ट हो जायगा। सतसई की पाठसमस्या पर आधिकारिक रूप से तो उसकी समग्र प्राप्त हस्तलिखित प्रतियों तथा अन्य सहायक सामग्रियों के अनुशीलन के उपरांत ही कुछ कहा जा सकता है। यहाँ मात्र 'बिहारी - रत्नाकर' के अंतर्गत स्पष्टरूप से लक्षित होने वाली संपादन सम्बन्धी त्रुटियों का निर्देश किया जायगा।

सामग्री—रत्नाकर जी ने सतसई के सम्पादन में जिन सामग्रियों का उपयोग किया, वे प्रायः नागरीप्रचारिणी सभा के संग्रहालय में मिल सकती हैं। उन्हें कई हस्त-

लिखित प्रतियाँ सतसई की प्राप्त थीं, जिनमें से उन्होंने प्रमुख रूप से पाँच का उल्लेख अपने 'कविवर बिहारी' नामक ग्रंथ में किया है।* वे निम्नलिखित हैं :

१ जयपुर के निजी सग्रहालय से प्राप्त प्रति जिसमें ४६३ दोहे हैं। कहा जाता है इसे स्वय बिहारी ने लिखा है। यह प्रति जयसिंह के पुत्र रामसिंह के पढ़ाने के लिए लिखी गई थी। ४६३ दोहे होने के कारण रत्नाकर जी का अनुमान है कि संभवतः बिहारी ने उस समय तक उतने ही दोहों की रचना की थी।

२ जयपुर के निजी पुस्तकालय में विद्यमान स १८०० की प्रति, जो कदाचित् बिहारी के किसी शिष्य द्वारा की गई प्रतिलिपि है।

३ विजयगढ़ वाले मानसिह की टीका के साथ लिखी हुई स :१७७२ की प्रति जो खडित है। इसकी एक पूर्ण प्रति भी जोधपुर से प्राप्त हुई।

४ प शंभुनाथ जी के हाथ की लिखी हुई स १७६६ की प्रति तथा

५ लक्ष्मीरत्न नामक लेखक के हाथ की लिखी हुई स १७६३ की प्रति।

**पाठसपादन**—प्राप्त प्रतियों का शाखागत-स्थान निर्धारण एवं वर्गीकरण न करने के कारण रत्नाकर जी को अपने सम्पादन में प्रतियों के अन्तर्गत मिलनेवाले पाठ का बहुमत ही ग्रहण करना पड़ा किन्तु पाठालोचन का विद्यार्थी भली-भाँति जानता है कि प्रतियों की गणना महत्वपूर्ण नहीं होती है प्रत्युत मूल्य ( मेरिट ) महत्व का होता है। प्रतियों के निरीक्षण द्वारा रत्नाकर जी की जो भी स्थापनाएँ रहीं वे इस बात की घोषणा करती हैं कि ऊपर की पाँचों प्रतियाँ, जो रत्नाकर जी की आधारभूत प्रतियाँ है, एक ही प्रतिलिपि परम्परा में पड़ती हैं अतः एक ही शाखा की हैं। इसका विस्तार हम क्रम-निर्धारण शीर्षक के अन्तर्गत करेंगे। यहाँ इतना ही निवेदन करना पर्याप्त होगा कि प्रतियों के शाखागत वर्गीकरण के अभाव में हम किसी भी मान्यता पर विश्वस्त नहीं हो सकते।

प्रथम प्रति के सम्बन्ध में रत्नाकर जी यह मानकर चलते हैं कि वह बिहारी कृत है और उस समय तक कदाचित् उन्होंने ४६३ दोहे ही लिखे थे। इस मान्यता को कल्पना के अतिरिक्त कुछ भी नहीं कहा जा सकता। सम्भव है, उनकी कल्पना सत्य हो पर वह उतनी ही भ्रान्त भी हो सकती है। पाठालोचन के विद्यार्थी 'मानस' की राजापुरवाली प्रति के सम्बन्ध में देख चुके हैं। जो प्रति तुलसी के हाथ की लिखी कही जाती थी, वह कितनी भ्रष्ट एव बाद की प्रति निकली। यदि यह मान भी लिया

---

* यह ग्रन्थ समय-समय पर ना. प्र प में प्रकाशित उनके लेखों का संग्रह है।

जाय कि वह बिहारी-कृत प्रति है तो स्वभावतः ही यह प्रश्न उठता है कि सम्भवतः बिहारी ने ४६३ दोहों की रचना की हो और शेष दोहे प्रतिलिपि-परम्परा से प्रक्षिप्त हो गए हों। इन प्रश्नों का कोई भी समाधान रत्नाकर जी द्वारा प्रस्तुत पाठ द्वारा नहीं होता है और पाठालोचन की विधि की अवहेलना करके उसका कोई भी समाधान प्राप्त करना सम्भव भी नहीं है।

इसी प्रकार रत्नाकर जी ने दोहों की संख्या के निर्धारण के सम्बन्ध में तथा प्रक्षेपों के निराकरण के सम्बन्ध में भी किसी सिद्धान्त को ग्रहण नहीं किया है। सहज विद्या-बुद्धि से रत्नाकर जी ने प्रक्षेपों का निराकरण कुछ स्थलों पर किया है जो उचित प्रतीत होता है। उदाहरणार्थ, प्रति नं २ में दोहा स ६८६ के पश्चात् ७२ दोहे ऐसे सगृहीत हैं जो किसी भी अन्य प्रति में नहीं मिलते। अतः यह सिद्ध होता है कि किसी भी दशा में, चाहे सभी प्रतियाँ एक शाखा की हों या विभिन्न शाखाओं की, वह पाठ अन्तरग परीक्षा के आधार पर प्रक्षिप्त है। रत्नाकर जी ने बहिरग परीक्षा द्वारा भी यह बताया कि भाषा, शैली आदि की दृष्टि से भी ये सभी छद बिहारी-कृत नहीं प्रतीत होते। इसी भाँति प्रति न ४ में कुछ दोहे बढे हैं जिनके प्रारम्भिक दो दोहे निम्नलिखित हैं :

१ 'मान छुटैगो मानिनी, पिय मुख देखि उदोत।
जैसे लागे घाम के, पाला पानी होत॥'
२ 'प्यौ बिछुरत तन थकि रह्यो, लागि चल्यो चितु गैल।
जैसे चीर चुराइ लै, चलि नहिं सकै चुरैल॥'

ये दोहे भी शेष प्रतियों में नहीं हैं, अतः प्रक्षिप्त माने जाँयगे। साथ ही रत्नाकर जी ने यह भी बताया कि ये दोहे 'अमर चद्रिका' के हैं। इन्हें किसी पाठक ने सतसई की किसी प्रति के हाशिए में तुलनार्थ लिख दिया होगा और आगामी प्रति-लिपिकार ने उसे सतसई का दोहा मानकर मूलपाठ में समाविष्ट कर लिया होगा। इस प्रकार उन्होंने इस प्रक्षेप का भी निराकरण किया। साथ ही कुछ ऐसे भी दोहे हैं जो पूर्ववर्ती चारों प्रतियों में तो विद्यमान हैं, किन्तु इस प्रति में नहीं हैं। इनके सम्बन्ध में रत्नाकर जी का अनुमान है कि एक साथ एक के स्थान पर दो पन्ने उलट जाने के कारण प्रतिलिपिकार उन दोहों को न लिख सका होगा। इस सम्बन्ध में रत्नाकर जी की मान्यता अनुमान मात्र है। क्योंकि जिन चार प्रतियों में यह पाठ मिलता हैं वे एक ही शाखा की प्रतियाँ हैं, अतः यह सम्भव हो सकता है कि यह पाठ प्रक्षिप्त हो। जो भी हो, इतना निश्चय के साथ कहा जा सकता है कि अपने सीमित साधनों द्वारा रत्नाकर जी जितनी भी सम्भव सतर्कता का निर्वाह कर सकते थे, उन्होंने

नहीं। साथ ही सटीक होने के कारण कोई प्रति अधिक मान्य स्वीकार कर ली जाय, यह तो किसी सिद्धान्त पर आधारित नहीं है। प्रति सं ३ और ५ के सम्बन्ध में स्वय रत्नाकर जी ने उन्हें एक शाखा होना स्वीकार किया है, 'इन दोनों प्रतियों के क्रमों में साम्य होना इस बात को प्रमाणित करता है कि ये दोनों किन्हीं ऐसी प्रति से लिखी गई हैं जिनकी मूल एक ही प्रति थी।' फिर इस प्रकार के साम्य का पाठालोचन की दृष्टि से क्या महत्व हुआ?

क्रमनिर्धारण के सम्बन्ध में रत्नाकर जी ने एक और विशेष बात प्रस्तुत कर दी है जो किसी भी प्रकार पाठालोचन की दृष्टि से उचित नहीं कही जा सकती। उनका स्पष्ट मत है, 'यद्यपि बिहारी-सतसई में अधिकाश दोहों का पूर्वापर क्रम वही रहने दिया गया, तथापि प्राचीन पुस्तकों के देखने से प्रतीत होता है कि उनके हृदय में इतना क्रम स्थापित करने की अभिलाषा अवश्य थी कि प्रति दश-दश या बीस-बीस दोहे के पश्चात् एक-एक भगवत् सम्बन्धी या नीति-विषयक दोहे आ जायँ।'* अतएव 'बिहारी-रत्नाकर' के पाठ में उन्होंने ऐसा कर दिया है। लेखक या कवि के मन में क्या रहा होगा इसका अनुमान करके सपादक अपनी ओर से कुछ कर दे, यह पाठालोचन की दृष्टि से उचित नहीं है क्योंकि इस प्रकार के कार्य तो पाठालोचक के लिए निषिद्ध हैं किन्तु रत्नाकर जी ऐसा करते समय सतर्क अवश्य थे और इसीलिए उन्होंने बिहारी - रत्नाकर के अन्त में मानसिंह वाली टीका का क्रम, जो अकारादि क्रम में है, प्रस्तुत कर दिया है ताकि पाठक स्पष्ट रूप से यह जान सके कि रत्नाकर जी ने उक्त प्रति के क्रम में कहाँ कहाँ पर अन्तर किया है।

**भाषारूप**—बिहारी - रत्नाकर की भाषा में व्याकरण की एकरूपता ले आने के प्रयत्न में सतसई के मूलपाठ की भाषा में जो हस्तक्षेप रत्नाकर जी ने किया है उसका समर्थन नहीं किया जा सकता है। ब्रजभाषा के प्रकाड पडित होने के नाते रत्नाकर जी ने बिहारी के भाषासबधी दोषों का परिमार्जन करने का प्रयास किया तथा एक ही शब्द या क्रिया के विविध रूपों में किए गए प्रयोगों को एकरूपता की परिधि में कसने का जो प्रयास उन्होंने किया उससे उन्होंने पाठालोचन के सिद्धांतों की अवहेलना की, साथ ही बिहारी के प्रयोग - वैविध्य एव भाषा के प्रवाह पर भी उन्होंने रोक लगा दी। पाठालोचक का यह कर्तव्य होता है कि वह लेखक द्वारा प्रस्तुत पाठ को उसी रूप में प्रस्तुत करे चाहे उसमें भाषा एव व्याकरण या छन्द सम्बन्धी दोष भले ही हों। उनमें सुधार करके वह लेखक का अभीष्ट पाठ नहीं, प्रत्युत अपना पाठ प्रस्तुत करता है।

---

* कविवर बिहारी, पृ १०१।

बिहारी - रत्नाकर की भाषा के सम्बन्ध में विचार प्रस्तुत करते समय डॉ हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है, 'उन्होंने ( रत्नाकर जी ने ) उन रूपों को खोज निकालने का प्रयास किया है जिन्हें बिहारी ने परिनिष्ठित रूप देने का प्रयास किया था। यद्यपि बिहारी ने कहीं स्पष्ट रूप से इन परिनिष्ठित रूपों के सम्बन्ध में कोई बात नहीं कही तथापि रत्नाकर जी ने इन्हें दृढ़तापूर्वक बिहारी - सम्मत मानकर पाठ - सशोधन किया है।'* प्रश्न है, रत्नाकर जी ने किस आधार पर इन्हें बिहारी - सम्मत माना है? स्पष्टतः यह मात्र अनुमान के कुछ भी नहीं है। कवि की भाषा में वैभिन्य मिलना अत्यन्त स्वाभाविक होता है। उसकी भाषा को परिनिष्ठित रूप देना भाषा की स्वच्छन्द गति को अवरुद्ध करना है। इस प्रकार मनमाने ढग का पाठ - सशोधन पाठालोचन की परिधि में प्रक्षेप माना जाता है। भाषा - विज्ञान के प्रसिद्ध विद्वान डॉ धीरेन्द्रवर्मा ने बिहारी - रत्नाकर की भाषा के सम्बन्ध में लिखा है, 'सम्पादक ने पाठों में एक रूपता ला दी, यद्यपि हस्तलिखित पोथियों में यह नहीं मिलती, उदाहरणार्थ, उन्होंने समस्त अकारान्त सज्ञाओं को उकारान्त बना दिया, यद्यपि ऐसे रूप हमें पोथियों में कहीं भी नहीं मिलते। क्योंकि कुछ व्रजभाषा परसर्गों में अनुनासिकता मिलती है इसलिये उन्होंने समानता लाने के लिए समस्त व्रज परसर्गों को अनुनासिक कर दिया। इस प्रकार हमें सर्वत्र कौं, सौं, तैं, वैं ही मिलते हैं। मूल पाठ को वनाए रखने के स्थान पर उन्होंने अपने पाठ में एक कृत्रिम समानता ला दी है जो कदाचित् सतसई के मूल पाठ में वास्तव में विद्यमान नहीं थी।'† अतः रत्नाकर जी द्वारा प्रस्तुत पाठ में किए गए श्रम, प्रामाणिकता एव योग्यता के प्रति नतमस्तक होकर मेरा निवेदन है कि इस दिशा में पुनः प्रयत्न होना चाहिए। प्रयाग विश्वविद्यालय के शोध - छात्र श्री हरिमोहन मालवीय उसके पाठ और अर्थ पर कार्य कर रहे हैं। वैसे बिहारी - सतसई के भाषावैज्ञानिक अध्ययन सम्बन्धी शोधप्रबन्ध के लिए डॉ रामप्यारी मिश्र ने बिहारी - सतसई का प्राचीन प्रतियों के आधार पर पाठ-सम्पादन किया है।

————

* कविवर बिहारी, भूमिका।

† व्रजभाषा—डॉ धीरेंद्र वर्मा।

# २

# कवित्त-रत्नाकर[1]

सेनापति के दो ग्रथों का उल्लेख मिलता है—( १ ) कवित्त - रत्नाकर ( २ ) काव्य कल्पद्रुम । कवित्त - रत्नाकर की तो बहुत सी प्रतियाँ प्राप्त हुई किन्तु काव्य कल्पद्रुम का नाम मात्र ही सुलभ है । इसके नाम के आधार पर यह अनुमान लगाया जाता है कि यह कोई लक्षण-ग्रथ की शैली का ग्रथ होगा । नागरी प्रचारिणी-सभा के हस्तलेख सं ८५६ मे, जो एक संग्रह ग्रथ है ( कदाचित् यही कालिदास कृत हजारा है ) सेनापति के ५८ छन्द सकलित हैं । इनमें से अधिकाश छन्द तो कवित्त-रत्नाकर के हैं पर पाँच छन्द ऐसे हैं जो कवित्त-रत्नाकर की किसी भी प्रति में उपलब्ध नहीं हैं ।[2] इनमें से चार तो स्पष्ट रूप से नख-शिख-वर्णन सम्बन्धी हैं, एक ब्रज पर भीषण वृष्टि और गोवर्द्धन - धारण का चित्र प्रस्तुत करता है । ये छन्द निम्न-लिखित हैं :

१ गोवर्द्धन-धारण

भारे मेघ छूटे, सातौ सिन्धुवर फूटे,
    बन उपवन टूटे पाकसासन सरोज पर ।
तरफत रत कुज सकल नसीबन सौ,
    चलति प्रचड पौन तिहूँ लोक सोर पर ।
बूँद बात बरसत 'सेनापति' हरपत,
    गोपी ग्वाल परसत, रीझि चितचोर पर ।
मुरली की घोर पर, मोर पर, सीस पर,
    छप्पन पहर गिरि राख्यौ नख कोर पर ।।

---

१ सपादक, प उमाशङ्कर शुक्ल, प्रकाशक, हिन्दी - परिषद्, प्रयाग विश्व-विद्यालय ।

२ इसकी सूचना मुझे डॉ किशोरीलाल गुप्त के एक लेख से प्राप्त हुई ।

२ कर-वर्णन

ईंगुर अगिनि जरै, कज अरुनाई धरै
गिरि गिरि परत बँधूक समताई कौ।
'सेनापति' विद्रुम कटावै औ घसावै आप
सान पर चढ़ तप करत ललाई कौ।
देखि देखि लाली उर दाड़िम दरार खाइ
तबहू न पावै तेरी एक ही कलाई कौ।
ऐसे तेरे कर कहौ काहि पटतर दीजै,
जथा वीज किसलय पावैं मलिनाई कौ॥

३ भुजा-वर्णन

काम नवला सी किधौं वरुन की पासी यह,
कैधौं प्रेम दंड जामें कोटिक विलास है।
कैधौ है मृनाल इह, जाकी अदभुत गति,
जामैं परि विधि भ्रम्यौ अनगन मास है।
कैधौं काम बाग की कलपलता सोभियति,
कैधौं सोभियत यह प्यारी भुजपास है।
सुन्दर सुहावनी है, चित की चुरावनी है,
नैन सियरावनी है सुख की निवास है॥

४. कटाक्ष-वर्णन

आलस वलित, अनुरागे, प्रेमरस पागे,
निकसत, सकुचत क्रीड़ा सी करत हैं।
भाउ से भँवत, कबहूँक अनिमिष होत
अलस, सलज, नैन चित्त कौं हरत हैं।
मृग की बड़ाई वारौं, मीन चपलाई वारौ
खजन से फरकि चहूँधा कैं ढरत हैं।
'सेनापति' सोई बड़भागी पुन्यवत जोई,
कज से कटाक्ष जित ओर को परत हैं॥

५ उरोज-वर्णन

काम चौगान की हाल मनौं, कर कदुक कै, किधौं नाह खिलौना।
कचन के घट, श्री फल कै, किधौ सभु के विंव लसे जुग वौना॥

प्रीतम के मन की मटुकी कि, किधौं गन कुम, कि चक्र के छौना ।
कै उलटे कै नगारे धरे, किधौं कज कली, कि लसैं जुग टोना ।।

इन पाच छंदों के अतिरिक्त सेनापति का एक ही ग्रथ 'कवित्त रत्नाकर' उपलब्ध है । कई हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर प्रयाग विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग के प्राध्यापक श्री उमाशकर शुक्ल ने इस ग्रथ को सम्पादित किया है । बाबू जगन्नाथदास रत्नाकर द्वारा सम्पादित 'बिहारी-रत्नाकर' के बाद यह दूसरा प्रमुख सम्पादन है जो हिन्दी के प्राचीन सम्पादनों से पृथक एक क्रान्तिकारी परिवतन प्रस्तुत करता है । प्रतियों की तुलनात्मक परीक्षा द्वारा रचयिता के मूलपाठ तक पहुँचने का प्रयास अत्यन्त प्रामाणिकता के साथ इस ग्रथ में किया गया है । पाठ सदैव ही प्रतियों के साक्ष्य पर प्रस्तुत किए गए हैं, जहाँ कहीं भी अपनी ओर से कोई सुझाव प्रस्तुत किया गया है, उसका उल्लेख पाद-टिप्पणियों में कर दिया गया है । इस पाठ की दूसरी प्रमुख विशेषता यह है कि स्वीकृत पाठ के साथ सभी उपलब्ध प्रतियों के पाठान्तर टिप्पणी में दे दिए गए हैं, जिनकी सहायता से इस ग्रथ के पाठ पर मुझे विचार करते समय इतनी सुविधा हुई जैसे सभी हस्तलिखित प्रतियाँ ही मेरे सम्मुख उपलब्ध हैं । इस पाठ की तीसरी विशेषता यह है कि विद्वान सम्पादक ने पाठ चयन में अर्थ का पूरा-पूरा ध्यान रखा है । सेनापति जैसे अर्थ-गाभीर्य सम्पन्न कवि की रचना का सम्पादन कभी भी बिना अर्थ-परम्परा को समझे योग्य रीति से सम्भव नहीं था ।

पाठ की इन विशेषताओं के साथ ही 'कवित्त-रत्नाकर' के सम्पादन मे शुक्ल जी के निष्कर्ष प्रायः पाठ-सपादन के स्वीकृत सिद्धान्तों के अनुकूल ही रहे हैं । बहुत थोड़े से स्थल ऐसे हैं जहाँ पर उनके निष्कर्ष और उनकी मान्यताएँ सम्पादन के वैज्ञानिक सिद्धान्तों के प्रतिकूल हैं । सब मिला कर इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि ग्रथ के सम्पादन में शुक्ल जी को जो अद्भुत सफलता हुई, वह अब तक के किसी अन्य सम्पादक को नहीं प्राप्त हुई थी । स्वयं आपका ही एक वर्ष पूर्व किया गया नन्ददास, भाग १, २ का सम्पादन इसकी तुलना में टिकने की सामर्थ्य नहीं रखता ।

सम्पादन-सामग्री—इस ग्रथ का सम्पादन पूर्णतः हस्तलिखित प्रतियों के साक्ष्य पर हुआ । जो प्रतियाँ उपलब्ध थीं, उनका सम्पादकीय विवरण सक्षेप में इस प्रकार है :

(१) क यह प्रति प्रयाग विश्वविद्यालय के अंग्रेजी विभाग के तत्कालीन प्राध्यापक प. शिवाधार पाण्डे से प्राप्त हुई । 'कवित्त रत्नाकर' के सपादन में इस प्रति से विशेष सहायता मिली ।

(२) ख : यह प्रति भरतपुर के पुस्तकालय में प्राप्य है। इसमें लिपिकाल नहीं दिया हुआ है। इस प्रति में एकारान्त शब्दों का बाहुल्य है, यद्यपि ऐकारान्त और औकारान्त रूप भी यत्र तत्र पाए जाते हैं। इसमें सर्वत्र 'ख' को 'ष' लिखा है। इसके श्लेष-वर्णन में ६५ कवित्त हैं।

(३) ग : भरतपुर के पुस्तकालय में प्राप्य है। वहाँ इसका न २३३ है। जिस पोथी से प शिवाधार पाण्डे ने 'क' प्रति को नकल किया था, उसके विवरण में तथा इस प्रति की अनेक बातों में बहुत साम्य है। किन्तु 'ग' और 'क' के पाठों में अनेक स्थलों पर अन्तर मिला। उदाहरण स्वरूप 'क' की पहली तरग में ६६ कवित्त पाए जाते हैं किन्तु 'ग' में केवल ६४ ही हैं। इन प्रतियों के मिलान करने का अधिक अवसर सम्पादक को नहीं मिला।

(४) घ : भरतपुर के पुस्तकालय में प्राप्य न ५२ है। कदाचित् स १८८० की लिखी प्रति है। इसमें चौथी और पाँचवीं तरग नहीं हैं।

(५) न : यह प्रति श्रावण सुदी १४ बुधवार, सं १८१८ में किसी 'प्राण जीवन-भावाड़ी' द्वारा लिखी गई है। भरतपुर के पुस्तकालय में इसका नं २११ क है। पहली तरग में ७० छद हैं। पाँचवीं तरग में ३३ वें कवित्त के आगे आलम कृत नायक-नायिका भेद लिखा हुआ है। यद्यपि ग्रथ के अन्त में सुर्खी से लिखा है : 'इति श्री सेनापति विरचिते कवित्तरत्नाकरे पचमस्तरग सपूर्ण ।'

अर्थ की दृष्टि से इस प्रतिके पाठ विशेष शुद्ध हैं। कवित्त-रत्नाकर के सम्पादन में 'क' प्रति के अतिरिक्त इससे भी विशेष सहायता मिली है।

(६) छ : स. १८३२ की प्रति है। चौथी, पाँचवीं तरगें नहीं हैं। पहली तरग में ६६, दूसरी में ७४ तथा तीसरी में ६१ छद हैं।

(७) त : पहली में ५५ और दूसरी में ५ छद हैं। शेष तरगें नहीं हैं।

(८) (६) (१०) च, ज तथा ट : ये वास्तव में पूर्ण प्रतियाँ नहीं हैं। भरतपुर के पुस्तकालय में कुछ सग्रह ग्रथ हैं उन्हीं में इनके छदों के रूप मिलते हैं।

(११) अ. यह प्रति प कृष्णविहारी मिश्र के यहाँ मिली। यह सं १६४१ में किसी प्रति से प्रतिलिपि की गई है। इसमें पाठ-शोध भी हुई है तथा ऐसे कुछ छद मिलते हैं जो अन्य प्रतियों में नहीं मिलते हैं जिसके कारण सम्पादक ने उन्हें 'परिशिष्ट' में स्थान दिया है।

**प्रतियों का सापेक्षिक महत्व**—इस ग्रथके सम्पादन में विशेषतः क, ग तथा न प्रतियों की सहायता ली गई है। पर इन प्रतियों के पाठों के महत्व पर जो विवरण विद्वान सम्पादक ने प्रस्तुत किया है, वह किसी वैज्ञानिक सिद्धान्त पर आधारित नहीं है। जहाँ तक क प्रति का सम्बन्ध है वह प्रो. शिवाधार पाण्डे की प्रतिलिपि है जिसे उन्होंने भरतपुर के पुस्तकालय की किसी प्रति के आधार पर तैयार किया था, ऐसा सम्पादक का मत है। यदि क प्रति किसी एक प्रति की प्रतिलिपि है तो वह प्रति ग नहीं हो सकती, प्रत्युत ग की कोई अन्य प्रतिलिपि रही होगी, क्योंकि जहाँ ग प्रति की पहली तरग मे केवल ६४ छद हैं क की पहली तरग में ६६ छद हैं। इस महत्वपूर्ण अन्तर के होते हुए भी सपादक महोदय का मत है कि 'जिस पोथी से प शिवाधार ने 'क' प्रति को नकल किया था, उसके विवरण में तथा इस प्रति (ग) के विवरण में बहुत साम्य है। इन बातों के देखने से अनुमान होता है कि 'ग' प्रति वही है जिसकी प शिवाधार पाण्डे ने प्रतिलिपि की थी।'[1] आप आगे लिखते हैं कि 'खेद है कि इन दोनों प्रतियों के पाठों को मिलान करने का अधिक अवसर न प्राप्त हो सका। इससे निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि 'क' तथा 'ग' प्रतियाँ वास्तव में एक है अथवा भिन्न।' इस कथन से यह स्पष्ट होता है कि 'ग' प्रति का उपयोग इस सम्पादन मे प्रायः कम ही हुआ होगा।

सम्पादक के इस विवरण के अतिरिक्त 'क' प्रति के सम्बन्ध में डॉ वीरेन्द्र वर्मा ने इसी ग्रथ के वक्तव्य मे लिखा है कि 'भरतपुर आदि कई स्थानों से घूम कर कई हस्तलिखित पोथियों से तुलना करके तैयार की हुई 'कवित्त-रत्नाकर' की एक पोथी प्रयाग विश्वविद्यालय के अग्रेजी विभाग के प्राध्यापक प० शिवाधार पाण्डे जी के पास है।' इस वक्तव्य से स्पष्ट होता है कि पाण्डे जी की प्रति किसी एक प्रति की प्रतिलिपि नहीं है, प्रत्युत यह कई प्रतियों के आधार पर तैयार हुई है। इस प्रकार वह एक 'शुद्धपाठ' की प्रति होने की अपेक्षा एक 'मिश्रपाठ' की प्रति है जिसमें कई प्रतियों के पाठों का मिश्रण प्राप्त होता है। यह अवश्य सम्भव है कि इस मिश्र पाठ की प्रति का मूल आधार 'ग' प्रति ही रही हो। यही कारण है कि पहली तरग के ६४ छद 'ग' प्रति से लेने के उपरान्त जब अन्य प्रतियों मे दो छद और मिले तो पाण्डे जी ने इन्हें भी अपनी प्रति मे सम्मिलित कर लिया। इस प्रकार वैज्ञानिक पाठ-शोध की दृष्टि से 'क' प्रति की पाठ सरलता एव प्रामाणिकता पर बहुत विश्वास नहीं व्यक्त किया जा सकता।

---

[1] कवित्त रत्नाकर, भूमिका, पृ ५१।

'ग' प्रति की महत्ता को तो सम्पादक ने स्वीकार किया है और वह वास्तव में 'क' से पूर्वपाठ की प्रति होने के कारण महत्वपूर्ण है भी। पर उसका उपयोग किस सीमा तक इस सम्पादन में हुआ है, यह निश्चयात्मक ढङ्ग से नहीं कहा जा सकता है।

इस सम्पादन मे प्रयुक्त तीसरी महत्वपूर्ण प्रति 'न' मानी गई है। अर्थ की दृष्टि से इस प्रति के पाठ विशेष शुद्ध हैं। 'न' प्रति 'कवित्त रत्नाकर' के रचनाकाल के ११२ वर्ष बाद की लिखी हुई है। इसका लिपिकाल सं १८१८ है। अतएव 'क' तथा 'ग' के साथ साथ इसके पाठों को अधिक प्रामाणिक माना गया है।' 'न' पर्याप्त प्राचीन भी है, साथ ही इसमें पहली तरङ्ग में केवल ७० छन्द और पाँचवी तरङ्ग में केवल ३२ छन्द हैं जब कि अन्य प्रतियों में ६४, ६५, ६६ छन्द हैं। इस प्रकार लघुतर पाठ की प्रति होने के नाते भी इस प्रति की ओर ध्यान अवश्य आकृष्ट होता है। पर इस प्रति के पाठों को ध्यान पूर्वक अध्ययन करने पर यह विदित होता है कि इस प्रति में पाठ सशोधन की पर्याप्त प्रवृत्ति दीख पड़ती है। मूल पाठों को सरलतर पाठों से स्थानापन्न करने की एक प्रवृत्ति इस प्रति में देखी जाती है। इसके कुछ उदाहरण लेना प्रसङ्गानुकूल ही होगा।

(१) स्वीकृत पाठ है :

'पासे की निकाई सेनापति ना कही बनति,
सोर है नरद करि रदन सुधारी है।' ३२। १२ पहली तरङ्ग।

द्वितीय चरण के स्थान पर 'न' प्रति का पाठान्तर है :

'सोर हे रदन करि बदन सुधारी है।'

इस श्लिष्टचरण का अर्थ सम्पादक ने परिशिष्ट में दिया है—(१) स्त्री के अर्थ में, सो नरद (ध्वनि या मधुर ध्वनि) करि रहै। (२) चौपड़ के अर्थ में, सोरह हाथी दाँत के बने नरद (गोंट) है। इस अर्थ को न समझने के कारण 'न' प्रति में एक सरल पाठ स्थानापन्न कर दिया गया। यह पाठान्तर अन्य किसी प्रति में नहीं मिलता।

(२) स्वीकृत पाठ है :

'दीरघ, ढरारे, अनियारे, कजरारे, प्यारे,
लोचन ये तेरे मद-मोचन कुरङ्ग के।' १२। ७८ दूसरी तरङ्ग।

द्वितीय चरण मे 'न' प्रति में 'मद-मोचन' को 'मदमोचत' करके सरलतर किया गया है।

( ३ ) स्वीकृत पाठ है :

'ताहो कों सुहाग, सबही तैं बड़ भग्ग जासौं
करि अनुराग रसरीति सौं ढरत हौं।' २४। ३-४ दूसरी तरङ्ग।

द्वितीय-चरण में 'न' प्रति का पाठान्तर है :

'एते अनुराग मन भावन करत हौ।'

इसी प्रकार 'न' प्रति में पाठों की विशेष उपयुक्तता लाने के भी प्रयास में पाठ-सशोधन हुए हैं ऐसा प्रतीत होता है। भले ही यह कार्य करते समय प्रतिलिपिकार अपने उद्देश्य में सफल न हुआ हो। जैसे :

( १ ) स्वीकृत पाठ है :

'सदा अपमान, सनमान, सब सेनापति
मानत समान अभिमान तैं विरति है।' २७। ३-४ दूसरी तरङ्ग।

प्रथम चरण का पाठान्तर 'न' प्रति में है :

'सदा सनमान अपमान हूँ को सेनापति।'

( २ ) स्वीकृत पाठ है :

'छिति न गरद, मानो रँगे हैं हरद सालि
सोहत जरद, को मिलावै हरि पीव को।' ३७। ५-६ तीसरी तरग।

'न' प्रति का पाठान्तर है :

'रगे के हरद सालि सोहत जरद कहूँ
रही न गरद को मिलावै प्राणपीय कौ॥'

इस प्रकार के एक दो नहीं, पचीसों उदाहरण मिलेंगे जिनसे यह प्रकट होता है कि 'न' प्रति में उपयुक्त अर्थ बैठाने के लिए पर्याप्त पाठ-सशोधन हुआ है। सरलतर पाठ की स्वीकृति का तो प्रश्न नहीं उठता, पर यदि विशेष सार्थक पाठों की प्राप्ति किसी प्रति की उपयोगिता का आधार बन सकती है, तो उन पाठों का ग्रहण भी होना चाहिए। पर सौभाग्य से इस ग्रथ के सम्पादक ने ऐसा नहीं किया है। कदाचित् इसका कारण यही रहा होगा कि वे पाठ केवल 'न' प्रति में थे अन्य प्रतियों में प्राप्त पाठ उसस भिन्न और परस्पर एक समान थे। इस प्रकार इस ग्रथ के सपादन में 'न' प्रति का महत्व पाठ के परिमाण ( छन्द-सख्या आदि ) की दृष्टि से तो महत्वपूर्ण है पर मूल पाठ की सरत्ता की दृष्टि से नहीं।

इन प्रतियों के अलावा 'ख' प्रति भी एक प्राचीन प्रति प्रतीत होती है। इसमें सर्वत्र 'उ' के लिए 'प' का प्रयोग हुआ है। प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों में 'ख' का प्रयोग नहीं मिलता है, प्रत्युत 'प' का ही प्रयोग मिलता है। इस प्रकार इस प्रति में

भी प्राचीन पाठ सुरक्षित होने की कल्पना की जा सकती है। इस प्रति के अध्ययन द्वारा सम्भव है, यह मत और दृढ़ हो। किन्हीं-किन्हीं स्थलों पर 'ख' प्रति का पाठ अन्य प्रतियों के पाठों से सगत और पुराना प्रतीत होता है। जैसे, 'सिसिर तुषार के बुखार से उखारत हैं।' इसमें बुखार के स्थान पर 'ख' प्रति मे बखार पाठ आया है। बुखार शब्द ताप के अर्थ में प्रयुक्त होता है। अतः सिसिर तुषार के बुखार में शीतलता और उष्णता का एक विरोधाभास है। बखार शब्द था, तो बयार का भूल से बषार बन गया होगा या यह बयार का पूर्वरूप रहा हो : बखार > वषार > वयार। अर्थ की दृष्टि से भी यह विशेष सगत है, 'सिसिर तुषार की वयार से उखारत।' उखाड़ने का काम वयार ही करती है, बुखार नहीं।

## प्रतियों का परस्पर प्रतिलिपि सम्बन्ध

वैज्ञानिक पाठ-शोध की दृष्टि से प्रतियों के परस्पर प्रतिलिपि सम्बन्ध का निर्धारण करना और इनके आधार पर उनके शाखा-विभाजन द्वारा प्रतिलिपि-परम्परा में उनका स्थान निर्धारित करना आवश्यक होता है, अन्यथा पाठ सम्बन्धी मान्यताएँ निरापद नहीं हो सकतीं। बिना इसके प्रतियों का बहुमत ग्रहण करना भी उपयोगी नहीं हुआ करता। 'कवित्त रत्नाकर' के इस सम्पादन मे प्रस्तुत पाठान्तरों के अध्ययन द्वारा यह प्रकट होता है कि इसमें प्रयुक्त सभी प्रतियाँ परस्पर प्रतिलिपि सम्बन्धों से युक्त हैं। इस सम्बन्ध में कुछ निश्चेष्ट विकृतियों का उदाहरण लेना पर्याप्त होगा :

( १ ) स्वीकृत पाठ है,

'देखि धधकत दल देव जातुधान कौं।' ५८। ६ चौथी तरङ्ग।

भ्रमपूर्ण विश्लेषण के कारण क, ख, ग और ट प्रतियों में 'देव जातुधान' के स्थान पर 'देवता जुधान' पाठ हो गया।

( २ ) स्वीकृत पाठ है,

'सुग अनुकूल भरे, फूल बरसत फूलि।' ६६। १ चौथी तरङ्ग।

भूल से अन्तिम 'फूलि' की इ की मात्रा छूट गई और 'फूलि' के स्थान पर 'फूल' पाठ रह गया। यही पाठ क, ख, ग और ञ प्रतियों में प्राप्त होता है।

( ३ ) स्वीकृत पाठ है,

'होति जै जे कृक जगाजोति परसति है।' ६७। ८ चौथी तरग।

किसी प्रति मे 'जै जे' के स्थान पर 'जैसे' लिख दिया गया। यही पाठ क, ख, ग तीनों प्रतियो म ग्रहण किया गया है।

( ४ ) स्वीकृत पाठ है,

'उच्च कुच कुभ मनु, चाचरि मचाई है।'. ६० । ४ तीसरी तरंग।

क, ग, घ, ञ, न प्रतियों में 'मनु' के स्थान पर 'चमू' पाठान्तर है।

( ५ ) स्वीकृत पाठ है,

'और की कहा है, सविता हू सीत रितु जानि।' ४८ । ७ तीसरी तरग।

क, ख, ग, घ, छ प्रतियो मे 'कहा है' के स्थान पर 'कहा ही' पाठान्तर है।

( ६ ) स्वीकृत पाठ है,

'सिसिर तुषार के बुखार से उखारत है।' ५१ । १ तीसरी तरग।

क, घ, छ, न प्रतियों में 'उखारतु' पाठ है। स्पष्ट ही 'उपारत' को 'उखारत' पढ़ लेने के कारण किसी प्रति मे यह निश्चेष्ट भूल हुई होगी और प्रतिलिपि परम्परा से अन्य प्रतियों में आगई।

( ७ ) स्वीकृत पाठ है,

'भोग ही के यौस निसि विरह अधीन के।' ४७ । २ तीसरी तरग।

ख, घ, ग, छ प्रतियों मे 'अधीन' के स्थान पर 'अपीन' पाठ है। 'ध' के हस्तलेख को 'प' पढ़ लेने के कारण यह भूल हुई।

( ८ ) स्वीकृत पाठ है,

'बैठिबे को सभा जहाँ सूरज को धाम है।' ४३ । ४ तीसरी तरग।

ध और घ वर्णों के लिपिसाम्य के कारण क, ग, छ मे 'धामु' पाठ मिलता है। इस प्रकार की अनेक पाठ-विकृतियों के साम्य इस ग्रन्थ की प्रतिलिपियों में परस्पर मिलते हैं। इसके कारण इनका बहुमत ग्रहण करना कभी भी उचित नहीं हो सकता था। कदाचित् इसीलिए सम्पादक ने मूल पाठ की शोध मे प्रतियों के बहुमत को नहीं ग्रहण किया है। पर इतनी बहुलता से प्रतिलिपि सबंध प्राप्त होने पर किसी या किन्हीं विशेष प्रतियों के पाठ को प्रामाणिक कह सकना तब तक बहुत कठिन है जब तक उनके परस्पर सबधों को शाखानुसार वर्गीकृत न कर लिया जाय। इस प्रकार के वर्गीकरण मे जो प्रतियाँ उच्चस्तर की होंगी उन पर निम्नस्तर की प्रतियों से अधिक विश्वास किया जा सकता है। शाखागत सबन्ध निर्धारण के पूर्व किसी प्रति को अन्य प्रतियों से अधिक प्रामाणिक मान लेना कल्पना के अतिरिक्त कुछ भी नहीं जा सकता है।

**सम्पादन सिद्धान्त**—इस सपादन की भूमिका में सपादक ने लिखा है—'प्रायः प्रत्येक लिपिकार प्रतिलिपि करते समय देश-काल तथा अपनी परिस्थिति विशेष के अनुसार अपनी भाषा का प्रभाव भी उस ग्रन्थ पर छोड़ देता है। सैकड़ों वर्षों त क यही क्रम चलते रहने से मूलग्रथ का वास्तविक स्वरूप अन्तर्हित हो जाता है

प्रभावों को हटा कर कवि की रचना के मूल-रूप के निकटतम पहुँचना ही किसी ग्रथ के सपादक का कर्तव्य है।'[1] सपादक के इस उद्देश्य के सबध में दो मत नहीं हो सकते हैं। पर इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए इस ग्रथ के सपादक ने जिन सिद्धान्तों का अनुगमन किया है उनकी समीचीनता अवश्य विवादग्रस्त है। इस ग्रथ के सपादन मे पहला सिद्धान्त यह माना गया है कि 'जो प्रति जितनी ही प्राचीन होगी उसका महत्व उतना ही बढ़ जायगा।' इसी सिद्धान्त के अनुरूप सपादक ने **क, ग** एव **न** प्रतियों को अपने सपादन का आधार बनाया है। पाठालोचन के विद्यार्थी यह भली-भाँति जानते हैं कि प्रतियों की प्राचीनता से भी महत्वपूर्ण उनका पाठ परम्परा में ऊपर के स्तर में पाया जाना होता है और इसका निर्णय, बिना उनके परस्पर सबध-निर्धारण के, नहीं किया जा सकता है। इस प्रकार एक तो यह सिद्धान्त दोषपूर्ण है, दूसरे ( कदाचित् इसी दोष के कारण ) इसका पालन भी सम्पादन में नहीं हुआ है। उदाहरणार्थ :

(१) स्वीकृत-पाठ है,

'अम्बर लसति **भुगवति** सुख रासिन कौं।' ३१। ७ पहली तरग।

**क, ख, ग** और **न** प्रतियों में 'भुगवति' का पाठान्तर '**भुगतति**' है। स्पष्ट ही भुगवति में 'व' को त समझ लेने के कारण दृष्टिभ्रम से यह दोष किसी प्रति में उत्पन्न हुआ होगा और प्रतिलिपि परपरा में इन चारों में पहुँच गया। इस दशा में सपादक ने किसी अन्य शाखा का पाठ **भुगवति** ग्रहण किया। पर उसके सिद्धान्तानुसार यदि **क, ग** और **न** ही प्रामाणिक हैं तो इन तीनों में एकसा मिलने वाला पाठ ही ग्रहण होता।

(२) इसी प्रकार स्वीकृत पाठ है,

'रीझि देत हाथी कौं सहज बाजी देत हैं।' ४३/८ पहली तरग।

**क, ग** और **न** में देत के स्थान पर **दैंत** पाठान्तर है।

(३) स्वीकृत पाठ है,

'सेनापति ऐसे राजा राम को बिसारी **जौ पै**।' ६/७ पाँचवीं तरग।

**क, ख, ग** और **न** प्रतियों में **जौ पै** के स्थान पर **जा कौ** पाठान्तर है।

इस प्रकार के अनेक स्थल मिलेंगे जहाँ इन तीनों प्रामाणिक मानी गई प्रतियों का पाठ स्वीकृत नहीं हुआ है।

सपादक महोदय की दूसरी मान्यता शब्दों के रूप निर्धारण के सबध मे है

---

[1] कवित्त-रत्नाकर, भूमिका, पृ० ५७।

कि "व्रजभाषा की अन्य हस्तलिखित प्रतियों के समान 'कवित्त-रत्नाकर' की विभिन्न प्रतियों में भी एक ही शब्द कई रूपों में लिखा हुआ पाया जाता है। जहाँ एक स्थल पर शब्दों के एकारान्त और ओकारान्त रूप लिखे हुए हैं, वहीं दूसरी जगह उन्हीं शब्दों के ऐकारान्त और औकारान्त रूप मिलते हैं, जैसे परसर्ग 'ते' तथा 'को' कहीं तो 'ते' तथा 'को' लिखे हुए हैं और कहीं 'तै' तथा 'कौ' के रूप में हैं। सानुनासिक तथा निरनुनासिक रूपों की दृष्टि से ऐसे शब्दों के चार रूप हैं—'ते', 'तें', 'तै', 'तैं' तथा 'को', 'कों', 'कौ', 'कौं'। 'ए-ओ के स्थान पर विशेष अर्द्ध विवृत उच्चारण ऍ-ऑ मथुरा, आगरा, धौलपुर के प्रदेशों में तथा एटा और बुलन्दशहर के कुछ भागों में विशेष रूप से प्रचलित हैं। इन ध्वनियों के लिए पृथक वर्णों के अभाव के कारण इन्हें प्रायः ऐ-औ लिख दिया जाता है।' (धीरेन्द्र वर्मा—'व्रजभाषा व्याकरण')। इस विचार से प्रायः ऐकारान्त और औकारान्त रूप ही सेनापति द्वारा लिखित माने गये हैं और तदनुसार उन्हीं को मूल पाठ में दिया गया है।"[1]

इस मान्यता के सम्बन्ध में दो आपत्तियाँ हैं। प्रथम तो यह कि प्रारम्भ में स्वयं सम्पादक महोदय कवि के जन्म-स्थान के सम्बन्ध में लिखते हैं कि "फिर भी 'अनूप' से कवि का अभिप्राय 'अनूप शहर' से ही था यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है" और पाठ निर्णय करते समय उसे निश्चित रूप से कवि का जन्मस्थान मानकर उसकी भाषा की प्रकृति के लिए प्रमाण एकत्र करते हैं। दूसरी आपत्ति यह है कि किसी भी कवि की भाषा में एक ही शब्द के विविध रूपों का मिलना बहुत आश्चर्य-जनक नहीं है कि उसे परिनिष्ठित रूप देने का प्रयत्न किया जाय। इसी प्रकार का प्रयत्न बाबू जगन्नाथदास ने 'बिहारी-रत्नाकर' के सम्पादन में किया था जिसकी आलोचना डॉ॰ धीरेन्द्र वर्मा ने की थी। डॉ॰ वर्मा के मत को स्वयं सम्पादक ने आगे उद्धृत किया है कि 'किन्हीं विशेष रूपों को विशुद्ध व्रज मानकर समस्त लेखकों की कृतियों में एक-रूपता ला देना सम्पादन करना नहीं बल्कि ग्रन्थों को अपने मतानुसार शोध देना है। ग्रन्थ के सम्पादक का उद्देश्य लेखक के मूल रूप को सुरक्षित करना है न कि उसकी भाषा को किसी कसौटी के अनुसार परिवर्तित कर देना।'[2] इस ग्रन्थ के सम्पादक की उपर्युक्त मान्यता डॉ॰ वर्मा के इस मत के अनुकूल नहीं और वास्तविकता तो यह है कि अर्द्ध-विवृत रूपों की कसौटी पर कसकर प्रतियों में प्राप्त रूपों को परिवर्तित कर दिया गया है। इसी प्रकार भाषा के रूपों के सम्बन्ध में किए गए अन्य निर्णय भी किसी वैज्ञानिक सिद्धान्त पर आधारित नहीं हैं।

---

[1] कवित्त-रत्नाकर, भूमिका, पृ० ५८।

[2] व्रजभाषा व्याकरण—धीरेन्द्र वर्मा

**परिणाम :**

इस ग्रन्थ के सम्पादन के परिणामों की समीक्षा करते हुए यह कहा जा सकता है कि इसमें पाठ-सम्पादन न होकर उपयुक्त प्रतीत होने वाले पाठों का चयन मात्र किया गया है। पाठ की उपयुक्तता और सर्वाधिक अर्थ की सगति ही इसमें पाठ निराकरण के सिद्धान्त हैं। इसके कारण पाठों में किस अश तक प्रक्षिप्त पाठ हैं तथा कौन से छन्द ऐसे हैं जो कविकृत नहीं हैं, इसका निराकरण न इस विधि से सभव था और न हो ही सका। केवल एक प्रति में कुछ ऐसे छन्द थे जो किसी भी प्रति में नहीं मिलते थे। अत. उन्हें मूलपाठ में स्थान न देकर परिशिष्ट में स्थान दे दिया गया है। शेष छन्द जो किसी भी प्रतियों में मिले हैं मूलपाठ में स्वीकार किए गए हैं। जैसा स्पष्ट किया जा चुका है कि ये प्रतियाँ परस्पर प्रतिलिपि सम्बन्ध से युक्त हैं, अत इनकी समानता के आधार पर मूलपाठ का तथा इनमें से किसी एक में प्राप्त होने के कारण किसी पाठ को परिशिष्ट मे स्थान देना वैज्ञानिक दृष्टि से बहुत समीचीन नहीं कहा जा सकता है।

जहाँ तक चयन का प्रश्न है, उपलब्ध पाठों में सर्वश्रेष्ठ पाठ के चयन का प्रयास सफलता पूवक हुआ है। अर्थ की गहराइयों में डूबकर पाठों का निर्धारण जिस ढङ्ग से हुआ है वह निश्चय ही अत्यन्त पाण्डित्य एव परिश्रम का कार्य है। कवित्त-रत्नाकर के सम्पादन के समय तक हिन्दी के प्राचीन ग्रन्थो के सम्पादन के जितने प्रयास हुए थे कोई भी पाठालोचन की वैज्ञानिक विधि से नहीं हुए। इन सम्पादनों में कवित्त रत्नाकर का बडा ही महत्वपूर्ण स्थान है। उपयुक्त पाठ के चयन मे जो सफलता इस ग्रन्थ के सम्पादक को प्राप्त हुई है वह 'बिहारी-रत्नाकर' के सम्पादक बा० जगन्नाथदास रत्नाकर को छोड़कर अब तक के किसी पूर्ववर्ती सम्पादक को नहीं प्राप्त हुई थी।

इस सम्पादन की सबसे बडी विशेषता सम्पादक की प्रामाणिकता है। पाठान्तरों का पूर्णतः उल्लेख, स्टाप गेप ( अस्थाई पाठ ) प्रस्तुत करते समय टिप्पणियों में उनका उल्लेख और 'बिना किसी प्रमाण के ग्रन्थ के किसी शब्द को अपनी ओर से परिवर्तित कर देने का दुःसाहस नहीं' करना आदि गुण इसे पूर्ववर्ती सम्पादनों से पृथक कोटि में लाते हैं। गति तथा यति के दोषों, भग्न या छूटे हुए पाठों आदि के सम्बन्ध में सम्पादक के सुझाव प्राय· युक्तिपूर्ण हैं। पर दो एक स्थलों पर अन्य विकल्प अधिक उपयुक्त प्रतीत होते हैं। यथा,

(१) पाँचवीं तरङ्ग का ५८वा छन्द है :

'पतित उधारे हरिपद पाँउ धारे, देव-
नदी नाउँ धारे, कौन तीनि-पथ धावई।

ईस सीस लसै, [कौन] विधि के कमडल मैं,
काकौं भगीरथ नृप तप तन तावई ।।
सब सरितान कौं बिसारि करि आप हरि,
अपनी विभूतिन में कौन को गनावई ।
एते गुन गन सेनापति कौंन तीरथ में,
तातैं सुरसरि जू की पदवी कौं पावई ।।'

तृतीय चरण मे कोष्टकबद्ध कौन के स्थान पर एक शब्द भूल से छूट गया है । यह भूल सभी प्रतियों में दुहराई गई है । अतः एक ओर तो सभी प्रतियों के एक ही शाखा मे होने का एक और प्रमाण मिलता है, दूसरी ओर यह प्रश्न उठता है कि यहाँ क्या पाठ अस्थाई रूप से रखा जाय । विद्वान सम्पादकजी प. शिवाधार पाण्डे के निर्देशानुसार बसै ? शब्द रखते है । मेरी दृष्टि में यहाँ कौंन शब्द के अतिरिक्त कोई अन्य शब्द हो नहीं सकता । कौन शब्द इसी ढङ्ग से छन्द के उत्तरार्द्ध में भी उन्हीं पक्तियों में आता है जिनमें वह पूर्वार्द्ध में है । साथ ही अर्थ भी उससे अच्छे ढग से निकलता है । सबसे बड़ी बात तो यह है कि कौंन शब्द के भूलने की अन्तरङ्ग सम्भावना भी इस शब्द की कई बार आवृत्ति होने के कारण प्रतीत होती है ।

(२) सभी प्रतियों में प्राप्त पाठ है .

'सेनापति हरिनी के दृगन से अति नीके राजैं ।' ५ । २ दूसरी तरङ्ग

इसमे दो वर्णों की वृद्धि से छन्दोभङ्ग दोष हो गया है । सम्पादक जी का मत है कि बहुत सम्भव है 'राजैं' शब्द भ्रमवश लिख गया हो । यह छदोभग कविकृत भी हो सकता है पर इसमें यदि कोई शब्द भूल से बढ़ा होगा तो वह 'अति' होगा । यह 'अनि' शब्द 'राजै' से अधिक निरर्थक है ।

———

## ३

# नन्ददास-ग्रंथावली

कृष्ण भक्त कवियों में नन्ददासजी का प्रमुख स्थान है। सूरदास जी के बाद नन्ददास का ही नाम 'अष्ट छाप' क्या, सपूर्ण कृष्ण भक्तों में लिया जाता है। उनकी सपूर्ण रचनाओं के दो सस्करण प्रमुख रूप से प्रकाशित हुए हैं। पहला सस्करण 'नन्ददास' दो भागों में प्रयाग विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित हुआ था जिसके सम्पादक श्री उमाशकर शुक्ल हैं। यह सस्करण सन् १६४२ में प्रकाश में आया। इसके उपरान्त सन् १६४६ में 'नन्ददास ग्रन्थावली' के रूप में उनकी रचनाओं का दूसरा पाठ नागरी प्रचारिणी सभा काशी द्वारा प्रकाश में आया जिसके सम्पादक श्री व्रजरत्नदास जी हैं।

### प्रामाणिक ग्रन्थ

प उमाशकर शुक्ल ने नन्ददास के चौंतीस ग्रन्थों का उल्लेख किया है जिनका पता उन्हें फ्रासीसी विद्वान् तासी, शिवसिंह सेंगर, डॉ ग्रियर्सन, प रामचन्द्र शुक्ल, सभा की खोज रिपोर्ट, द्वारिकेश पुस्तकालय कॉंकरौली तथा माताप्रसाद गुप्त के उल्लेखों एव सूचनाओं द्वारा चला। इनमें से कई ग्रन्थ तो एक ही हैं केवल उनकी प्रतियों का नाम ही भिन्न हे। कुछ ग्रन्थों को उन्होंने सदिग्ध या प्रक्षिप्त माना है। उनकी दृष्टि में नन्ददास के निम्नलिखित बारह ग्रन्थ ही प्रामाणिक कहे जा सकते हैं :

१ रूपमजरी २ विरहमजरी ३ रसमजरी ४ मानमजरी नाम माला ५ अनेकार्थ मजरी ६ स्यामसगाई ७ भॅंवरगीत ८ रुक्मिनी मगल ६ रास पचाध्यायी १० सिद्धान्त पचाध्यायी ११. दशमस्कध १२ पदावली। उन्होंने इन्हीं ग्रन्थों का सम्पादन किया है। श्री व्रजरत्नदास ने इन ग्रन्थों के सम्बन्ध में प्रायः उसी प्रकार का विवरण प्रस्तुत किया है जैसा प उमाशङ्कर शुक्ल ने। शुक्ल जी से ही मिलता जुलता प्रामाणिक तथा अप्रामाणिक ग्रन्थों के सम्बन्ध में उनका भी तर्क है। सुदामा चरित को शुक्लजी के उल्लेख की ही भॉंति वे भी कवि की प्रारम्भिक कृति

मानते हैं तथा गोवर्द्धन लीला को प्रायः भागवत दशम-स्कध के २४-२५वें अध्यायों का ही एकरूप। उन्होंने प्रामाणिक ग्रन्थों के सम्बन्ध में लिखा है :

'इस प्रकार देखा जाता है कि निम्नलिखित रचनाएँ अवश्य ही नन्ददास कृत हैं, जो उनके नाम से बराबर प्रसिद्ध रही हैं, जिनमें उनका छाप है, भाषा, वर्णन-शैली आदि से उन्हीं की ज्ञात होती हैं तथा जिनकी अनेक हस्तलिखित प्रतियाँ भी प्राप्त हैं।

१ रास पचाध्यायी २ भागवत दशम स्कन्ध ३ भ्रमर गीत ४ रूपमजरी ५ रसमजरी ६ विरह मजरी ७ अनेकार्थ मजरी ८ नाम मजरी ९ रुक्मिनी मगल १० श्याम सगाई ११ सिद्धान्त पचाध्यायी।'[1]

इनके अतिरिक्त उन्होंने गोवर्द्धन लीला, सुदामा चरित एव पदावली का भी पाठ प्रस्तुत किया है। गोवर्द्धन लीला के सम्बन्ध में तो उनकी धारणा है कि 'गोवर्द्धन लीला नन्ददास कृत भागवत दशमस्कन्ध के २४-२५वें अध्यायों से लेकर तथा कुछ पंक्तियाँ जोड़कर स्वतत्र रचना बना दी गई ज्ञात होती है। इस कारण नन्ददास की रचनाओं के जिस सग्रह में भागवत दशमस्कध भी हो उसमें इसे अलग देने की आवश्यक्ता ही नहीं है।'[2] इसी कारण से शुक्लजी ने अपने सस्करण में इसे अलग से नहीं प्रस्तुत किया। परन्तु श्रीव्रजरत्नदास ने उसे अनावश्यक समझते हुए भी सम्पादित किया और वह भी मूल में, परिशिष्ट में नहीं, इसका कारण नहीं स्पष्ट होता।

## शुक्लजी का सस्करण

शुक्ल जी अपने युग के यशस्वी सम्पादकों में से हैं। इनके सम्पादन का एक विशेष ढग रहा है जिसका दर्शन हमें 'कवित्त रत्नाकर' के पाठ पर विचार करते समय हो गया है। आपने अपना यह कार्य उस समय प्रस्तुत किया था जब हिन्दी में वैज्ञानिक सम्पादन तो क्या, सुमुद्रित ग्रन्थों का ही अभाव था। युग की सीमाओं को देखते हुए यह निर्विवाद रूप से कहना पड़ता है कि उन्होंने जो पाठ प्रस्तुत किया वह पूर्ण प्रामाणिकता, प्रतियों के साक्ष्य तथा पाठान्तरों के साथ प्रस्तुत किया। अपनी ओर से एक शब्द बढ़ाना या घटाना उन्हें कभी स्वीकार्य नहीं था। उन्होंने इस सम्पादन में भी सभी ग्रन्थों के पाठ की आधारभूत प्रतियों का पूर्ण विवरण दिया है तथा तिथि आदि की दृष्टि से कौन सी प्रति अधिक महत्वपूर्ण है, इसका भी उल्लेख किया है। प्रतियों की विश्वसनीयता के सम्बन्ध में उनकी धारणा है :

[1] नन्ददास ग्रन्थावली, ( भूमिका ), पृ २१।

[2] वही, पृ ३२।

'हस्तलिखित प्रतियों में भी जो कवि के रचनाकाल या निवासस्थान के अधिक निकट हैं उनके पाठों के प्रामाणिक होने की अधिक सम्भावना है। नन्ददास के काव्य-ग्रन्थों का प्रस्तुत सम्पादन यथासम्भव ऐसी ही प्रतियों के आधार पर हुआ है।'[1]

इसके अतिरिक्त भाषा रूपों को उन्होंने प्राचीन प्रतियों तथा कवि के जन्मस्थान के निकटवर्ती भाषा के रूपों के अनुसार स्वीकार किया है।

पाठ-ग्रहण में प्राचीन प्रतियों का साक्ष्य लिया गया है तथा प्रतियों के महत्व-पूर्ण पाठान्तरों को दे दिया गया है

'मूलपाठ के स्थिर करने में जिन स्थलों पर केवल व्यक्तिगत निश्चय से काम लिया गया है उनके पाठान्तर प्रायः दिए गए हैं क्योंकि इनके विषय में मतभेद हो सकता है। इसी प्रकार अर्थान्तर वाले पाठान्तर भी अनिवार्य रूप से सगृहीत हैं।'[2]

इस सम्पादन में विद्वान् सम्पादक ने किसी भी ग्रन्थ के मिलने वाले प्राय. सभी पाठ को प्रस्तुत किया है। जिन पाठों के मूलपाठ होने में सदेह रहा है उन्हें 'परिशिष्ट' में सगृहीत कर दिया गया है। इस प्रकार शुक्लजी के पाठों मे यह विशेषता रहती है कि उनके पाठ को देखकर कोई भी जिज्ञासु पाठ-शोधक रचना के पाठ पर उतनी ही सरलता से विचार कर लेता है जितना वह सम्पादक द्वारा प्रयुक्त सभी प्रतियों के उपलब्ध रहने पर कर लेता। वैज्ञानिक सम्पादन की विधि के अनुगमन के बिना प्रक्षेपों का निराकरण प्रायः सम्भव नहीं होता। अतः प्राचीन सम्पादकों ने जहाँ सभी उपलब्ध पाठों को बिना छेड़-छाड़ के प्रस्तुत किया है वहाँ प्रचीन पाठ अधिक सुरक्षित रह सका है।

## ब्रजरत्नदास जी का सस्करण

ब्रजरत्नदास जी का सस्करण शुक्ल जी के सात वर्ष बाद प्रस्तुत हुआ। इसमे शुक्ल जी की स्थापनाओं एव शोधों का पूरा योग लिया गया है। भूमिका के विवरण तो प्राय उद्धृत किए से लगने लगते हैं। शुक्ल जी वाले सम्पादन के सबध मे भूमिका म दास जी ने लिखा है, उसके अनन्तर नन्ददास जी के समग्र ग्रथ दो भागों में उसी विश्वविद्यालय से प्रकाशित हुए। यह बड़े अध्यवसाय तथा छान बीन के साथ प्रस्तुत किया गया है और विद्वान् सम्पादकों ने बड़े परिश्रम के साथ जहाँ-जहाँ साधन प्राप्त हुए वहाँ से एकत्र करके इसका सम्पादन किया।'[3] विद्वान् सम्पादक ने

---

[1] नन्ददास भाग १, ( भूमिका ), पृ ८७।

[2] नन्ददास, भाग १, पृ ६१।

[3] नन्ददास ग्रंथावली, (नम्रनिवेदन), पृ २।

यह नहीं लिखा है कि उक्त सम्पादन के किन दोषों के कारण सभा को नन्ददास के ग्रन्थों के अन्य सम्पादन की आवश्यकता पड़ी। इतना अवश्य है कि बा. ब्रजरत्नदास के पास शुक्लजी से अधिक प्रतियाँ थीं तथा उनके विनियोग से प्रस्तुत किया गया उनका पाठ शुक्लजी के पाठ की अपेक्षा अधिक गठित प्रतीत होता है। पर इनके सम्पादन की सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि इन्होंने किस आधार पर पाठों का ग्रहण और त्याग किया है इसका कोई निश्चित आधार व्यक्त नहीं किया है। साथ ही उन्होंने प्रक्षेपों के निराकरण का जो प्रयास किया है उसका आधार वैज्ञानिक न होने के कारण भ्रमपूर्ण हो सकता है। रास पञ्चाध्यायी में शुक्ल जी ने तीन सौ रोलों का पाठ प्रस्तुत किया है, वहाँ ब्रजरत्नदास ने केवल ११८ का। इस सम्बन्ध में उनकी मान्यता है :

'इस प्रकार देखा जाता है कि उक्त हस्तलिखित प्रतियों में जो ढाई सौ वर्ष से डेढ़ सौ वर्ष प्राचीन हैं, २०६ से २१५ तक रोले हैं पर प्रकाशित प्रतियों में इनकी संख्या बहुत बढ़ गई है · मूलतः रास पञ्चाध्यायी में २१५ से अधिक रोले नहीं थे। · अतः वे ही पद नन्ददास कृत मान्य हैं जो उक्त सभी हस्तलिखित प्रतियों में हैं।'[1]

यह मान्यता बहुत सम्भाव्य है पर निर्विवाद नहीं। रास पञ्चाध्यायी के कुछ प्रारम्भिक पाठों को देखने पर ऐसा विदित होता है कि दास जी द्वारा प्रस्तुत पाठ अधिक गठा हुआ है। और शुक्ल जी के पाठ के जिन प्रसंगों को उन्होंने छोड़ दिया है वे न रहें तो पाठ की गति में और सुगठन उत्पन्न होता है। साथ ही दास जी का पाठ अधिक शुद्ध एवं प्रवाहपूर्ण प्रतीत होता है। उदाहरणार्थ,

१. शुक्ल जी का पाठ :

'सुन्दर उदर रोमावलि राजति भारी।
हियौ सरोवर रस भरि, चली मनौ उमगि पनारी॥'

२. दास जी का पाठ :

'सुन्दर उदर उदार रोमावलि राजति भारी।
हिय सरवर रस पूरि चली मनु उमगि पनारी॥'

'हस्तलिखित प्रतियों में भी जो कवि के रचनाकाल या निवासस्थान के अधिक निकट हैं उनके पाठों के प्रामाणिक होने की अधिक सम्भावना है। नन्ददास के काव्य-ग्रन्थों का प्रस्तुत सम्पादन यथासम्भव ऐसी ही प्रतियों के आधार पर हुआ है।'[1]

इसके अतिरिक्त भाषा रूपों को उन्होंने प्राचीन प्रतियों तथा कवि के जन्मस्थान के निकटवर्ती भाषा के रूपों के अनुसार स्वीकार किया है।

पाठ-ग्रहण में प्राचीन प्रतियों का साक्ष्य लिया गया है तथा प्रतियों के महत्व-पूर्ण पाठान्तरों को दे दिया गया है :

'मूलपाठ के स्थिर करने में जिन स्थलों पर केवल व्यक्तिगत निश्चय से काम लिया गया है उनके पाठान्तर प्रायः दिए गए हैं क्योंकि इनके विषय में मतभेद हो सकता है। इसी प्रकार अर्थान्तर वाले पाठान्तर भी अनिवार्य रूप से सगृहीत हैं।'[2]

इस सम्पादन में विद्वान् सम्पादक ने किसी भी ग्रन्थ के मिलने वाले प्राय. सभी पाठ को प्रस्तुत किया है। जिन पाठों के मूलपाठ होने में सदेह रहा है उन्हें 'परिशिष्ट' में सगृहीत कर दिया गया है। इस प्रकार शुक्लजी के पाठों में यह विशेषता रहती है कि उनके पाठ को देखकर कोई भी जिज्ञासु पाठ-शोधक रचना के पाठ पर उतनी ही सरलता से विचार कर लेता है जितना वह सम्पादक द्वारा प्रयुक्त सभी प्रतियों के उपलब्ध रहने पर कर लेता। वैज्ञानिक सम्पादन की विधि के अनुगमन के बिना प्रक्षेपों का निराकरण प्रायः सभव नहीं होता। अतः प्राचीन सम्पादकों ने जहाँ सभी उपलब्ध पाठों को बिना छेड़-छाड़ के प्रस्तुत किया है वहाँ प्रचीन पाठ अधिक सुरक्षित रह सका है।

## व्रजरत्नदास जी का सस्करण

व्रजरत्नदास जी का सस्करण शुक्ल जी के सात वर्ष बाद प्रस्तुत हुआ। इसमे शुक्ल जी की स्थापनाओं एव शोधों का पूरा योग लिया गया है। भूमिका के विवरण तो प्राय उद्धृत किए से लगने लगते हैं। शुक्ल जी वाले सम्पादन के सबध मे भूमिका मे दास जी ने लिखा है, उसके अनन्तर नन्ददास जी के समग्र ग्र थ दो भागों मे उसी विश्वविद्यालय से प्रकाशित हुए। यह बड़े अध्यवसाय तथा छान बीन के साथ प्रस्तुत किया गया है और विद्वान् सम्पादकों ने बड़े परिश्रम के साथ जहाँ जहाँ साधन प्राप्त हुए वहाँ से एकत्र करके इसका सम्पादन किया।'[3] विद्वान् सम्पादक ने

---

[1] नन्ददास भाग १, ( भूमिका ), पृ ८७।

[2] नन्ददास, भाग १, पृ ६१।

[3] नन्ददास ग्रथावली, (नम्रनिवेदन), पृ २।

प्रमाद का हस्तक्षेप ही है। मूलपाठ में किसी प्रकार की कलई न करके यथावत प्रस्तुत करना ही सम्पादक का कार्य है।

## निष्कर्ष

श्री व्रजरत्नदास जी का संस्करण बाह्य निरीक्षण से अवश्य विशेष गठित पाठ से युक्त लगता है, पर उसकी प्रामाणिकता के संबंध में निश्चयात्मक रीति से तब तक कुछ नहीं कहा जा सकता जब तक उसकी सामग्री का उपयोग पाठ सम्पादन की वैज्ञानिक विधि के अनुकूल न किया जाय। इस संस्करण में कितनी सावधानी से सम्पादन हुआ है इसका एक ही प्रमाण पर्याप्त होगा। इस संस्करण में पदावली का एक छन्द है :

> 'फूलन की माला हाथ, फूली फिरै आली साथ,
> झाँकत झरोखे ठाढ़ी नन्दिनी जनक की।
> कुँवर कोमल गात को कहैं पिता सों बात,
> छाँड़ि दे यह पन तोरन धनक की।
> 'नन्ददास प्रभु जानि तोर्यो है पिनाक तानि,
> बाँस की धनैया जैसे बालक धनक की ॥' (न ग्र, पृ ३२८)

इस छन्द का पाठ 'नन्ददास' में कुछ भिन्न है :

> 'फूलन की माला हाथ, फूलि सब सखी साथ,
> झाकत झरोका ठाढ़ी नंदनी जनक की।
> देखत पिया की शोभा सिया को लोचन लोभा,
> एकटक ठाडी मानों पुतरी कनक की ॥
> पिता सों कहत बात कमल कोमल गात,
> राखहो प्रतिज्ञा शिव के धनक की।
> नंददास हरि जान्यो तृण कर तोर्यो ताही,
> बाँस के धनैया जैसे बालक के करकी ॥'

(नंददास, भाग २, परिशिष्ट, पृ ४०१)

इसमें 'ग्रंथावली' का पाठ सम्पादित है और 'नंददास' में प्रक्षिप्त या संदिग्ध कोटि में होने के कारण केवल उसी रूप में मुद्रित है जैसा किसी प्रति में प्राप्त हुआ था। पर कठिनाई यह है कि 'ग्रंथावली' में इस छंद के छः ही चरण प्रस्तुत किए गए हैं जब कि थोड़े परिश्रम से ही 'नंददास' में ही वे दोनों चरण प्राप्त हो सकते थे जिनका अभाव छंद तथा अर्थ दोनों की आवश्यकतानुसार खटकता रहता है। वास्तव में 'ग्रंथा-वली' के छंद में दूसरी पंक्ति के बाद 'नंददास' वाले छंद का तीसरा और चौथा चरण होना चाहिए था, तभी यह छंद पूर्ण होता।

# ४

# केशव-ग्रंथावली[1]

हिन्दी साहित्य के इतिहास में केशवदास का एक विशिष्ट स्थान है। उनकी रचनाओं द्वारा हिन्दी साहित्य के एक विशेष अभाव की पूर्ति सर्वप्रथम हुई, वह अभाव था साहित्य में चामत्कारिक भावनाओं एवं अलंकरण वृत्तियों का समावेश। इन दृष्टियों से केशव की रचनाओं का अध्ययन करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उनमें एक भावप्रवण कवि की रसधारा ही नहीं, एक पंडित का अर्थ गाम्भीर्य एवं एक आचार्य का आचार्यत्व भी विद्यमान है, उनमें दो युगों—भक्ति एवं रीति या-शृङ्गार—की प्रतिच्छाया तथा दो साहित्यिक आदर्शों का संक्रमण है। इन सभी विशेषताओं के समग्र प्रभाव से केशव की रचनाओं का पाठशोध एक कठिन कार्य था। और यह आवश्यक था कि यह कार्य किसी ऐसे ब्रजभाषा के विद्वान को सौंपा जाता जो केशव के काव्य एवं आचार्यत्व के मूलस्रोतों से परिचित तथा उनके अर्थगाम्भीर्य के मूल तक पहुँच सकने में समर्थ होता। सौभाग्य से पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने इस 'प्रेत' का भार अपने सिर लेकर साहित्य रसिकों को आभारी किया। उन्होंने 'केशव ग्रथावली' के तीन भागों में केशव की नौ रचनाओं का संपादित मूलपाठ प्रस्तुत किया है। उनकी मान्यता है कि ये रचनाएँ ही केशव की प्रामाणिक रचनाएँ मानी जा सकती हैं। इनमें से प्रथम भाग में रसिकप्रिया और कविप्रिया, द्वितीय भाग में रामचन्द्रचन्द्रिका, छन्द-माला और शिख नख तथा तृतीय भाग में रतनबावनी, वीरचरित्र, जहाँगीर-जस-चन्द्रिका तथा विज्ञानगीता संगृहीत हैं।

**सम्पादन सरणि**—केशव की रचनाओं के मूल पाठ को ढूँढ़ निकालने में जो कठिनाइयाँ थीं, उनके अलावा भी किसी मुक्तक रचना के पाठ को ढूँढ़ते समय विशेष सतर्कता से काम लेना पड़ता है और विशेष कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है।

---

१ सम्पादक—पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, प्रकाशक हिन्दुस्तानी एकेडमी, उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद।

प्रबन्ध रचनाओं में तो प्रसङ्ग आदि की मीमासा द्वारा प्रक्षेपों का निराकरण हो जाता है पर मुक्तक रचना मे यदि कवि की ही भाँति सुन्दर भाषा एव उसी की शैली में कुछ और छन्द मिला दिए जायँ तो उनका निराकरण प्राय कठिन ही होता है। इस दृष्ट से विचार करते समय हमारा ध्यान एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त पर केन्द्रित होता है कि यदि कवि के जीवनकाल के अन्दर का ही प्रतिलिपियाँ हैं और उनमें कम और अधिक छन्द मिलते हैं तो यह सम्भावना भी हो सकती है कि बढे हुए छन्द कवि ने स्वय बाद में लिखा होगा किन्तु उसके जीवन-काल के बाद की अत्यन्त परवर्ती पीढ़ी की प्रतिलिपियों में बढे हुए छन्द मिलते हों तो वे कदापि कविकृत नहीं होंगे और निश्चय ही किसी अन्य व्यक्ति द्वारा बढाए गए होंगे। इस दृष्टि से प्रतियों का साक्ष्य ग्रहण करते समय उनकी प्राचीनता का नहीं प्रत्युत उनकी पीढ़ी का प्रमाण ग्रहण करना अधिक निश्चयात्मक होता है। हमने पाठ सम्पादन के सिद्धान्तों का विवेचन करते समय यह देख लिया है कि कभी कभी नवीनतम प्रतियाँ भी जब वे मूलप्रति या मूलादर्श की प्रथम प्रतिलिपि या निकटतम पीढ़ी की प्रतिलिपियाँ होती हैं तो उनका महत्व उन प्रतिलिपियों से अधिक होता है जो मूल प्रति या मूलादर्श से बहुत नीचे की पाढ़ी की प्रतिलिपियाँ हैं चाहे भले ही उनका प्रतिलिपि-काल प्राचीन हो। प्रतियो का शाखाओं मे विभाजन और उस शाखा में भी उनके वशक्रमानुसार पीढ़ी का निर्धारण इसीलिए आवश्यक हुआ करता है जिस सम्पादन की वैज्ञानिक विधि में अत्यधिक बल दिया जाता है। प्रक्षेपों के निराकरण के हेतु ही नहीं तो दृष्टिभ्रम, लेखनप्रमाद आदि अनेक कारणों से उत्पन्न विकृत पाठों को भी पाठ शोध द्वारा परिष्कृत करने का कार्य सप्रमाण या प्रामाणिक रीति से तभी किया जा सकता है। इसके प्रतिकूल जब सम्पादन की 'वैज्ञानिक विधि' का अनुसरण न करके अपने ज्ञान चक्षु से तथा अपने हृदय के साहित्यिक सस्पर्श मात्र से जब 'शुद्ध लगने वाले पाठ' को प्रस्तुत किया जाता है तो वह एक कल्पना या अनुमान मात्र रह जाता है। सम्भव है दृष्टि की गहराई और 'परकाय-प्रवेश' की विलक्षण क्षमता के कारण सम्पादक द्वारा प्रस्तुत 'कल्पना' या 'अनुमान' सत्य या मूल के निकट हो, पर साथ ही सम्भावना इस बात की भी होती है कि यदि किसी प्रक्षेपकर्ता ने कहीं मूल पाठ को परिवर्तित करके मूल से भी सुघर अन्य पाठ प्रस्तुत कर दिया हो तो शुद्ध पाठ का यह शोधक उसे ही विशेष अर्थगर्भित मान कर स्वीकार कर लेगा।

केशव-ग्रन्थावली के सम्पादन में आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने वैज्ञानिक तथा साहित्यिक विधि के समन्वयात्मक रूप का प्रयोग किया है, ऐसा उनका स्पष्ट कथन है। इस ग्रन्थ की भूमिका मे मैंने विस्तार पूर्वक यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है कि वैज्ञानिक कही जाने वाली विधि ही सम्पादन की एकमात्र विधि है। साहित्यिक

प्रक्रिया से मिश्र जी का तात्पर्य जब प रामचन्द्र शुक्ल, लाला भगवानदीन आदि द्वारा किए गए सम्पादनों की विधि से है, तो निश्चय ही यह कहा जा सकता है वह प्रक्रिया स्वरुचि प्रेरित पाठ चयन की प्रक्रिया मात्र है जिसमे साहित्यिक या भावुक सम्पादक के हृदय को जो पाठ अधिक पसन्द आता है वह ग्रहण कर लिया जाता है और कभी-कभी तो ऐसे पाठ भी प्रस्तुत कर दिए जाते है जो किसी हस्तलिखित प्रति में नहीं उपलब्ध होते और सम्पादक उन्हे अपनी ओर से प्रस्तुत कर देता है। इस प्रकार सम्पादक जब वैज्ञानिक न होकर साहित्यिक हो जाता है तो वह कभी कभी मूललेखक के पाठ के स्थान पर अपना निजी पाठ स्थानापन्न कर देता है। साहित्यिक प्रक्रिया शब्द का प्रयोग मिश्र जी किस अर्थ में करते हैं, यह उन्हीं के शब्दों मे :

'हिन्दी मे प्राचीन ग्रथो के सम्पादन की साहित्यिक सरणि के प्रवर्तक काशी विश्वविद्यालय के दिवगत प्राध्यापक आदरणीय लाला भगवानदीन, पडित रामचन्द्र शुक्ल और बाबू श्यामसुन्दरदास थे। इनके सम्पादित ग्रथों मे कुछ ऐसी अच्छाइयाँ हैं जो वैज्ञानिक सम्पादनों में नहीं रह गई है।'[1]

इसके अतिरिक्त मिश्र जी की यह धारणा है कि वैज्ञानिक सम्पादन में केवल उच्च पीढ़ी की प्रतियों मे मिलने वाले पाठ प्रस्तुत कर दिए जाते है उनके अर्थ पर विचार नहीं होता .

'वैज्ञानिक-प्रक्रिया शब्द पर अधिक ध्यान देती है और साहित्यिक प्रक्रिया शब्द पर ध्यान देते हुए भी अर्थ पर विशेष दृष्टि रखती है।'[2]

इस दृष्टि से विचार करने पर हम देखते हैं कि आचार्य जी की यह धारणा प्रायः सत्य नहीं है। हमने सिद्धान्तो के विवेचन मे भलीभाँति देख लिया है कि वैज्ञानिक-विधि मे शब्द और अर्थ का पूर्ण 'तुल्यबल सयोजन' रहता है। हाँ इतना अवश्य है कि अर्थ की लगाम इतनी ढीली नहीं रखी जाती कि कम प्रतियों में प्राप्त पाठ को ही रखा जाय।

समजसता से काम लिया गया है। 'शब्द' के लिए प्राचीन प्रतियों का अधिक विश्वास किया गया है और अर्थ की सङ्गति का भी ध्यान रखा गया है।'[१]

वास्तव मे मिश्र जी के इस कथन से यह प्रकट होता है कि उन्होंने वैज्ञानिक पद्धति का यहीं तक पालन किया है कि 'शब्द' या 'पाठ' के लिए प्राचीनतम प्रतियों के पाठ को प्रमाण माना है। यह कार्य तो किसी भी वैज्ञानिक अथवा अवैज्ञानिक सम्पादक के लिए अनिवार्य है। यही कार्य तो स्व रत्नाकर जी, बाबू ब्रजरत्नदास, श्री उमाशङ्कर शुक्ल, नरोत्तम स्वामी, सूर्यकरण परीक आदि अनेक हिन्दी के पाठ-सम्पादकों ने किया। इन सभी ने प्रतियों का साक्ष्य ग्रहण किया है प्राचीन प्रतियों का अधिक विश्वास किया है और अर्थ की सगति का पूर्ण ध्यान रखा है, पर उनके सम्पादनों को हम वैज्ञानिक सम्पादन मे नहीं ग्रहण करते। इसका कारण यह है कि वैज्ञानिक सम्पादक तो प्रतियों की प्राचीनता के साथ प्रतिलिपि परम्परा में उनके निर्धारित स्थान का भी विशेष ध्यान रखता है। साथ ही वह प्रतियो की पूर्ण परीक्षा कर लेने के उपरान्त किन्हीं व्यापक सिद्धान्तों का उद्घोष करता है जिनके अनुगमन द्वारा वह मूल-पाठ तक पहुँचने की चेष्टा करता है। जहाँ पर उन व्यापक सिद्धान्तों के पालन द्वारा पाठ के शब्द और अर्थ मे सङ्गति नहीं बैठती, वहाँ वह अनेक सम्भावनाओं पर विचार करके पूर्ण साहित्यिक सन्निवेश एव सस्पर्श द्वारा पाठ-सशोधन तक करने का अधिकारी होता है। परन्तु मिश्र जी ने वैज्ञानिक विधि के केवल बाह्य-स्पर्श का प्रयत्न किया है, उसकी मौलिक मान्यताओं को छोड़ ही दिया है। उन्होंने ग्रथावली की भूमिका मे ग्रथों के सम्पादन का कोई सिद्धान्त निर्धारित नहीं किया है जिससे वैज्ञानिकता या अवैज्ञानिकता की परीक्षा की जा सके। वैज्ञानिक-विधि का प्रयोग वे बड़े ही अल्प रूप मे करते है :

'वैज्ञानिक सरणि के नियम का इतना ही सदुपयोग या पालन हो सकता है कि सम्पादक किसी शब्द को हस्तलेखों मे न मिलने पर अर्थ-बल पर बदल न सके।'[२]

पद्धति की सहायता वे उतनी ही दूर तक लेते हैं जहाँ तक उसमें यह बात प्रतिपादित की जाती है कि प्रस्तुत किया जाने वाला पाठ भरसक हस्तलिखित प्रतियों के साक्ष्य पर ही ग्रहण किया जाना चाहिए।

वैज्ञानिक प्रक्रिया का विनियोग न करने से 'शब्द' सम्बन्धी पाठ-भेदों के निराकरण से कहीं अधिक कठिनाई प्रक्षेपों आदि के निराकरण में पड़ती है। हम देख चुके हैं कि प्रक्षेप प्रायः चार प्रकार से होता है—(१) पाठ वृद्धि द्वारा (२) पाठ-सन्क्षेपण द्वारा (३) पाठ परिवर्तन द्वारा तथा (४) पाठ-विपर्यय द्वारा। इनमें से शब्द आदि के परिवर्तित पाठ के सम्बन्ध में तो बिना वैज्ञानिक विधि के प्रयोग के भी कुशल व्यक्ति मूलपाठ का 'अनुमान' लगा सकता है। पर पाठ-वृद्धि तथा पाठ सन्क्षेपण का निराकरण भली भाँति तभी किया जा सकता है जब प्राप्त हस्तलिखित प्रतियों की शाखा तथा प्रत्येक शाखा में उनकी प्रतिलिपि परंपरा का निर्धारण कर लिया जाय। यही वैज्ञानिक प्रक्रिया का मूलाधार है। यह कार्य मिश्रजी ने इस ग्रंथावली के सम्पादन में नहीं किया है जिससे यह निश्चयात्मक ढंग से नहीं कहा जा सकता कि उन्होंने प्रक्षेपों के निराकरण में कितनी सफलता प्राप्त की है। साथ ही 'शब्द' के सम्बन्ध में भी दो शब्द कहने की आवश्यकता है। शब्द के पाठ ग्रहण में उन्होंने प्राचीन हस्तलेखों का प्रमाण ग्रहण किया है पर यह निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता कि वे प्राचीन हस्तलेख मूल प्रति की प्रतिलिपि परम्परा में किस पीढ़ी के रहे हैं। उनके ऊपर किस सीमा तक विश्वास किया जा सकता है यह केवल सुगठित पाठ धारण करने के प्रमाण पर ही आधारित न होकर, प्रतिलिपि परम्परा में उच्च पीढ़ी के होने के साक्ष्य पर भी निर्भर होना चाहिए।

**अन्य स्थापनाएँ**—इस संस्करण की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि हिन्दी के प्राचीन सम्पादकों से प्रतिकूल इसमें प्रतियों का पूर्ण साक्ष्य ग्रहण किया गया है। स्वर्गीय रत्नाकर जी तक पाठों में शुद्धि-अशुद्धि या परिनिष्ठित रूप प्रस्तुत करने के लोभ में पाठों में एकरूपता लाने का प्रयास किया गया है। कभी-कभी तो ऐसे स्थलों पर एकरूपता लाई गई है जहाँ पर किसी भी प्रति में वह पाठ नहीं मिलता। पर इस ग्रंथावली में विद्वान सम्पादक ने चन्द्रबिन्दु से लेकर वर्तनी के विविध रूपों के प्रयोग, प्रमाण एवं पद्धति पर विस्तारपूर्वक विचार प्रस्तुत किया है, पर वे रूप ही ग्रहण किए गए हैं जो प्रतियों में मिलते हैं। हाँ इतना अवश्य है कि प्रतियों में जहाँ विविध रूप मिलते हैं वहाँ छन्द की गति, भाषा की शुद्धि एवं प्रयोग की व्यापकता का ध्यान रखकर पाठ-चयन किया गया है जो उचित ही है। इस सम्बन्ध में सम्पादक की घोषणा है :

'छन्दों में गति और पाठ के रूप में अन्तर होने पर छन्दों की गति के अनुसार रूप ही स्वीकृत किया गया है। हस्तलेखों में छन्द कोई है पर नाम उसका दूसरा अंकित

है, ऐसी स्थिति में छन्द का विचार विशेष उपयोगी सिद्ध हुआ है। जो पाठ छन्द का अनुयायी है वही ठीक है।[1]

वैज्ञानिक विधि के प्रयोग न करने पर तो यह निर्णय ठीक ही है। पर वैज्ञानिक दृष्टि से यह निर्णय भ्रमात्मक भी हो सकता है। मान लीजिए केशव ने अपनी मूल-प्रति में छन्द को गति के अनुरूप नहीं प्रस्तुत किया तथा छन्द की सम्यक् जानकारी न होने के कारण दूसरे छन्द के नाम पर दूसरा छन्द अंकित कर दिया। बाद में प्रति-लिपिकारों ने उसे ठीक किया और छन्द की गति और उसके शीर्षक के अनुरूप ही उसे प्रकट कर दिया। वास्तव में प्रक्षेपकर्ता अपनी समझ से कवि के पाठ को और सुन्दर बनाने के हेतु ही प्रक्षेप करता है। इस दशा में एक प्रश्न उठता है कि सम्पादक का कर्तव्य केशव द्वारा प्रस्तुत मूलपाठ प्रस्तुत करना है या प्रतिलिपिकार द्वारा प्रस्तुत प्रक्षिप्त पाठ जो शुद्ध और छन्दानुकूल है। केशव के दिग्गज आलोचकों का यह मत भी रहा है कि वे आचार्यत्व की दृष्टि से सफल नहीं हैं। हो सकता है यह मत केशव के मूलपाठ के प्रस्तुत होने पर दूर हो जाय। अत. मूलपाठ का निर्णय प्रतिलिपि परम्परा ही निश्चयात्मक रूप से कर सकती है, पाठ की शुद्ध अथवा अशुद्धि नहीं।

इसी प्रकार वर्तनी सम्बन्धी सभी मान्यताएँ मिश्रजी के उद्भट पाण्डित्य की द्योतक तो हैं पर उनके ग्रहण का रूप किसी वैज्ञानिक आधार पर न होकर स्वरुचि प्रेरित है। इस सम्बन्ध में उनके कुछ कथन यहाँ उद्धृत किए जा सकते हैं :

१ 'हिन्दी की पुरानी भाषा में 'ण' नहीं है। केवल राजस्थानी में यह यथास्थान आता है। पर ब्रजी अवधी मे 'न' ही है। केशवदास संस्कृत के पंडित थे उन्होंने संस्कृत शब्दों का प्रयोग भी पर्याप्त किया है। फिर भी एक हस्तलेख को छोड़कर संस्कृत पद वर्तनी अन्य हस्तलेखों में नहीं है। इसलिए वैज्ञानिक विधि के अनुसार हस्तलेखों का अनुगमन किया गया है। 'ण' और 'श' के स्थान पर 'न' और 'स' का ही व्यवहार है।' (के ग्र, भा २, सम्पा पृ० १६।)

जा सकता है। पर यह पता तभी चलेगा जब प्रतियों का विभाजन प्रतिलिपि-परम्परानुसार हो।

२ 'यही स्थिति 'ज्ञ' की है। यह इसी रूप में भी लिखा मिलता है और 'ग्य' या 'ग्य' या 'ग्यॅ' भी। जहाँ ज्यों का त्यों 'ज्ञ' भी लिखा होता है वहाँ उच्चारण 'ग्यॅ' ही रहता है। प्रस्तुत ग्रन्थावली में जहाँ जैसा है वहाँ वैसा ही रखने का प्रयास किया गया है। एकरूपता लाने का प्रयत्न नहीं किया गया है।' ( के ग्र , भा ३, सम्पा पृ २१। )

एकरूपता लाने का प्रयास नहीं किया गया है यह तो ठीक है, पर 'जहाँ जैसा है वहाँ वैसा ही' का निर्णय प्रतिलिपि-परम्परा के निर्धारण के पूर्व बहुत निश्चयात्मक नहीं हो सकता।

३ 'प्रस्तुत ग्रन्थावली में आरोपित अनुनासिकता से प्रायः बचने का प्रयास रहा है। कभी-कभी अधिक प्रचलन के कारण कुछ रूप स्वीकृत किए गए हैं जैसे 'दीन्हीं', 'दीन्हों' आदि रूपों में।' ( के ग्र , भा ३, सम्पा पृ २१। )

४ 'हस्तलेखों में अनुनासिकता की स्थिति कहीं ऊपर बिन्दु लगाकर और कहीं चन्द्रबिन्दु से प्रकट की गई है। 'चन्द्रबिन्दु' ही ठीक समझकर उसका उपयोग किया गया है।' (के ग्र , भा ३, सम्पा पृ २१। )

५ 'सिँगार या सिंगार यथास्थान दोनों रूपों का प्रयोग हुआ है। सर्वत्र केवल सिंगार रखने से छन्द ही दोष पूर्ण हो जाएगा। अनेक दृष्टियों से कठिनाई होते हुए भी इस ग्रंथावली मे उसका प्रयोग अत्यन्त अपेक्षित समझकर रखा गया है।' (के ग्र , भा ३ , सम्पा पृ २२। )

६ 'अकारान्त पुलिंग शब्दों की प्रथमा और द्वितीया विभक्तियों के एक वचन मे अपभ्रंश मे 'उकारान्त' रूप मिलते हैं। 'उत्तरवर्ती देशी भाषाएँ भी इससे प्रभावित रही हैं। प्राचीन हस्तलेखों मे इसका प्रयोग पर्याप्त परिमाण मे मिलता है। ·· केशवदास जी के ग्रंथों में जहाँ यह प्रवृत्ति सभी हस्तलेखों में थी वहाँ ज्यों की त्यों रहने दी गई है। अन्यत्र उकार का व्यवहार नहीं रखा गया है।' (के ग्र , भा ३, पृ २२-२३। )

इस सम्बन्ध मे यह प्रश्न उठता है कि जब सभी प्रतियों में मिलता है तो यह रूप ग्रहण कर लिया गया है और यदि सभी में नहीं मिलता तो नहीं, ऐसा क्यों ? यदि सभी में यह रूप नहीं मिलता है और केवल कुछ में मिलता है और परम्परा में वे

रूप की पीढ़ी की प्रतियाँ हैं तो वहाँ कुछ में मिलने पर भी इस रूप का ग्रहण हो सकता है क्योंकि उस दशा में वही रूप कवि प्रयोग सम्मत हो सकता है।

## प्रामाणिक रचनाएँ

किसी कवि की रचनाओं का पाठ प्रस्तुत करते समय उसके नाम पर मिलने वाली रचनाओं की प्रामाणिकता पर भी विचार करना आवश्यक हुआ करता है। इस सम्बन्ध में सामान्यतः यह नियम है कि उसके नाम के साथ प्राप्त होने वाले ग्रन्थ प्रायः उसी के मान लिए जायँ जब तक अन्तरङ्ग तथा बहिरङ्ग सम्भावनाओं द्वारा प्रचुर प्रमाण न प्राप्त हो जायँ जो उनमें से किन्हीं रचनाओं को अन्य व्यक्ति की रचनाएँ सिद्ध कर सकें। मिश्र जी ने अपने इस सम्पादन में प्रायः इन्हीं विधियों का अनुगमन किया है।

केशवदास के नाम पर प्रचलित रचनाओं के सम्बन्ध में विचार करते हुए डॉ॰ हीरालाल दीक्षित ने अपने शोध प्रबन्ध में निम्नलिखित रचनाओं का उल्लेख किया है और उनकी प्रामाणिकता एवं अप्रमाणिकता आदि के विचार से उन्हें इस क्रम से प्रस्तुत किया है[1]

प्रामाणिक ग्रंथ—रसिकप्रिया, नखशिख, कविप्रिया रामचन्द्रिका, वीरसिंह देव चरित, रतनबावनी, विज्ञानगीता और जहाँगीर- जस-चन्द्रिका।

अप्रामाणिक ग्रंथ—जैमुनिकथा, हनुमान जन्मलीला, बालि चरित्र, आनन्द-लहरी, रसललित, कृष्णलीला, अमीघूट।

सन्दिग्ध ग्रन्थ—रामलक्षण मञ्जरी।

आवश्यकता क्यों हुई इसकी पुष्टि में विद्वान सम्पादक ने निम्नलिखित दोहा 'शिख-नख' से ही उद्धृत किया है :

'नख ते सिखलौं बरनिए देवी दीपति देखि।
शिख ते नख लौं मानवी 'केसवदास' बिसेषि॥'

प्रस्तुत पाठ—अब तक केशव की रचनाओं के जितने पाठ प्रस्तुत हुए थे उनमें 'केशव ग्रथावली' का पाठ निर्विवाद रूप से सर्वश्रेष्ठ है। जहाँ तक पाठ के सुगठित रूप का प्रश्न था वह भलीभाँति इस ग्रथावली में प्रस्तुत हुआ है। वैज्ञानिक विधि का पूर्णतः अनुगमन न करके जितना अधिक सुन्दर पाठ प्रस्तुत कर सकने की कल्पना की जा सकती है, उतना सुन्दर पाठ इसमें प्रस्तुत हुआ है। कदाचित् इसका कारण आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र का ब्रजी का प्रकांड पाण्डित्य और सस्कृत आदि केशव के आधार साहित्यों का उत्कट ज्ञान रहा है। पाठ-शोध में मिश्र जी की सूझ भी निराली है। यदि कहीं उनकी प्रतिभा, सूझ और ज्ञानगरिमा का पाठ सपादन की वैज्ञानिक विधि से मणि काचन योग हो पाता तो हिन्दी साहित्य अपने प्राचीन कवियों का और भी शुद्ध एव विश्वसनीय पाठ प्राप्त कर सकता। पाठ संपादन की विधि के अनुगमन न करने के कारण उत्पन्न समस्याओं पर हम बाद में विचार करेंगे। इस प्रसग मे हम कुछ ऐसे पाठों का उदाहरण लेंगे जिनमें मिश्रजी को अद्भुत सफलता प्राप्त हुई है। जहाँगीर-जस चन्द्रिका का एक पाठ है :

'कामकुमार से नदकुमार की केलिकथा यह नित्य नई है।
'केसव' थावर हीं चरहीं अरहीं रति की गति जीति लई है॥
पानु सी पावनता तन लागत पापनिहूँ कहँ मुक्तिदई है।
पुष्प सरासन श्री मथुराभव भानुभवा गुन भौरमई है॥'[1]

इस दोहे में भौरमई के स्थान पर इसके पूर्व 'भोरभई' पाठ प्रस्तुत किया जाता था। कदाचित् अधिकाश प्रतियों में भी 'भोरभई' पाठ ही मिलता है। पर यह भौर-मई पाठ विशेष अर्थ गर्भित है क्योंकि यहाँ कामदेव और कृष्ण की समता का प्रसग है। पुष्पधन्वा भी है तो गुन (प्रत्यचा) भौरमई ही ठीक है क्योंकि कामदेव की प्रत्यचा भौरयुक्त कही जाती है। किन्तु यही छन्द किंचित पाठातर से 'विज्ञान गीता' मे भी आता है, वहाँ पर ग्रथावली मे 'भोरभई' पाठ ही है

'पुष्प सरासन श्रीमथुराभव भान भवा गुन भोर भई है।'[2]

इस विभेद का कारण प्रकट नहीं होता।

---

[1] केशव ग्रन्थावली, खड ३, पृ ६२०।

[2] वही पृ ६६२।

प्रतियों में जिसमें एक सब से प्राचीन प्रति भी है, अन्तिम चरण में 'मोहन के मने' पाठ है। पर इस पाठ को मिश्र जी ने नहीं ग्रहण किया है। पाठ-सम्पादन हो जाने के उपरान्त एक विमर्श में उन्होंने बताया कि अब उन्हें 'मने' पाठ ही ठीक प्रतीत होता है। वास्तव में विधि अनुसार काम न होने पर स्वरुचि प्रेरित लाल बुझक्कड़ी को पर्याप्त स्थान मिलता रहता है।

कुछ प्रश्न ·

केशव ग्रथावली खड ३ के सम्पादकीय वक्तव्य तथा उसके तीनों भागों के मूल पाठ और पाठान्तरों के आलोड़न द्वारा यह प्रकट होता है कि विद्वान सम्पादक ने किसी निर्धारित मान्यता के अनुसार पाठ-ग्रहण नहीं किया है प्रत्युत जहाँ जिस प्रति का पाठ ठीक लगा है उसे ग्रहण कर लिया है। इस प्रकार जो पाठ प्रस्तुत किया गया है वह उत्तम कोटि का तो है, पर यह उत्तमता कविकृत है या प्रतिलिपिकार कृत इस सम्बन्ध मे कुछ साधार नहीं कहा जा सकता। इसके साथ ही पाठ ग्रहण के इस स्वातन्त्र्य के कारण ग्रथावली के पाठ मे कुछ महत्वपूर्ण प्रश्नों का समाधान नहीं हो पाता, जैसे,

केशव के भिन्न भिन्न रचनाओं मे बहुत से छद सामान्य पाठान्तर के साथ पुनरावृत्त हुए हैं। कभी-कभी तो एक ग्रन्थ की हस्तलिखित प्रति मे एक अध्याय के रूप मे मिलने वाला पाठ आगे चल कर स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में प्रचलित हो गया है। जैसे 'कविप्रिया' के हस्तलेखों मे कभी कभी नखशिख और शिखनख दोनों मिलते हैं। बाद मे कविप्रिया से ये दोनों ही अलग हो गए हैं और स्वतन्त्र रूप से इनकी प्रतियाँ उपलब्ध होती हैं। केशव के काव्य की प्रवृत्तियों को देखते हुए यह असम्भव नहीं प्रतीत होता कि किसी रचना के छन्दों को किसी लक्षण-ग्रथ में पुनः अलकार या छन्दादि के उदाहरण के रूप मे उद्धृत कर दें। पर इस दशा मे या तो दोनों स्थल पर पाठ एक ही होगा या बाद मे प्रस्तुत किया गया पाठ उत्कृष्टतर होगा। ग्रथावली मे प्रस्तुत पाठों में जब एक ही छन्द विभिन्न रचनाओं में दुहराए गए हैं तो उनमे पाठ भेद पर्याप्त है और कभी कभी तो रचना क्रम मे पहले की रचनाओं का पाठ उत्कृष्ट है और बाद की रचनाओं मे सग्रह होते समय पाठ उससे बिगड़े हुए रूप मे प्रस्तुत हुआ है।

इसके अतिरिक्त जिन ग्रथों के सम्बन्ध में मिश्रजी का यह अनुमान है कि वे बाद में केशवदास द्वारा अलग से ग्रथ बना दिए गए होंगे, उनके बारे में भी कुछ साधार नहीं कहा जा सकता है। केवल अनुमान ही अनुमान लगाया जा सकता है।

मिश्रजी पाद-टिप्पणी में लिखते हैं कि यह छन्द कई हस्तलेखों में नहीं है। तो प्रश्न उठता है कि जिनमें यह छन्द है उनको ही आप किस आधार पर प्रमाण मानकर इसको ग्रहण करते हैं? कदाचित् यह इसीलिए ग्रहण किया गया है कि केशव ने एक अक्षर का छन्द, दो अक्षर का छन्द आदि क्रम से कुछ छन्दों को प्रस्तुत किया है। इस दृष्टि से तो दीन जी द्वारा प्रस्तुत पाठ अधिक ठीक प्रतीत होता है। कदाचित् दीन जी वाला पाठ किसी हस्तलेख में प्राप्त न होने के कारण ग्रथावली में ग्रहण नहीं किया गया है। इस सम्बन्ध में भी कुछ साधार नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार रामचन्द्र चन्द्रिका के पाठ में छन्दों के शीर्षक आदि लगाने के सम्बन्ध में भी सभी हस्तलेख एकमत नहीं हैं।

'छन्द माला' पिंगलशास्त्र का ग्रथ है इसलिए उसके पाठो को छन्द के उदाहरण के अनुरूप ही प्रस्तुत करने का प्रयास, आवश्यक नहीं कि मूलपाठ तक पहुँचने मे सहायक ही हो। यदि कवि ने स्वय छन्द के नियमों की अवहेलना की हो तो नियमों का अनुगमन कितना उपयोगी होगा यह एक प्रश्न है। इस सम्बन्ध मे सम्पादक जी का कथन है :

'पिंगलशास्त्र होने के कारण छन्दमाला के सम्पादन में बहुत अधिक श्रम करना पड़ा। प्रयास यह रहा है कि प्रत्येक छन्द का लक्षण उसके उदाहरण से मिल जाए।'[1]

ग्रन्थावली या किसी भी ऐसे सम्पादन पर ठीक प्रकार से विचार तभी किया जा सकता है जब सपूर्ण सम्पादन-सामग्री उपलब्ध हो। इसके अभाव में केवल सामान्य बाहरी गुण एव दोषों का विवेचन ही किया जा सकता है। इस पाठ के सबध में इतना ही कहा जा सकता है कि यह अत्यन्त सुगठित पाठ होते हुए भी पाठ एव प्रक्षेप सबधी अनेक प्रश्नों से युक्त है।

———

[1] के ग्र, खण्ड ३, (सन्धा) पृ १२।

प्रक्षेपों से मुक्त होगा ।'[1] डॉ किशोरीलाल गुप्त द्वारा प्रस्तुत 'शिवसिंह सरोज' का पाठ लगभग इसी ढग का कार्य है ।

अपने पीएच डी के प्रबन्ध के रूप में 'शिवसिंह सरोज' की तिथियों एवं विवरणों पर शोध-कार्य करते हुए, डॉ गुप्त का ध्यान 'सरोज' के मूलपाठ की ओर गया । उन्होंने देखा कि 'सरोज' के विभिन्न सस्करणों में जो पाठ प्राप्त हैं, वे कहीं कहीं अत्यन्त भ्रष्ट हैं तथा उन्हें कभी भी सरोजकार के मूलपाठ के रूप में नहीं स्वीकार किया जा सकता । साथ ही उसके भिन्न-भिन्न सस्करणों में बहुलता से पाठ-भेद मिलते हैं तथा कहीं-कहीं तो प्रक्षेप भी स्पष्ट दृष्टिगत होते हैं । इस प्रकार के अशुद्ध एव अप्रामाणिक पाठ शोध के आधार नहीं बन सकते थे । अतः अपना शोध-प्रबन्ध 'सरोज सर्वेक्षण'[2] प्रस्तुत करने के साथ ही उन्होंने 'सरोज' के विभिन्न सस्करणों के पाठों की तुलनात्मक परीक्षा करके उसके सभाव्य पाठ को भी प्रस्तुत किया । इस पाठ के निर्धारण में डॉ गुप्त को कोई भी हस्तलिखित प्रति नहीं मिली । एक हस्तलिखित प्रति जिसमें केवल सग्रह खण्ड है काँथा में सेगर जी के वशजों के पास उन्हें देखने को मिली थी, पर वह पुस्तक चूँकि उपयोग के लिए सुलभ नहीं थी, अतः उसका भी उपयोग सम्भव नहीं हो सका । अन्त में उन्हे अपने कार्य को 'सरोज' के उपलब्ध चार सस्करणों के पाठ तक ही सीमित रखना पड़ा । निश्चय ही यह पाठ 'स्टाप गैप' ( अस्थाई पाठ ) के रूप में ही स्वीकार किया जा सकता है तथा शिवसिंह सेंगर के स्वहस्तलेख की प्रति या उसकी अन्य किसी निकटतम प्रतिलिपि के प्राप्त हो जाने पर उसमें कुछ परिवर्तन की भी संभावना हो सकती है ।

इस ग्र थ के सपादन में सम्पादन की वैज्ञानिक कही जाने वाली विधि का प्रयोग तो पूर्णत. संभव नही था, पर सम्पादन के नियमों का प्राय ध्यान रखा गया है । सम्पादक ने प्रारभिक वक्तव्य मे ही कहा है ·

---

[1] Some texts or portions of the text of old writers are known only from printed books By methodical employment of these means, we shall arrive at a text, different from any existing one It will not be the best one, possible or existing, nor necessarily even a good one But it will be old one according to the direct line of transmission and the purest in the sense of being the freest from the traceable errors of coping and unauthorized improvements

—Encyclopaedia Britannica, Vol 22

[2] हिन्दुस्तानी एकेडमी, प्रयाग से प्रकाश्यमान ।

## ५

# शिवसिंह सरोज[1]

अब तक जिन हिन्दी संपादनों का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है उनमें शिवसिंह सरोज का पाठ संपादन सबसे भिन्न है। सर्व प्रथम, अब तक पद्य रचनाओं के संपादन पर विचार हुआ है और यह संपादन एक गद्य पद्य रचना का है, जिसमें हिन्दी के साहित्यकारों का परिचय दिया गया है तथा उनके काव्य के कुछ उदाहरण संकलित किए गए हैं। वस्तुतः इसमें भी पाठ समस्याएँ प्रमुख रूप से पद्य के उद्धरणों के संबंध में उठी हैं, पर यदा-कदा गद्यांश में भी कुछ समस्याएँ दृष्टिगोचर हुई हैं। दूसरे, इसमें यह देखा जा सकता है कि रचयिता के जीवनकाल में मुद्रित कृति में भी आगामी संस्करणों के सम्पादकों द्वारा किस प्रकार हस्तक्षेप एवं प्रक्षेप होता रहता है तथा इस प्रकार के हस्तक्षेपों से युक्त रचना को पुनः संपादित करने की कितनी आवश्यकता होती है। तीसरे, यहाँ यह भी देखा जा सकता है कि जहाँ हस्तलिखित प्रतियाँ न प्राप्त हों तो विभिन्न प्रकाशित संस्करणों के आधार पर भी मूल-पाठ के निकट पहुँचने का प्रयास किया जा सकता है। पर ऐसी दशा में संपादन करते समय रचयिता के मूल पाठ की प्राप्ति का प्रयत्न प्रामाणिकता पूर्वक होना चाहिए तथा संपादन के स्वीकृत मानदंडों को सदैव दृष्टिपथ में रखना चाहिए। इस संबन्ध में डॉ० पोस्टगेट ने भी स्वीकार किया है कि 'कुछ पाठ तथा प्राचीन लेखकों के पाठों के कुछ अंश केवल मुद्रित ग्रंथों में उपलब्ध होते हैं। इन साधनों (पाठालोचन) के विधिवत प्रयोग द्वारा, हम उपलब्ध पाठ से सर्वथा भिन्न पाठ प्राप्त कर सकते हैं, जो सर्वश्रेष्ठ उपलब्ध या संभाव्य पाठ नहीं होगा और न तो अनिवार्यतः वह श्रेष्ठ पाठ ही होगा। पर प्रतिलिपि-परंपरा के अनुसार वह एक प्राचीन पाठ अवश्य होगा तथा इस अर्थ में शुद्धतम पाठ भी कहा जा सकता है कि यह पाठ प्रतिलिपिकर्ता की बोधगम्य भूलों तथा अनधिकारिक

१. सम्पादक, डॉ. किशोरीलाल गुप्त, ( अभी अप्रकाशित )

प्रक्षेपों से मुक्त होगा ।'[1] डॉ किशोरीलाल गुप्त द्वारा प्रस्तुत 'शिवसिंह सरोज' का पाठ लगभग इसी ढग का कार्य है ।

अपने पीएच डी. के प्रबन्ध के रूप में 'शिवसिंह सरोज' की तिथियो एवं विवरणों पर शोध-कार्य करते हुए, डॉ गुप्त का ध्यान 'सरोज' के मूलपाठ की ओर गया । उन्होंने देखा कि 'सरोज' के विभिन्न सस्करणों में जो पाठ प्राप्त हैं, वे कहीं कहीं अत्यन्त भ्रष्ट हैं तथा उन्हें कभी भी सरोजकार के मूलपाठ के रूप में नहीं स्वीकार किया जा सकता । साथ ही उसके भिन्न-भिन्न सस्करणों में बहुलता से पाठ-भेद मिलते हैं तथा कहीं-कहीं तो प्रक्षेप भी स्पष्ट दृष्टिगत होते हैं । इस प्रकार के अशुद्ध एव अप्रामाणिक पाठ शोध के आधार नहीं बन सकते थे । अतः अपना शोध-प्रबन्ध 'सरोज सर्वेक्षण'[2] प्रस्तुत करने के साथ ही उन्होंने 'सरोज' के विभिन्न सस्करणों के पाठों की तुलनात्मक परीक्षा करके उसके सभाव्य पाठ को भी प्रस्तुत किया । इस पाठ के निर्धारण में डॉ. गुप्त को कोई भी हस्तलिखित प्रति नहीं मिली । एक हस्तलिखित प्रति जिसमें केवल संग्रह खण्ड है कॉथा में सेंगर जी के वंशजों के पास उन्हें देखने को मिली थी, पर वह पुस्तक चूँकि उपयोग के लिए सुलभ नहीं थी, अतः उसका भी उपयोग सम्भव नहीं हो सका । अन्त में उन्हे अपने कार्य को 'सरोज' के उपलब्ध चार सस्करणों के पाठ तक ही सीमित रखना पड़ा । निश्चय ही यह पाठ 'स्टाप गैप' ( अस्थाई पाठ) के रूप में ही स्वीकार किया जा सकता है तथा शिवसिंह सेंगर के स्वहस्तलेख की प्रति या उसकी अन्य किसी निकटतम प्रतिलिपि के प्राप्त हो जाने पर उसमे कुछ परिवर्तन की भी सभावना हो सकती है ।

इस ग्रथ के सपादन में सम्पादन की वैज्ञानिक कही जाने वाली विधि का प्रयोग तो पूर्णतः संभव नही था, पर सम्पादन के नियमों का प्राय. ध्यान रखा गया है । सम्पादक ने प्रारभिक वक्तव्य में ही कहा है :

[1] Some texts or portions of the text of old writers are known only from printed books By methodical employment of these means, we shall arrive at a text, different from any existing one It will not be the best one, possible or existing, nor necessarily even a good one But it will be old one according to the direct line of transmission and the purest in the sense of being the freest from the traceable errors of coping and unauthorized improvements

—Encyclopaedia Britannica, Vol 22

[2] हिन्दुस्तानी एकेडमी, प्रयाग से प्रकाश्यमान ।

'सरोज के इस सस्करण के सम्पादन मे निम्नाकित सामग्री का उपयोग किया गया है

(१) शिवसिह सरोज—प्रथम सस्करण—अप्रैल १८७८।
(२) शिवसिंह सरोज—द्वितीय सस्करण—१८७८ एव १८८३ के बीच।
(३) शिवसिंह सरोज—तृतीय सस्करण—नवम्बर १८८३।
(४) शिवसिंह सरोज—सप्तम सस्करण—१६२६ ई०।

इन चारो सस्करणों के प्रथम और द्वितीय में पर्याप्त साम्य है, इसी प्रकार तृतीय और सप्तम मे भी। मैने जहाँ तक हो सका है प्रथम सस्करण को ही प्रमाण माना है क्योंकि यह सस्करण शिवसिह सेंगर के जीवन-काल में प्रकाशित हुआ था और इसी को उनके द्वारा प्रस्तुत प्रेस-प्रति के सर्वाधिक निकट होना चाहिए। अन्य सस्करण सरोजकार द्वारा प्रस्तुत प्रेस-प्रति से निरतर दूर भागते गए हैं।' इस वक्तव्य से इतना स्पष्ट है कि सम्पादक सरोजकार के मूल पाठ के अनुसधान का व्रती है। इस पाठ के सम्पादक ने अपनी शोध के प्रसङ्ग में यह सिद्ध कर दिया है कि वैज्ञानिक पाठ के निरूप के बिना शोध और समीक्षा का क्षेत्र प्राण-हीन है। सरोज के मूल पाठ मे दिए गए सवतो के साथ लिखा गया 'स उ०' कवियों के उपस्थिति-काल का द्योतक है न कि उनके उत्पत्ति-काल का। इसी भाँति सरोज के मूलपाठ में सर्वत्र सवतों के साथ 'स उ०' नहीं था। इनमें से अधिकाश को डॉ गुप्त ने बाद का प्रक्षेप सिद्ध किया है। पर मूलपाठ की इस गड़बडी के कारण हिन्दी-साहित्य के इतिहासों का सम्पूर्ण प्रवाह ही दोष पूर्ण होगया।[1]

'सरोज' का पाठ तीन भागों में विभक्त है (१) भूमिका (२) काव्य-सग्रह (३) जीवन-चरित्र। भूमिका और जीवन-चरित्र गद्य में हैं तथा काव्य-स ग्रह खड में अनेक कवियो के नाम के साथ उनकी रचनाओं के स्फुट उदाहरण सङ्कलित हैं। विद्वान सम्पादक ने 'सरोज' के सम्पादन के साथ ही भूमिका तथा टिप्पणियों में सरोजकार की भूलो का भी निर्देश किया है। कहीं-कहीं कवियों का जीवन-वृत्त गलत दिया गया है, कहीं एक ही नाम के दो कवियों को एक समझ लिया गया है, कहीं एक ही कवि दो नामों से व्यक्त किया गया है और कहीं एक कवि के नाम के साथ दूसरे कवि की रचनाओं के उदाहरण सङ्कलित कर दिए गए हैं। इन शोधों के लिए उसने अन्य स ग्रह-ग्रथों, हस्तलिखित ग्रन्थों तथा खोज-विवरणों का सहारा लिया है। इस ढग से उसने 'सरोज' का सम्पादन ही नहीं किया है, प्रत्युत सरोजकार की भूलो की मीमासा भी की

[1] सरोज-सर्वेक्षण।

है। इन विषयों पर विचार करना, कुछ अप्रासंगिक होगा । अतः यहाँ सरोज के मूलपाठ-निर्णय की विधि एवं सफलताओं पर ही विचार किया जायगा।

गद्य-खण्ड—ऊपर उद्धृत सम्पादक के वक्तव्य से यह स्पष्ट है कि वह सरोज के प्रथम सम्करण को ही आधार बनाता है। प्रथम संस्करण के गद्य-खण्ड का पाठ श्री रूपनारायण पाण्डेय सम्पादित सप्तम संस्करण में पर्याप्त परिवर्तित कर दिया गया है। इस सम्बन्ध में संपादक महोदय ने लिखा है कि 'उपलब्ध सप्तम संस्करण में शिवसिंह जी का सारा गद्य सँवार दिया गया है, शब्द बदल दिए गए हैं, शब्दों का संशोधन कर दिया गया है, शब्दों का स्थान-परिवर्तन कर दिया गया है, शब्दों को पूर्णतया निकाल दिया गया है।.. इसे सरोजकार का प्रामाणिक गद्य नहीं कहा जा सकता।'[1] इस निष्कर्ष के साथ उन्होंने गद्य-खण्डों में प्रायः प्रथम-संस्करण का ही पाठ स्वीकार किया है। गद्य के पाठ में उन्होंने शब्दों का वर्ण विन्यास भी प्रायः प्रथम संस्करण का ही स्वीकार किया है, पर एक हस्तक्षेप अवश्य किया है जिसका उल्लेख भूमिका में इस प्रकार किया गया है, 'मैंने इस संस्करण की लेखन-पद्धति में थोड़ा सा अन्तर कर दिया है। प्रथम-संस्करण में सर्वत्र 'जिस्मे' है, मैंने इसे 'जिसमें' रूप में स्वीकार किया है, इसी प्रकार प्रथम संस्करण में सर्वत्र 'हुवा' है जिसे मैंने 'हुआ' कर दिया है। अन्यत्र वर्ण-विन्यास आदि प्राय. ज्यों का त्यों है।' संपादक का यह किञ्चित हस्तक्षेप भी संपादन-सिद्धान्त के प्रतिकूल है। हम देख चुके हैं कि प्रथम संस्करण का प्रकाशन सरोजकार के जीवन काल में ही हुआ था और सम्भव है वह लेखक की देख-रेख में हुआ हो। ऐसी दशा में सर्वत्र मिलने वाले रूपों को आधुनिक लेखन-पद्धति के अनुकूल करने के लिए सुधार देना समीचीन नहीं। हम 'पाठ सुधार' शीर्षक के अन्तर्गत देख चुके हैं कि प्रायः मिलने वाली व्याकरण छन्द-भाषा आदि की भूलें इतनी गहरी होती हैं (अर्थात् लेखक-कृत होती हैं) कि उनका सुधार नहीं होना चाहिए। विशेषतः प्रस्तुत संशोधन के पूर्व का रूप तो निश्चय ही सरोजकार द्वारा प्रयुक्त लगता है। प्राचीन कवियों में, यहाँ तक कि श्रीधर पाठक तक की कविताओं में, 'जिस्में' का प्रयोग मिलता है। भाषा वैज्ञानिकों के अनुसार तो 'जिसमें' और 'किसमें' का यथार्थ उच्चरित रूप 'जिस्में' और 'किस्में' ही है।

पद्य अंश—किसी भी संपादन में प्रक्षेपों का निराकरण अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य होता है। प्राप्त प्रतियों के साक्ष्य पर तो यह कार्य किया ही जाता है, पर इसमें अत्यन्त योग्यता एवं सूझबूझ की आवश्यकता होती है। शिवसिंह सरोज के

[1] शिवसिंह सरोज, (संपादकीय वक्तव्य)।

प्रथम सस्करण तथा द्वितीय सस्करण में कुल ९९८ कवि हैं। तृतीय मे चार कवि और बढ़ गए है तथा सप्तम में एक और कवि बढ़ा दिया गया है और कुल सख्या १००३ हो गई है। स्पष्ट ही यह क्रमागत वृद्धि प्रक्षेप प्रतीत होती है। अन्तर्साक्ष्य के आधार पर भी डॉ गुप्त ने यह सिद्ध किया है कि ये बढे हुए कवि कोई नवीन कवि नहीं हैं, बल्कि पहले वर्णित कवियों के पुनरावर्तित रूप मात्र हैं। ये पाँच बढे हुए कवि हैं—कृष्ण प्राचीन, गदाधार कवि, पंचमकवि डलमऊ वाले, महाराजा वीरवर, मदनगोपाल कवि चरखारी वाले।

पद्माश के सपादन मे डॉ गुप्त ने सर्वप्रथम विभिन्न सस्करणों में प्राप्त विभिन्नताओं को देखा और यह स्पष्ट करने की चेष्टा की कि ये भिन्नताएँ किन कारणों से उपस्थित हुई। इसके उपरान्त उन भिन्नताओं के समाधान द्वारा मूल पाठ प्राप्त करने की चेष्टा की गई। प्रथम-सस्करण मूल के सर्वाधिक निकट होने के कारण प्राय: वे ही पाठ सर्वाधिक ठीक भी मिले और उसी सस्करण की लेखनप्रमाद या अन्य निश्चेष्ट विकृतियों के कारण अन्य सस्करणों के पाठों मे अन्तर आ गया है। पर कहीं-कहीं प्रथम सस्करण के पाठ से अधिक उपयुक्त पाठ सप्तम सस्करण में मिला जिसे डॉ गुप्त ने स्वीकार किया है, पर ऐसे स्थल बहुत कम हैं।

सप्तम सस्करण के तीन प्रकार के पाठों को इस सस्करण के सपादक ने ग्रहण किया है। सर्वप्रथम तो उन स्थलों पर जहाँ प्रथम, द्वितीय मे अर्द्धतत्सम शब्द मिलते हैं, तृतीय में तत्सम रूप कर दिया गया है तथा सप्तम मे उनका पूर्ण तद्भव रूप कर दिया गया है। जैसे,

| प्र० | द्वि० | तृ० | सप्तम |
|---|---|---|---|
| सुरेश | सुरेश | सुरेश | सुरेस |
| फनेश | फनेश | फणेश | फनेस। |

ऐसे स्थलों पर प्राय ब्रजभाषा काव्यों मे सम्पादक ने सप्तम सस्करण का ही पाठ स्वीकार किया है क्योंकि वही रूप ब्रजभाषा की प्रकृति के अनुसार है। दूसरे, प्रथम सस्करण के पाठों मे परम्परा के विरुद्ध 'ज' के स्थान पर 'य' का प्रयोग किया गया है, जैसे 'जोति' को 'योति', 'जुगुति' को 'युगुति', 'जतु' को 'यतु' आदि। ऐसे स्थानों पर सम्पादक ने सप्तम सस्करण के जकारी रूप को ही ग्रहण किया है। तीसरे, सप्तम सस्करण में पूर्ववर्ती सस्करणों के पाठों मे जहाँ कहीं भी छन्द-भंग या यति भंग सम्बन्धी दोष मिले हैं, उन्हें शब्दों की [illegible], स्थान परिवर्तन या शब्द लोप करके ठीक करने का प्रयास किया गया है।

इन तीनों ही दशाओं मे सप्तम संस्करण के सम्पादक का हस्तक्षेप दर्शनीय है। चूँकि 'सरोज' रचनात्मक कृति न होकर एक संकलन-ग्रन्थ मात्र है, अतः इस संकलन में सरोजकार ने किसी कवि की कृति का उदाहरण उसके मूलरूप से कुछ बदल कर दे दिया हो और इसका प्रमाण किसी अन्य संग्रह-ग्रंथ या रचयिता की मूलकृति द्वारा मिल जाय तो सम्पादक द्वारा ऐसा संशोधन स्वीकृत हो सकता है। कारण यह कि ऐसी दशा में सरोजकार का अभीष्ट पाठ रचयिता का मूलपाठ ही रहा होगा, प्रमादवश उससे भूल हो गई होगी, यह कल्पना की जा सकती है। पर जब तक कोई प्रमाण न मिल जाय इन संशोधनों को स्वीकार नहीं किया जा सकता। सप्तम संस्करण के ये पाठ जहाँ जहाँ बिना किसी अन्य प्रमाण के स्वीकार किए गए हैं, वे सम्पादन-सिद्धान्तों के अनुकूल नहीं कहे जा सकते। सम्भावना हो सकती है कि यकार का प्रयोग, ब्रजभाषा मे तत्सम शब्दों के प्रयोग तथा छन्द एव यतिभंग मूल लेखक की कृति में रहे हों जिसे सरोजकार ने संकलित किया हो और ऐसे पाठों को कोई भी सम्पादक संशोधित नहीं कर सकता, उसकी भर्त्सना भले ही करे। ध्यान रहे कि यकार आदि रूप सर्वत्र नहीं आए हैं। डॉ गुप्त का ही उदाहरण है :

'अवनि अकास के प्रकासित बनाए पला
दिसन की जोती 'कान्ह' ओज अति ऊरोभो।' ( प्रथम संस्करण )

अधिकांश स्थलों पर प्रथम संस्करण का पाठ ठीक है। पाठ निर्धारित करते हुए डॉ गुप्त ने छन्दों के अर्थ का पूरा पूरा ध्यान रखा है। बहुत से स्थल तो ऐसे मिले हैं जहाँ पर किसी भी संस्करण का पाठ ठीक नहीं था और उन स्थलों पर उन्होंने सम्भावित पाठ विकृतियों की मीमांसा करके उचित पाठ ढूँढ निकाला है। वास्तव में ये ही प्रसंग ऐसे है जहाँ इस संस्करण के सम्पादक की वास्तविक प्रतिभा के दर्शन होते है। ऐसे स्थल एक-दो नहीं तो अनेक हैं जहाँ पर सभी पाठ भ्रष्ट थे और विद्वान सम्पादक को उन स्थलों का वास्तविक पाठ प्राप्त करने में पूरी-पूरी सफलता मिली है। ऐसे स्थल लेखानुसंगति तथा अर्थानुसंगति दोनों ही दृष्टियों से प्रामाणिक हैं और स्वयं सम्पादक ने उन संगतियों का विवेचन पाद-टिप्पणियों में कर दिया है। ऐसे स्थलों के दो-चार उदाहरण पर्याप्त होंगे।

(१) 'सरोज' के प्रथम कवि अकबर कवि, श्री मोहम्मद जलालुद्दीन अकबर बादशाह हैं। उनके छन्दों के 'संकलन' में इस संस्करण का स्वीकृत छन्द है :

'केलि करै, बिपरीत रमै, सु'अकब्बर' क्यों न रती सुख पावै।
कामिनि की कटि किंकिनि कान किधौं गति प्रीतमके गुन गावै।
बेदी छुटी तनिमे सुललाट तें, यों लट मे लटकी लगि आवै।
मानि-मनोज मनो चित मे, छबि चंद लए चकडोरि चलावै।।'

नरती के स्थान पर प्र, तृ और स में नदती पाठ है। अकबर कवि के छन्दों के तीनों उदाहरण 'दिग्विजय भूषण' से लिए गए हैं। वहाँ ये तीनों इसी क्रम में 'सर्वरति' के उदाहरण में दिए गए हैं। वास्तव में न रती को भूल से प्रथम सस्करण के प्रतिलिपिकार ने, र और द की वर्ण-समता के कारण, नदती पढ़ लिया और यही पाठ चलता रहा।

(२) अयोध्याप्रसाद वाजपेयी का एक स्वीकृत छन्द है :

'घनस्याम घटा सी, छटा सी दुकूल प्रकासत 'औध' विलाजत हीं।
बिन देखे छमा सो छमासी पला, उपहासी की नासी न काजत ही ॥
मृदुहाँसी की फाँसी में फाँसी फिरै, सुखमा सी उदासी न साजती ही।
विपबासी,ये गाँसी सिखासी हिए लगै, बाँसी बिसासी के बाजत ही ॥'

प्र विषबाँसी > विबबाँसी ( तृ ) > विबिबाँसी ( स )

इसमें प्रथम सस्करण के 'ष' को भ्रम से 'ब' पढ़ लिया और सप्तम सस्करण में उसे सुधार कर 'वि' कर दिया गया। प्रथम सस्करण का 'विषबाँसी' पाठ भी अभीष्ट अर्थ देने मे समर्थ नहीं है। मूलपाठ 'विषबासी' था। वास्तव में यह भी पाठ 'दिग्विजय-भूषण' से लिया गया है और वहाँ 'विषबासी' पाठ ही है।

(३) कविराज कवि का एक स्वीकृत छन्द है जिसमें कायस्थ जाति के विभिन्न उपवर्गों का नाम गिनाया गया है :

'मेरु सकसेना श्रीवास्तव भटनागर हैं,
रोशन कलम रहै सबकी सबार की।
गौर अपठाने जग जाहिर बखाने बहु,
बचन अडोल बात कहैं उपकार की ॥
माथुर की माहमा कही न जात 'कविराज,'
कीरति विमल जाकी सदा गुलजार की।
धरम धुरन्धर धरा में धरमातमा हैं,
कायथ कलप तरु शोभा दरबार की ॥'

इसमें अपठाने के स्थान पर, प्रथम सस्करण के सपादक को जो प्रतिलिपि मिली उसमें कदाचित् 'प' के पेट की रेखा छूट गई थी और उसे उसने 'य' पढ़ लिया, अतः उसमें अयठाने पाठ हो गया। इसी प्रकार तृतीय में अयढ़ाने पाठ हुआ। सप्तम में पाठ शुद्ध करके अशठाने किया गया। पर लेखानुसगति का ध्यान करके 'अपठाने' पाठ स्वीकार किया गया है।

इसी प्रकार दो ऐसे पाठों का भी उदाहरण प्रस्तुत करना समीचीन होगा,

जहाँ प्रथम सस्करण का पाठ तो ठीक है पर आगामी संस्करणों का पाठ भ्रष्ट हो गया है ।

(१) अब्दुर्रहमान कवि के एक छन्द का स्वीकृत पाठ है :

'माजम छत्रपती सुपति दिल्ली पति जु प्रवीन ।
चक्ता आलम साह सुत कुतुबदीन पद लीन ।।'

माजम (प्र), साजस (तृ एव सप्त)

शुद्ध पाठ माजम ही है जो 'मुअज्जम' का हिन्दीकृत रूप है ।

(२) एक सवैये में अकबर के दरबार के कवियों की गणना कराई गई है । इसके प्रथम चरण का स्वीकृत पाठ है :

'पूपी प्रसिद्ध पुरन्दर ब्रह्म सुधारस अमृत अमृत बानी ।'

इसमें पूपी और प्रसिद्ध दोनों कवियों के नाम हैं । स्वीकृत पाठ ही प्रथम एव द्वितीय सस्करण में मिलता है । तृतीय में प के पेट की रेखा छूट जाने से इसे 'पूयी' पढ़ा गया होगा और इसको 'पूई' रूप में प्रस्तुत किया गया । सप्तम सस्करण में अर्थ की सगति बैठाने के लिए 'पूई' का 'पाई' और 'प्रसिद्ध' का 'प्रसिद्धि' कर दिया गया और पाठ हो गया,

'पाई प्रसिद्धि पुरन्दर ब्रह्म, सुधारस अमृत अमृतवानी ।'

इस प्रकार डॉ गुप्त द्वारा प्रस्तुत 'सरोज' का यह सस्करण अत्यन्त परिश्रम पूर्वक सम्पादित हुआ है और सम्पादक महोदय सरोजकार के अभीष्ट तक पहुँचने में शायद सफल हुए हैं ।

———

# ६

# 'पद्मावत'

सूफी-काव्य-परम्परा के प्रवर्तक एव उस धारा के सर्वश्रेष्ठ कवि मलिक मोहम्मद जायसी की पद्मावत ही हिन्दी जगत में उनकी चिरस्थायी प्रतिष्ठा की पहले एकमात्र आधार थी। बाद में धीरे-धीरे उनके नाम से अखरावट, आखिरी कलाम, महरी बाईसी और चित्ररेखा नामक ग्रन्थ मिले। इधर जायसी के दो अन्य ग्रथों की सूचना मिली है (१) मसलानामा (२) कहरानामा, यही कहरानाम पहले महरी बाईसी के नाम से प्रचलित हुआ था। पहले पद्मावत के ही सपादित सस्करण प्रकाशित हुए किन्तु जैसे जैसे अन्य ग्रन्थों का पता चला कुछ प्रकाशन पद्मावत के साथ उन्हें भी सम्मिलित करके 'जायसी ग्रथावली' के रूप में हुए। जहाँ तक पाठ समस्याओं का प्रश्न है, वे विशेषत पद्मावत के सम्बन्ध में ही उठी हैं और उन्हीं के समाधान का प्रयास किया गया है। शेष रचनाओं की तो साधारणतः एक एक ही प्रतियाँ प्राप्त हुई हैं। अत उनके पाठ पर आलोचनात्मक कार्य सभव ही न था। भाषा-शैली आदि की दृष्टि से तो कभी-कभी यह भी आशका होने लगती है कि वस्तुतः ये ग्रथ जायसी के हैं भी या उनके नाम से प्रचलित मात्र हो गए हैं। इन प्रश्नों का जब तक कोई समाधान नहीं मिलता उन्हें जायसीकृत ही मानना उचित है, किन्तु पाठ-समस्याओं का अध्ययन अभी हमें पद्मावत तक ही सीमित रखना पड़ेगा।

हिन्दुस्तानी एकेडमी प्रयाग द्वारा प्रकाशित जायसी ग्रथावली में डॉ माताप्रसाद गुप्त ने पद्मावत का जो पाठ-सपादन प्रस्तुत किया, उसके पूर्व साधारणतः इस के सम्पादन के दस प्रयास हुए थे। इनमें से विशेष ख्यातिप्राप्त प्रयास दो ही हुए। प्रथम डॉ ग्रियर्सन एव प सुधाकर द्विवेदी द्वारा सपादित एव रायल एशियाटिक सोसाइटी बगाल से प्रकाशित तथा द्वितीय प रामचन्द्र शुक्ल द्वारा सपादित एव नागरी प्रचारिणी सभा वाराणसी द्वारा प्रकाशित जायसी-ग्रथावली में प्रकाशित। इनके अतिरिक्त भी कुछ सपादन के प्रयास विभिन्न व्यक्तियों द्वारा हुए। हम इन सपादनों की विशेषताओं का अध्ययन करेंगे, किन्तु इसके पूर्व पाठालोचन की विधि से निश्चित किए गए

पद्मावत के डॉ गुप्त के सस्करण वाले पाठ का अध्ययन कर लेना सुविधाजनक होगा।

## डॉ गुप्त के संस्करण का पाठ

डॉ गुप्त को पद्मावत की बहुत सी हस्तलिखित प्रतियाँ प्राप्त हुईं, जिनमें कुछ नागरी लिपि मे लिखी थी तथा कुछ अरबी-फारसी लिपि में। इन सपूर्ण प्रतियों का सविस्तर विवरण उन्होंने अपनी 'जायसी-ग्रन्थावली' की भूमिका मे प्रस्तुत किया है। हम उन प्रतियों के नामो के सम्बन्ध में उनके प्राप्तिस्थान या सरक्षक का नाम न लेकर मात्र उन सकेतों से काम लेंगे जिनका प्रयोग, उनके लिए डॉ गुप्त ने किया है। उन्हे जो प्रतियाँ प्राप्त हुई थीं, वे समूहो के अनुसार पाँच कोटियों में पड़ती थीं। प्रथम समूह में दो, द्वितीय में सात, तृतीय मे तीन, चतुर्थ में एक और पचम में एक प्रति पड़ती थी। अत प्रथम समूह की प्रतियों का सकेत क्रमशः प्र १ एव प्र २, द्वितीय समूह का द्वि १, द्वि २, द्वि ३, द्वि ४, द्वि ५, द्वि ६, द्वि ७, तृतीय समूह का तृ १, तृ, २ तृ. ३, चतुर्थ समूह का च २, तथा पचम समूह का प १ सकेत उन्होंने निश्चित किया है।

इन प्रतियों में प्रतिलिपि होने के उपरान्त भी बहुत से परिवर्तन हुए हैं। कहीं-कहीं ऊपर से लिखकर और कहीं-कहीं तो कागज ही खुरचकर परिवर्तन का प्रयास किया गया है। सशोधन के ऐसे स्थलों पर प्रायः पाठ विकृत हो गया है। ऐसी दशा में प्रयासपूर्वक पूर्वपाठ को प्राप्त किया गया है तथा उन्हीं पूर्वपाठों के आधार पर पाठालोचन में सहायता ली गई है।

पाठालोचन का कार्य प्रारम्भ करने के पूर्व कुछ प्रमुख समस्याओं का समाधान कर लेना आवश्यक था जिनके द्वारा पाठ स्थिर करने में सहायता मिलती। इस प्रकार की समस्याओं में प्रमुख रूप से आदि प्रति या मूलप्रति की लिपि का निर्धारण, पद्मावत की भाषा का रुप तथा उसकी छन्द-योजना के नियमो की छानबीन प्रमुख थीं। इन तीनों समस्याओं का समाधान प्रतियों के साक्ष्य से ही किया गया।

मूल-प्रति की लिपि—पद्मावत के सम्पादन मे प्रयुक्त प्रतियों मे तीन को छोड़कर शेष सभी फारसी या अरबी लिपि में लिखा हुई हैं और नागरी लिपि में लिखी हुई प्रतियों में भी ऐसी पाठ-विकृतियाँ लिपि-भ्रम के कारण मिलती हे जो इस बात को सिद्ध करती हैं कि उनकी भी आदर्श प्रति फारसी-अरबी लिपि की रही होगी। इसी बात को देखकर शुक्लजी ने यह निश्चय किया था कि मूल प्रति फारसी लिपि में लिखी गई थी और बाद मे उसे नागरी मे उतारा गया। किन्तु वस्तुस्थिति भिन्न ही है। इन सम्पूर्ण प्रतियों में चाहे वे अरबी-फारसी की हों या नागरी की बहुत से ऐसे विकृत-पाठ

मिलते हैं जो नागरी लिपि की ही आदर्श प्रति के कारण सम्भव हो सकते हैं। इस प्रकार की अनेक विकृतियों का उदाहरण प्रस्तुत करके डॉ॰ गुप्त ने यह सिद्ध किया कि मूल प्रति नागरी लिपि में लिखी हुई रही होगी। उदाहरण के लिए कुछ पाठ देखे जा सकते हैं :

'जनु गुरुचाल जगत महँ पगा,
करँग पीठ टूटहि हियँ डरा।'

समस्त प्रतियों में कुगम के स्थान पर कुरुभ पाठ है। यह भूल नागरी लिपि में ग और भ वर्णों के साम्य के कारण ही सम्भव है। अरबी-फारसी की आदर्श प्रति में यह भूल सम्भव न थी। इसी प्रकार अन्य स्थलों पर भी लिपि भ्रम के कारण निम्न-लिखित भूलें सम्भव हुई हैं :

द्वार > थार
बान > नान
अनचन > अनवन

इस प्रकार के दर्जनों उदाहरण प्रस्तुत करके डॉ॰ गुप्त ने यह सिद्ध किया कि जायसी के पद्मावत की मूल प्रति नागरी लिपि में ही लिखी गई थी किन्तु बाद में उसकी प्रतिलिपियाँ अरबी एवं फारसी लिपियों में भी हुईं और होती रहीं।

**आदि प्रति की भाषा**—आदि प्रति की लिपि की ही भाँति आदि प्रति की भाषा के सम्बन्ध में वस्तुस्थिति जानना अनिवार्य है। साधारणतः जायसी की भाषा अवधी समझी जाती है, जो ठीक भी है। किन्तु उनकी अवधी में प्रायः तीन प्रकार की शब्दावली मिलती है (१) प्राकृत उद्गम के शब्द (२) ग्रामीण अवधी के शब्द (३) हिन्दी में सामान्यतः प्रयुक्त शब्द।

इनके अतिरिक्त विदेशी उद्गम के शब्दों का भी प्रयोग उन्होंने किया है, किन्तु भ्रांतियाँ प्राय प्रथम तीन उद्गम के शब्दों के सम्बन्ध में ही होती हुई देखी जाती हैं। अत. शब्दों की उत्पत्ति न समझने के कारण प्रतिलिपिकारों ने और कभी-कभी सम्पादकों ने भी भूलें की। यथा,

| संस्कृत रूप | | प्राकृत उद्गम से प्राप्त हिन्दी रूप |
|---|---|---|
| हिम | > | हेम |
| कागज | > | कागर |
| आख्यान | > | अखान |
| पर्वत | > | पव्वै |
| क्रीड़ा | > | किरीरा |

धमार > धमारी
अकुरित > अकूरा

इन शब्दों के प्रयोग को समझने में जो भूलें हुई, उनका कारण यही था कि कि जायसी की भाषा को समझने में ही भूल हुई है। शब्दों की ही भाँति व्याकरण के जो रूप जायसी ने प्रयुक्त किए थे उनके सम्बन्ध में भी भ्रम देखा जाता है। इसीलिए निम्नलिखित प्रकार के प्रयोगों को ठीक-ठीक नहीं समझा गया :

भाषा = कहा हुआ
भुलान = भूला हुआ
अत = अत में

इस प्रकार आदि प्रति की भाषा एव उसके प्रयोगों को समझाने का प्रयास पाठालोचन ने किया।

**आदि प्रति की छन्द-योजना**—पद्मावत की छन्द योजना दोहा और चौपाई की है। किन्तु इनके सम्बन्ध में जो दृढ़ नियम इस समय देखा जाता है, उसका पालन जायसी ने नहीं किया है। उन्होंने दो दोहे के बीच चौपाई के चरणों की सख्या में तथा दोहे-चौपाइयों की मात्राओं में भी पर्याप्त स्वातन्त्र्य दिखलाया है। इस प्रकार की स्वतन्त्रता का दर्शन हमें तुलसीदास तक प्राप्त होता है। कुछ छन्द ऐसे हैं जो नियम के अनुसार ठीक नहीं हैं किन्तु उनका प्रत्येक शब्द सार्थक है। फिर भी छन्द के नियम की कसौटी पर कसने के लिए सपादकों ने मनमाना परिवर्तन किया है। उदाहरणार्थ, निर्धारित पाठ है :

'मुहमद तहा निचिन्त पथ, जेहि सग मुरसिद पीर।
जेहिं रे नाव करिया और खेवक, वेगि पाव सो तीर।।'

इसमें तीसरे चरण में शब्द एव मात्रा दोनों अधिक हैं किन्तु यह पाठ परीक्षा करने पर मूल पाठ सिद्ध हुआ। अतः इसमें छन्द के सामान्य नियमों के पालनार्थ परिवर्तन करना ठीक नहीं था। इस प्रकार अन्य निर्धारित पाठ है :

'सेवरा खेवरा वान परस्ती, सिध साधक अवधूत।
आसन मारि बैठि सब, जारि आतमा पूत।।'

इसमें प्रथम चरण में मात्राएँ अधिक हैं तथा तृतीय में कम हैं।

इस प्रकार प्रारम्भ में ही यह समझ लेने की आवश्यकता है कि जायसी की मूलप्रति में ही छन्द-विधान में नियमों की शिथिलता मिलती है। अतः उनमें अनावश्यक हस्तक्षेप पाठालोचक की कार्य सीमा के बाहर पड़ता है। इन प्रारम्भिक बातों के उपरान्त पाठालोचक का मूल कार्य प्रारम्भ हुआ।

**प्रतिलिपि-सम्बन्ध**—पद्मावत की प्रतियों में एक विशेषता सामान्य रूप से मिलती है कि उनमें एक प्रतिलिपि के कई-कई आदर्श रहे हैं। इस आदर्श बाहुल्य के कारण निश्चेष्ट विकृतियों का उतना स्पष्ट निराकरण नहीं हो सकता है, फिर भी भूलें क्रमानुसार एकाधिक प्रतियों में मिलती चली गई हैं। उदाहरणस्वरूप निम्न-लिखित निर्धारित पाठ को लिया जा सकता है

'गुनी न कोई आपु सराहा।
जो सो बिकाइ कहा सो चाहा।।'

इसके स्थान पर प्र १ एव प्र २ मे पाठान्तर है :

'सुवे सो आपन गुन दरसावा।
हीरामनि तव नाम कहावा।।'

इस पाठान्तर की अर्द्धली का द्वितीय चरण अन्यत्र भी आया है। अत ऐसा प्रतीत होता है कि यह पाठान्तर पाठ विकृति के कारण सम्भव हुआ, जो प्रतिलिपि-सम्बन्ध के कारण प्र १ एव प्र २ दोनों मे आ गया। इसी प्रकार अन्य पाठ है :

'रानी उतर मान सों दीन्हा।
पडित सुआ मजारी लीन्हा।।'

इसके स्थल पर द्वि २ में पाठान्तर है :

'वेगि सुआ ले आवहु रानी।
नीद परै कुछ कहै कहानी।।'

यह बाद वाला पाठ प्रसगानुकूल नहीं है। इसी छन्द में आगे की एक अर्द्धाली का पाठ है

'रुहिर चुवै जब जब कह बाता।
भोजन बिनु भोजन मुख राता।।'

किन्तु तृ २ में इसके स्थान पर पाठ है :

'ऐसे भएउ तू नहि उठि आनी।
नीद परै कुछ कहै कहानी।।'

प्रतीत होता है कि द्वि २ और तृ २ के समान आदर्श वाली प्रति के हाशिए में यह पाठ लिखा रहा होगा। और एक ने इसे एक स्थल पर तथा दूसरे ने अन्य स्थल पर स्थानापन्न कर दिया। "इस प्रकार की सामान्य पाठ-विकृतियों के अध्ययन द्वारा डॉ गुप्त ने इन प्राप्त प्रतियों को चार पीढ़ियों की प्रतियों के रूप मे निर्धारित किया। ये स्तर क्रमश: निम्नलिखित हैं :

(१) प १, तृ १, तृ २, तृ ३, च १।

नहीं, किन्तु यहाँ पीढ़ियों का जो क्रम प्रतिलिपि-सम्बन्धों की परीक्षा द्वारा निर्धारित होता है, लगभग वही क्रम प्रक्षेप-सम्बन्ध के आधार पर भी निर्धारित होता है।

**पाठान्तर सम्बन्ध**—पाठान्तरों के परस्पर सबंध का निर्धारण करते समय डॉ. गुप्त ने लिखा है, 'विभिन्न प्रतियों में ऐसे पाठान्तर मिलते हैं जिनके अप्रामाणिकता होने की सभावना उतनी स्वतः सिद्ध नहीं है। ऐसी दशा में उनके आधार पर प्रतियों का पाठ सबंध तभी माना जा सकता है जब अशुद्धि-साम्य के ये स्थल बहुतायत से हों और अशुद्धियाँ यदि कवि द्वारा सर्वथा असभव नहीं तो कम से कम सभव अवश्य मानी जा सकती है।' इस पूर्व-धारणा के आधार पर डॉ गुप्त ने कई पाठान्तरों का विवेचन किया और उनका निष्कर्ष इस प्रकार है .

इनमें से बीस पाठान्तर तो प्रतिलिपि तथा प्रक्षेप दोनों सम्बन्धों से सिद्ध हैं तथा सत्ताइस केवल प्रतिलिपि सम्बन्ध से तथा दो केवल प्रक्षेप-सम्बन्ध से सिद्ध हैं। शेष चौदह स्थलों के पाठान्तरों का भी वैज्ञानिक विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

इस प्रकार उन्होंने इन सम्बन्धों के आधार पर पद्मावत का पाठ प्रस्तुत किया और यह माना कि सामान्यतः प्रथम पीढ़ी की प्रतियों से सहायता ली जा सकती है। आवश्यकता पड़ने पर द्वितीय पीढ़ी की प्रतियों से सहायता ली जा सकती है। तृतीय और चतुर्थ पीढ़ी की प्रतियाँ पाठ-निर्धारण में उपयोगी नहीं मानी गई हैं। इस सिद्धात के अनुगमन द्वारा पाठ-प्रस्तुत करने के उपरान्त कुछ स्थलों पर पाठ-सुधार भी करना पड़ा है जिनमें से कुछ का विवेचन पाठ सुधार शीर्षक के अन्तर्गत किया जा चुका है।

**ग्रियर्सन का सस्करण**—यह सस्करण पद्मावत के अधूरे पाठ का ही सम्पादन है। इसमें डॉ गुप्त द्वारा सम्पादित सस्करण का २७४ छन्द तक ही पाठ है। गुप्त जी को प्राप्त विभिन्न प्रतियों में से, जिनका उल्लेख हो चुका है, उन्हें निम्नलिखित प्रतियाँ प्राप्त थीं :

(१) तृ १, तृ २।
(२) द्वि २, द्वि ३।
(३) द्वि ४, द्वि ५।
(४) प्र १।

इनके अतिरिक्त उन्हें तीन कैथी लिपि की तथा एक उदयपुर की नागरी लिपि की भी प्रति प्राप्त थी। ये प्रतियाँ डॉ. गुप्त को न प्राप्त हो सकीं। कैथी की प्रतियों के सम्बन्ध में ग्रियर्सन महोदय ने स्वय लिखा है कि वे अत्यन्त भ्रष्ट-पाठ की प्रतियाँ थीं तथा उदयपुर वाली प्रति का पाठान्तर उन्होंने दिया है। अतः इन प्रतियों के अभाव में भी उनके सम्पादन की समीक्षा की जा सकती है।

सम्पादन के सम्बन्ध में उन्होंने दो सिद्धान्तों का अनुगमन किया है—(१) प्रथमतः उन्होंने प्रतियों का बहुमत ग्रहण किया है तथा (२) द्वि ३ प्रति के पाठ को उन्होंने साधारणतः ग्रहण किया है तथा उसी को आधार-प्रति माना है। इस प्रकार हम देखते हैं कि उनकी आधार प्रति ही द्वितीय पीढ़ी की प्रति है। पाठालोचन के सिद्धातों का अनुगमन न करने के कारण उन्होंने प्रतिलिपि-सम्बन्ध का निराकरण नहीं किया और परिणाम-स्वरूप प्रथम पीढ़ी की प्रतियों को छोड़कर द्वितीय पीढ़ी की एक प्रति को आधार माना। जहाँ तक प्रतियों के बहुमत ग्रहण का प्रश्न है, यह पाठालोचन की दृष्टि से सिद्धान्ततः मान्य नहीं हो सकता है क्योंकि मूल से सन्निकटता के आधार पर प्रतियों का आधार-ग्रहण अधिक उपयोगी होता है, अपेक्षाकृत बहुमत ग्रहण के।

इसके अतिरिक्त हम यह भी देखते हैं कि जिन दो सिद्धान्तों का उल्लेख उन्होंने किया है, उनका परस्पर विरोध है और इस विरोध की दशा में क्या किया गया है, इसका कोई उल्लेख नहीं है। सम्भव है कोई पाठ प्रतियों के बहुमत का रहा हो किन्तु द्वि २ में न हो ऐसी दशा में सम्पादक ने क्या किया, इसका कोई समाधान नहीं है। साथ ही इन दो तथाकथित सिद्धान्तों का भी पालन उन्होंने अपने संस्करण में पूर्णरूपेण नहीं किया है। इसके कुछ उदाहरण डॉ गुप्त ने अपने सस्करण की भूमिका में दिए हैं। जैसे, २५५ ६-७ का सामान्य पाठ है :

'दसईं अवस्था असि मोहि भारी,
दसए लखन होहु उपकारी।
दमनहि नल जस हस मेरावा,
तुम्ह हीरामनि नाम कहावा॥'

कुछ निम्न पीढ़ी की प्रतियों में इसके स्थान पर एक पाठान्तर आया है :

'तुम्ह सो भोर खेवक गुरु दोऊ।
उतरौं पार तहिं विधि खेऊ॥'

डॉ ग्रियर्सन ने इसी पाठान्तर को अपने सस्करण के मूल में ग्रहण किया है। यद्यपि ऐसा करने में उन्होंने अपने दोनों ही सिद्धातों की अवहेलना की है। यह पाठ न तो उनकी आधार प्रति द्वि २ में है और न ही यह पाठ प्रतियों के बहुमत द्वारा समर्थित है।

इसके अतिरिक्त उन्होंने अपने सस्करण के मूल-पाठ में बहुत से प्रक्षिप्त छदों का समावेश कर लिया है, यद्यपि इस सबध में उनकी प्रतियों का बहुमत कभी भी नहीं था। इस सैद्धान्तिक भूल के अतिरिक्त भी ग्रियर्सन महोदय की जायसी की लिपि, भाषा

एव छद के सम्बध में निजी मान्यताएँ इतनी भ्रात थीं कि उनके कारण उन्हें पाठ-निर्धारण में स्थान-स्थान पर गलत दिशा मिली है।

**शुक्लजी का संस्करण**—शुक्लजी ने जायसी-ग्रन्थावली के वक्तव्य में लिखा है कि 'इस ग्रथ के चार सस्करण देखने में आए। एक नवलकिशोर प्रेस का, एक रामजसन मिश्र सपादित काशी के चन्द्रप्रभा प्रेस का, एक कानपुर के किसी पुराने प्रेस का फारसी अक्षरों में और चौथा म म प सुधाकर द्विवेदी और डॉ ग्रियर्सन सपादित रायल ऐशियाटिक सोसाइटी का, जो पूरा नहीं तृतीयाश मात्र है। इनमें से प्रथम दो सस्करण तो किसी काम के नहीं।. कानपुर का सस्करण भी देखने पर ऐसा ही निकला।'[१] आगे शुक्लजी ने चौथे सस्करण को भी जी भर कर कोसा है। सपादन-शास्त्र से परिचित न होने के कारण उन्होंने केवल उसकी टीका-टिप्पणी की आलोचना की है तथा खींच-तान कर अर्थ बैठाने की वृत्ति की। पर आगे चल कर शुक्लजी ने यही खींचतान की। सामग्री के रूप में उन्हें केवल एक ही हस्तलिखित प्रति प्राप्त थी। उन्हीं के शब्दों मे 'पद्मावत' की चार छपी प्रतियों के साथ मेरे पास कैथी लिपि मे लिखित एक हस्तलिखित प्रति भी थी जिससे पाठ के निश्चय करने मे बडी सहायता मिली।'[२] इस प्रकार स्पष्ट ही शुक्लजी का कार्य प्रतियो के अभाव मे ठीक ढङ्ग से होना सभव न था और न हुआ। अपने पूर्ववर्ती सपादित संस्करणों के पाठ मे प्राप्त कैथीलिपि वाली प्रति के आधार पर कभी कभी मनचाहा सशोधन एव सुधार प्रस्तुत करना ही कदाचित उनका सपादन सिद्धान्त था। शुक्लजी ने अपने वक्तव्य मे अन्य सपादकों की अच्छी खबर ली है, पर अपने कार्य का कोई भी विवरण नहीं दिया है।

जिन पाठों को शुक्ल जी ने अशुद्ध ठहराया था उनके सबध में विचार करने के लिए डॉ गुप्त ने अपने सस्करण की भूमिका में अच्छी सामग्री प्रस्तुत की है। यथा शुक्ल जी ने ग्रियर्सन के सस्करण के सम्बन्ध में कहा है, 'कहीं-कहीं अर्थ ठीक बैठाने के लिए पाठ भी विकृत कर दिया गया है, जैसे 'कतहु चिरहटा पखिन्ह लावा' का 'कतहु छरहटा पेखन्ह लावा' कर दिया गया है और 'छरहटा' का अर्थ किया गया है 'छार लगाने वाले', 'नकल करने वाले'। जहाँ 'गथ' शब्द आया है (जिसे हिन्दी कविता का साधारण ज्ञान रखने वाले भी जानते है) वहाँ 'गठि' कर दिया गया है। इसी प्रकार 'अरकाना' (अरकाने दौलत अर्थात् सरदार या उमरा) का 'अरगाना' करके 'अलग होना' अर्थ किया गया है।'[३] इन कथनों पर डॉ गुप्त ने जो विचार प्रस्तुत,

---

[१] जायसी-ग्रथावली (शुक्ल), प्र सस्करण, पृ १।

[२] वही, पृ ६।

[३] वही पृ ३।

किया है उनके देखने से यह सद्यः स्पष्ट हो जाता है कि ग्रियर्सन के संस्करण के ये पाठ प्रायः प्रतियों के साक्ष्य पर हैं और ठीक भी हैं। उन्होंने इन स्थलों पर पाठ में कोई परिवर्तन नहीं किया है, चाहे उनका अर्थ भले ही उपयुक्त न किया गया हो। इसके प्रतिकूल स्वयं शुक्ल जी ने पाठ सुधार के प्रयास में इन पाठों को विकृत कर दिया है।

(१) 'कतहुँ छरहटा पेखन्ह लावा'—यह पाठ सिंघल द्वीप वर्णन के प्रसङ्ग का है। इस पाठ में 'छरहटा' और 'पेखन्ह' दो शब्दों के पाठ के सम्बन्ध में शुक्लजी को ग्रियर्सन से मतभेद है। इनमें 'छरहटा' पाठ ही इस प्रसङ्ग में पद्मावत की प्रायः उन सभी प्राप्त प्रतियों में मिलता है, जो डॉ गुप्त एवं डॉ ग्रियर्सन को प्राप्त थीं, 'चिरहटा' पाठ कहीं भी नहीं मिला। अतः बहिर्साक्ष्यः से तो यह पाठ स्वीकृत ही होना चाहिए था। अन्तर्साक्ष्य से भी डॉ गुप्त ने इस पाठ को ही प्रामाणिक सिद्ध किया है। इस दृष्टि से प्रसङ्ग में 'छरहटा' पाठ (छल+हट्ट) इन्द्रजालिक बाजार (जादू आदि) सार्थक तो है ही, उस समय यह शब्द प्रचलित भी रहा होगा, इसका पता ग्रियर्सन के पाठ के एक प्रक्षिप्त पाठ से चलता है, जिसमें इस शब्द का प्रयोग हुआ है, 'खिन इक मह छरहट होइ बीता'। शुक्लजी ने यहाँ 'छरहट' का 'झुरमुट' पाठ दिया है। यह पाठ उन्होंने कानपुर एवं नवलकिशोर प्रेस वाले संस्करणों से लिया जिनकी एक भी चौपाई का पाठ स्वयं उन्हीं की दृष्टि में ठीक नहीं था।

इसी प्रकार 'पेखन्ह' के सम्बंध में भी शुक्लजी ने भूल की है। इसका अर्थ देखना तो है ही। तमाशे के अर्थ में भी इसका प्रयोग हुआ है यथा,

'जग पेखन तुम देखन हारे।' (तुलसी)

अतः अर्थ की संगति में तो दो मत हो ही नहीं सकते। यह अर्थ आगे की पंक्तियों के प्रसङ्ग में भी ठीक है। साथ ही साथ 'पेखन्ह' पाठ ही प्रतियों में मिलता है, 'पखिन्ह' नहीं। यह 'पखिन्ह' पाठ शुक्लजी की निजी उपज है। 'पखी' पाठ तो इस स्थल पर उन्हें नवलकिशोर प्रेस वाले संस्करण में भी मिला जो संस्करण अत्यन्त भ्रष्ट पाठ का है, और मूलपाठ में शुक्लजी ने प्रथम संस्करण में 'पखी' पाठ ही रखा, किन्तु वक्तव्य में 'पखिन्ह' का समर्थन किया।

'चिरहटा' पाठ जो शुक्ल जी की उपज है, इसके सम्बंध में विरोधी साक्ष्य भी मिलते हैं जिस अर्थ में (बहेलिया) उन्होंने इसका प्रयोग किया है, वह जायसी के प्रयोगों से अनुमोदित नहीं। जायसी ने इसके लिए 'चिरिहार' शब्द का प्रयोग किया जिससे व्युत्पत्ति-शास्त्र के अनुसार भी 'चिरहटा' बनना संभव नहीं है।

'गथ' के संबंध में शुक्ल जी का अनुमान सही है किन्तु 'अरगाना' के संबंध

में जो 'अरकाना' और उसका अर्थ 'अरकाने दौलत' उन्हें कानपुर के संस्करण में मिले, वे ठीक नहीं।

इस प्रकार की सामान्य भूलें जो शुक्लजी के सम्पूर्ण संस्करण में हुईं उनके कई कारण थे। प्रथम तो उनका सारा कार्य कुछ मुद्रित संस्करणों के आधार पर हुआ जो अत्यन्त भ्रष्ट थे। एक ही हस्तलिखित प्रति उन्हें प्राप्त थी, पर वह भी पता नहीं कब की और कैसे पाठ की थी। दूसरे शुक्लजी सम्पादन-शास्त्र की वैज्ञानिक विधि से अपरिचित थे अतः उन्होंने जब चाहा अपने मन से अर्थ बैठाने के लिए पाठ सुधार कर दिया। शुक्लजी ने प्रक्षेपों के निराकरण मे भी कोई सफलता प्राप्त नहीं की है। डॉ माताप्रसाद गुप्त को 'पद्मावत' के शुक्लजी वाले संस्करण में ४२ छंद प्रक्षिप्त मिले जिनमें एक छंद वह भी है जिसके आधार पर पद्मावत को रूपक या समासोक्ति का काव्य कहा जाता है। इस छंद के प्रक्षिप्त होने का अनुमान डॉ गुप्त ने पाठानुसङ्गति तथा अर्थानुसंगति दोनों ही दृष्टियों से किया। पाठ के अनुसार यह छंद केवल दो प्रतियों में उन्हें प्राप्त हुआ, जो नीचे की श्रेणी की प्रतियाँ हैं। प्रसङ्ग की दृष्टि से भी यह छंद जिन दो छंदों के बीच आया है, ऐसा प्रतीत होता है कि ऊपर से चिपका दिया गया है। इस छंद के पूर्व के छंद में 'पद्मावत' की कथा समाप्त होती है और चित्तौड़ पर बादशाह की विजय हो जाती है। इस प्रसङ्ग का अन्तिम दोहा है,

'जौहर भईं इस्तिरी पुरुख भए संग्राम।
पातसाहि गढ़ चूरा चितउर भा इसलाम॥'[1]

इसके शुक्लजी के संस्करण में निम्नलिखित विवादग्रस्त छंद है,

'मं एहि अरथ पंडितन्ह बूझा। कहा कि हम्ह किछु और न सूझा।
चौदह भुवन जो तर उपराहीं। ते सब मानुष के घट माहीं।
तन चितउर मन राजा कीन्हा। हिय सिंघल बुधि पदमिनि चीन्हा।
गुरु सूआ जेहि पंथ देखावा। बिनु गुरु जगत को निरगुन पावा।
नागमती यह दुनिया धंधा। बाचा सोइ न एहि चित बंधा।
राघव दूत सोई शैतानू। माया अलाउद्दीं सुलतानू।
प्रेम कथा एहि भाँति बिचारहु। बुझि लेहु जौं बुझै पारहु।
तुरकी, अरबी, हिन्दुई भाषा जेती आहि।
तेहि महँ मारग प्रेम कर सब सराहै ताहि॥'[2]

इसके बाद का छंद शुक्लजी तथा डॉ गुप्त दोनों में इस प्रकार है,

---

[1] जायसी-ग्रंथावली, प्र० संस्क० (गुप्त), पृ ५५४।
[2] जायसी ग्रंथावली, (शुक्ल), उपसंहार १।

'मुहमद यहि कबि जोरि सुनावा । सुना जो पेम पीर गा पावा ।
जोरी लाइ रकत कै लेई । गाढ़ी प्रीति नैन जल भेई ।
औ मन जानि कवित अस कीन्हा । मकु यह रहै जगत महँ चीन्हा ।
कहाँ सो रतनसेन अस राजा । कहाँ सुवा अस बुधि उपराजा ।
कहाँ अलाउदीन सुलतानू । कहँ राघौ जेइँ कीन्ह बखानू ।
कहँ सुरूप पद्मावति रानी । कोइ न रहा जग रही कहानी ।
धनि सो पुरुष जस कीरति जासू । फूल मरै पर मरै न बासू ।
केइँ न जगत जस बेंचा केइँ न लीन्ह जस मोल ।
जो यह पढ़ै कहानी हम सँवरै दुइ बोल ॥'

यह बाद वाला छद कथा समाप्त होने के तुरत बाद कवि द्वारा लिखा गया होगा, ऐसा प्रसङ्ग से लगता है। बीच में कथा को अन्योक्ति बता कर पुनः उसके लौकिक रूप की तथा उसकी प्रेम कहानी पर ये उद्‌गार व्यक्त करना बहुत उपयुक्त नहीं लगता। इस प्रसङ्ग में प्रयुक्त, 'जोरी लाइ रकत कै लेई । गाढ़ी प्रीति नैन जल भेई' तथा पद्मावत के सभी प्रमुख पात्रों के बारे में यह कह कर कि इनमें से कोई नहीं शेष रहा, 'कोइ न रहा जग रही कहानी' से यह स्पष्ट होता है कि कवि का अभिप्रेत पद्मावत को एक प्रेम-कहानी के रूप में ही प्रस्तुत करने का रहा है, अन्योक्ति के रूप में नहीं। उसका 'गुपुत' या 'परमार्थ' यही था कि वह पद्मावती और रतनसेन की इस लोककथा के माध्यम से ईश्वरीय प्रेम का इगित करना चाहता था। साथ ही इस अन्योक्ति वाले प्रसङ्ग का प्रक्षिप्त होना इस बात से भी सिद्ध है कि इसका निर्वाह पद्मावत की कथा में पूर्णरूप से नहीं देखा जाता है। इस प्रकार यह प्रसङ्ग सभी दृष्टियों से प्रक्षिप्त लगता है।

स्वर्गीय आचार्य चद्रबली पाण्डे का यह मत है कि यह प्रसङ्ग निर्विवाद प्रक्षिप्त नहीं कहा जा सकता। 'हमारा यह आग्रह नहीं कि आप इसे 'पद्मावत' का मूलपाठ मान लें। नहीं, हमारा तो आग्रह इतना अवश्य है कि इसके मर्म को समझें और पाठालोचन की पद्धति से इसे सदिग्ध कोटि में स्थान दें। हो सकता है, आगे के अनुसधान से वह प्रमाण बन जाय और हो सकता है वह किसी और की ही रचना निकल आए।'[1] इस प्रसङ्ग के मूल-पाठ होने के सबध मे पाण्डे जी ने बड़ी युक्तियाँ प्रस्तुत की हैं और उनकी सबसे प्रमुख युक्ति यह है कि जायसी की दृष्टि पारमार्थिक तथा अलौकिक रही है। सही है, पर प्रक्षेप का यही उद्देश्य ही होता है कि कवि की दृष्टि के अनुकूल कुछ और जोड़ कर उसके पाठ को उत्कृष्टतर कर दिया जाय। पाठ का

[1] ना प्र प, वर्ष ६३, अ ३-४।

उत्कृष्टतर होना या निकृष्टतर होना प्रक्षेपकर्ता की प्रतिभा पर निर्भर करता है। अतः इस पाठ को प्रक्षिप्त मानना ही उचित है क्योंकि प्रतियों का साक्ष्य तथा प्रसङ्ग का साक्ष्य, दोनों ही यही प्रमाणित करते हैं।

डॉ माताप्रसाद गुप्त द्वारा प्रस्तुत जायसी के 'पद्मावत' का पाठ अत्यन्त खरा तथा निर्दोष है, इसके आगे 'पद्मावत' का पाठानुसंधान नहीं संभव है, यह कदापि मेरा अभिप्राय नहीं है। प्रत्युत अभिप्राय इतना ही है कि डॉ गुप्त पाठ शोध की वैज्ञानिक विधि से आगे बढ़े हैं और उन्होंने अपने पूर्ववर्ती पाठों से अत्यन्त सुगठित एवं सुन्दर पाठ 'पद्मावत' का प्रस्तुत किया है। इस संबंध में कुछ तुलनात्मक उदाहरण पर्याप्त होंगे :

(१) डॉ गुप्त के संस्करण के ६४४ वें दोहे का पाठ है,

> 'बास फूल घिउ छीर जस, निरमल नीर मठाह।
> तस कि घटै घट पुरुख, ज्यों रे अगिनि कठाह ॥'

इसके स्थान पर शुक्ल जी के संस्करण में बंधन-मोक्ष-खंड का अंतिम दोहा इस प्रकार है,

> 'फूल बार, घिउ छीर जेउँ, निरग मिले इक ठाँइ।
> तस कत घट-घर कै, जियउँ अगिनि कहँ खाइ ॥'

इसमें गुप्त जी के संस्करण का पाठ बिना प्रयास के स्पष्ट होता चलता है तथा पूरे दोहे में अर्थ का सुगठित रूप प्रकट होता है। शुक्ल जी द्वारा प्रस्तुत पाठ इसकी तुलना में निश्चय ही त्याज्य है। इसके पूर्व की अर्द्धाली पर ध्यान दें तो इसका प्रसङ्ग भी स्पष्ट हो जाएगा,

> 'सोइ बुझाइउँ आपन जियरा।
> कत न दूर अहै सुठि नियरा ॥'

इसकी संगति में प्रस्तुत दोहे का अर्थ हुआ, '(वह उसी प्रकार निकट है) जैसे पुष्प में गंध, दुग्ध में घृत, मट्ठे में निर्मल जल, घट-घट में ब्रह्म तथा काष्ठ में अग्नि अन्तर्भूत रहती है।' ब्रह्म के इस अन्तर्भूत रूप के चित्रण में जायसी द्वारा प्रयुक्त यह शब्दावली रहस्यवादी कवियों में प्रचलित भी थी, इसके उदाहरण में पलटू साहब की एक बानी देखें,

> 'फूल माँहि ज्यों बास काठ में अगिनि छिपानी।
> खोदे बिनु नहिं मिलै अहै धरती में पानी ॥'

जैसे दूध में घृत छिपा, छिपी हरदी मे लाली।
ऐसे पूरन ब्रह्म, कहूँ तिलभर नहिं खाली।।'[1]

(२) डॉ गुप्त के सस्करण का ३४१ वॉ दोहा है,

'सारस जोरी किमि हरी मारि गएउ किन खग्गि।
झुरि झुरि पाजर धनि भई, बिरह कै लागी अग्गि।।'

इसके स्थान पर शुक्ल जी के सस्करण मे नागमती वियोग-खड का प्रथम दोहा है,

'सारस जोरी कौन हरि, मारि वियाधा लीन्ह?।
झुरि झुरि पींजर हौं भई, बिरह काल मोंहि दीन्ह।।'

इन दोनों पदावलियों का गठन, इनकी प्राचीनता तथा स्पष्टता इनके मूलपाठ के निर्णय के लिए पर्याप्त है।

(३) डॉ गुप्त के सस्करण में ८३ वे छद की एक अर्द्धाली का पाठ है :

'भलेहि सो और पिआरी नाहाँ।
मोरे रूप कि कोइ जग माहाँ।।'

शुक्लजी के सस्करण में नागमती-सुआ-सवाद खड के प्रथम छदमें यह अर्द्धाली इस प्रकार आई है, 'बोलहु सुआ पियारे-नाहाँ। मोरे रूप कोइ जग माहाँ।' यहाँ शुक्ल जी द्वारा प्रस्तुत पाठ में नागमती सुआ को 'पियारे नाहाँ' कहती है जो नारी केवल अपने पति के लिए प्रयुक्त कर सकती है। इस प्रकार डॉ गुप्त द्वारा प्रस्तुत पाठ अधिक सगत है। हाँ अर्द्धाली के द्वितीय चरण में शुक्ल जी के सस्करण में जहाँ नियमानुकूल १६ मात्राएँ हैं, गुप्त जी के सस्करण में 'कि' पाठ बढ़ जाने से एक मात्रा बढ़ गई है। इस सम्बन्ध में डॉ गुप्त की मान्यता है कि जायसी ने छद की मात्राओं के सम्बन्ध में निश्चित नियम का अनुगमन नहीं किया है।

(४) डॉ गुप्त के सस्करण में ४५ वें छद की एक अर्द्धाली का पाठ है।

'गिरि पहार पब्बै गहि पेलहिं। बिरिछ उपारि झारि मुख मेलहिं।।'

इस स्थल पर शुक्ल जी के सस्करण का पाठ सिंहल-द्वीप वर्णन खड के २१ वें छद में इस प्रकार है।

'गिरि पहार वै पैगहि पेलहिं। बिरिछ उचारि डारि मुख मेलहिं।'

इस पाठ मे 'पब्बै' से प्रसूत पाठ-विकृति के कारण पर हम पहले विचार कर चुके हैं।

---

[1] पलटू साहब की बानी, भा १, पृ ३१।

इस प्रकार के अनेक उदाहरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं जिनके आधार पर डॉ गुप्त के संस्करण का पाठ अधिक निश्चयात्मक तथा जायसी के मूलपाठ के निकट प्रतीत होता है। 'पद्मावती' जैसे महान ग्रंथ की पाठ-समस्या का अध्ययन एक तो वैसे ही कठिन कार्य था साथ ही उस दशा में जब कि उसके पाठों में अत्यधिक हस्तक्षेप तथा परिवर्तन हो चुका था। 'पद्मावत' के इस पाठ को लेकर प्रारम्भ में हिन्दी में एक लम्बा विवाद प्रारम्भ हुआ था। वस्तुतः विवाद अधिकतर 'जायसी ग्रंथावली' के रूप में प्रकाशित ग्रंथ की प्रकाशकीय बातों से अधिक सम्बद्ध था, पर प्रसंगवश वह 'पद्मावत' के प्रस्तुत पाठ पर भी यदा-कदा आपत्ति प्रस्तुत करता था। इस विवाद-यज्ञ के अध्वर्यु थे आचार्य प० चन्द्रबली पाण्डे जिन्होंने 'जायसी-ग्रंथावली' के प्रस्तुत सम्पादन को समूल उखाड़ फेंकने के लिए कुछ उठा न रखा। उनके उत्तर में खड़े हुए डॉ. माताप्रसाद गुप्त के कुछ शिष्य। विवाद व्यक्तिगत छींटाकशी और गाली गलौज की सीमा तक उतर आया था। डॉ गुप्त ने इस विवाद में सम्पूर्ण साहित्यिक मर्यादा का पालन किया और वे उत्तर प्रत्युत्तर के इस अशोभन संग्राम से भिन्न ही रहे। यह विवाद दोनों ही ओर से पक्षपातपूर्ण था। एक ओर हिन्दी के प्रकाण्ड विद्वान पाण्डे जी अपने गुरु आचार्य शुक्ल के अंधाधुन्ध समर्थन में जुटे थे तो दूसरी ओर डॉ माताप्रसाद गुप्त के शिष्य इसी भाँति उनके ऋण से उऋण होना चाहते थे। इस सम्बन्ध में मुझे इतना ही निवेदन करना है कि पाण्डे जी की अधिकांश आलोचनाएँ 'बौद्धिक व्यायाम' मात्र ही थीं, किन्तु कहीं-कहीं पाठों के सम्बन्ध में उठाई गई उनकी आपत्तियों में सार भी था, पर ऐसी आपत्तियाँ कम ही हैं।

डॉ गुप्त द्वारा प्रक्षिप्त ठहराए गए पाठों के सम्बन्ध में पाण्डे जी का कुछ कथन विद्वत्तापूर्ण अवश्य है पर सर्वथा मान्य नहीं। रूपक प्रस्तुत करने वाले [ १२३ अ ] संख्या वाले प्रक्षिप्त छन्द पर विचार हो चुका है। इसी प्रकार की स्थिति [ २२ अ ] तथा [ ६० अ ] की भी है। [ ५५ अ ] अवश्य विचारणीय है। यह छन्द शुक्ल जी तथा ग्रियर्सन के संस्करण में प्राप्त होता है। ग्रियर्सन के संस्करण में प्राप्त होने से यह अनुमान होता है कि उन्हें यह किसी प्रति में अवश्य मिला होगा। पर कठिनाई यह है कि डॉ गुप्त को यह छन्द, उनके द्वारा प्रयुक्त किसी भी प्रति में नहीं प्राप्त हुआ। पाठ-विज्ञान की खरी कसौटी पर इस छन्द का ग्रहण किया जाना सम्भव नहीं है पर प्रसङ्ग की दृष्टि से यह छन्द उपयुक्त ही नहीं, अनिवार्य लगता है। डॉ गुप्त के संस्करण के ५६ वें छन्द का पाठ है :

'रानी सुना दिस्टि भइ आना। बुधि जो देइ सङ्ग सुआ सयाना ॥
भएउ रजाएसु मारहु सुआ। सूर सुनाव चाँद जहँ उआ ॥'

इस पाठ में तीन प्रश्न उठते हैं इनका समाधान पूर्ववर्ती पाठ में अवश्य होना चाहिए। वे प्रश्न इस प्रकार हैं :

राजा ने क्या सुना ? उसकी दृष्टि क्यों 'आन' भई ? और सुआ को मारने के लिए उसने क्यों 'रजाएसु' दी ? [ ५५ अ ] का पाठ इन प्रश्नों का समाधान प्रस्तुत करता है। इस पाठ में पद्मावती सुआ से अपनी युवावस्था के उन्माद का वर्णन करती है और कहती है :

'पिता हमार न चालै बाता। भासहिं बोलि सकै नहिं माता ।।'

... ...

'हीरामनि तब कहा बुझाई। विधिकर लिखा मेटि नहि जाई ।।
आज्ञा देउ देखहुँ फिरि देसा। तोहि जोग वर मिलै नरेसा ।।
जौ 'लगि मैं फिरि आवौं, मन चित धरहु निवारि।
सुनत रहा कोइ दुरजन, राजहिं कहा विचारि ।।'

इसके बाद ही आता है, 'राजहिं सुना दृष्टि भइ आना' आदि। इस छन्द को यदि प्रक्षिप्त मानकर छोड़ दिया जाय तो ५६ वें छन्द के पूर्व ५५ वें छन्द मे केवल पद्मावती का रूप वर्णन है जिससे राजा की दृष्टि फिरने का कोई उत्तर नहीं मिलता। साथ ही ५४ वें छन्द में भी हीरामनि के बारे में इतना ही वर्णन आया है :

'सुआ एक पदुमावति ठाऊँ। महा पंडित हीरामनि नाऊँ ।।
दैयँ दीन्ह पखिहि असजोती। नैन रतन मुख मानिक मोती ।।
कचन वरन सुआ अतिलोना। मानहु मिला सोहागहि सोना ।।
'रहहिं एक सङ्ग दोऊ पढ़हिं सास्तर बेद।
बरह्मा सीस डोलावहिं सुनत लाग तसभेद ।।'

इन वर्णनों में सामान्यतया ५६ वे छन्द में राजा की कोप दृष्टि का कारण स्पष्ट नहीं होता। इस सम्बन्ध में एक सन्देह अवश्य उठता है कि ५५ अ छन्द कहीं इसी कारण को स्पष्ट करने के लिए किसी प्रतिलिपिकार द्वारा जोड़ तो नहीं दिया गया। वह यदि प्रक्षेप है तो वह भी बड़ी ही योग्यतापूर्वक हुआ है, पूर्वापर प्रसङ्ग को ध्यान में रखकर हुआ है। 'पिता हमार न चालै बाता' के सम्बन्ध में पाण्डे जी का कहना उचित ही है[१] कि इसके पूर्व का सन्दर्भ है :

'सप्तदीप के वर जो ओनाहीं। उतर न पावहिं फिर फिर जाहीं ।।
राजा कहै गारब कै हौं रे इन्द्र सिवलोक।
कोसरि मों सो पावै कासों करो बरोक ।।'

---

[१] ना प्र प, वर्ष ६२, अ ३-४, पृ ४६१।

इस सम्बन्ध में इतना ही निवेदन पर्याप्त समझता हूँ कि ५४ वें छन्द में सुआ में अलौकिक पाण्डित्य का वर्णन हो चुका है। सम्भव है उसी को सुनकर राजा की दृष्टि फिरी हो क्योंकि ऐसे अलौकिक पाण्डित्य सम्पन्न सुआ का अपनी कुँवारी लड़की के साथ होना उसे उचित न जँचा और जिक्र भी आया है :

'राजै सुना दृष्टि भइ आना। बुद्धि जो देइ सङ्ग सुआ सयाना ॥'

सम्भावना प्रक्षेप की पूर्ण है क्योंकि आगे भी सुआ जब मृत्यु के षड़यन्त्र से बच जाता है तो उक्त [ ५५ अ ] के कथन के अनुसार वर ढूँढ़ने जाने की बात नहीं करता, वरन् पुन' बन में वास हेतु जाने को कहता है, 'रानी तुम्ह जुग-जुग सुख पाऊँ। हौं अब बनोबास कहँ जाऊँ ॥'५७ २

यद्यपि आगे वह उसके रूप का वर्णन रत्नसेन से करता है। कदाचित् इसी पूर्वापर प्रसङ्ग को जोड़ने के लिए यह प्रक्षेप किया गया है। किसी प्रति में यह पाठ न मिलना इसका बहुत बड़ा प्रमाण है कि यह प्रक्षिप्त छन्द है। इसके बिना भी अर्थ सङ्गति बैठ जाती है। यदि किसी भाँति भी इसे छोड़ना सम्भव न होता तो शायद इसे काम चलाऊ पाठ (stop-gap) के रूप में स्वीकृत करने का आग्रह उचित कहा जाता।

'रातिहुँ दिवस इहै मन मोरे। लागौं कन्त 'छार' ? जेउँ तोरे ॥'३५२ ७

इस पाठ के सम्बन्ध में पाण्डे जी द्वारा प्रस्तुत पाठ, 'लागौं कन्त थार कब तोरे।' अधिक मान्य प्रतीत होता है क्योंकि 'थार' तथा 'कब' पाठान्तर प्रतियों में मिलते हैं और जब प्रतियों में प्राप्त पाठ से अर्थ निकल आ रहा हो तो 'छार' का पाठ सुधार उचित नहीं प्रतीत होता।

इस प्रकार एक आध स्थलों पर शब्द आदि के पाठ निर्धारण में और भी भूलें रह गई प्रतीत होती हैं, जो इतनी महत्वपूर्ण नहीं हैं और ग्रथ के आगामी सस्करण में पुन ठीक हो सकती हैं। मेरी दृष्टि में डॉ. गुप्त द्वारा प्रस्तुत ५६ १ छन्द के पाठ में 'कौनिउँ' शब्द के स्थान पर शुक्ल जी द्वारा प्रयुक्त 'पून्यौ' शब्द अधिक सार्थक है। छन्द है,

'एक देवस कौनिउँ तिथि आई। मान सरोदक चली अन्हाई ॥'

'कौनिउँ' के स्थान पर डॉ गुप्त को अपने द्वारा प्रयुक्त प्रति द्वि : ३ और तृ : १ में 'पून्यो' पाठान्तर मिला। ये दोनों ही प्रतियाँ पाठ-सम्बन्ध की दृष्टि से प्रथम एवं द्वितीय पीढ़ी की प्रतियाँ हैं। द्वितीय . ३, तृ . १ से भिन्न शाखा की प्रति है, उसका सर्गीय-सम्बन्ध च : १ तथा तृ : २ अवश्य है पर तृ : १ से नहीं। इस प्रकार ऊपर की

दो स्वतन्त्र शाखाओं की प्रतियों में मिलने वाले इस अधिक सार्थक पाठ को सरलता से नहीं छोड़ा जा सकता। 'पून्यौ' पाठ होने के सम्बन्ध में प्रतियों के साक्ष्य के अतिरिक्त अन्तर्साक्ष्य भी पर्याप्त हैं। सबसे पहले तो यह कि जायसी मानसरोवर में स्नान के लिए जाते समय किसी निश्चित तिथि का प्रयोग किए होंगे न कि अपनी विस्मृति के प्रतीक स्वरूप 'कौनिउँ तिथि' का। दूसरे अन्य प्रसङ्गों में भी उन्होंने जो निश्चयात्मक वर्णन प्रस्तुत किए हैं उन्हें देखकर ऐसा नहीं लगता कि इस प्रसङ्ग में उन्होंने इस अनिश्चयात्मक तिथि का उल्लेख किया होगा। जैसे,

'कातिक सरद चन्द उजियारी। जग सीतल हौं बिर है जारी॥
चौदह करा कीन्ह परगासू। जनहु जरै सब धरति अकासू॥'

इसके अतिरिक्त मानसरोदक-स्नान के इस प्रसङ्ग में ही उक्त तिथि के 'पून्यौ' होने का अन्तर्साक्ष्य भी प्राप्त है:

'सरवर नहिं समाइ ससारा। चाँद न हाइ पैठ लिए तारा।
धनिसो नीर ससि तरई उई। अब तक दिस्टि कँवल औ कुई।
चकई बिछुरि पुकारै कहाँ मिलहु हो नाँह।
**एक चाँद निसि सरग पर** दिन दो सरजल माँह॥'६२

वहिर्साक्ष्य से भी उर्दू लिपि की हस्तलिपि में 'पून्यौ' का 'कौनिउँ' पढ़ा जाना सम्भाव्य प्रतीत होता है।

इस प्रकार छोटे मोटे कुछ शब्दों के पाठ को छोड़कर 'पद्मावत' का डॉ. गुप्त सम्पादित पाठ ही ग्राह्य है। निश्चय ही उन्होंने 'पद्मावत' के पाठ को अन्धकार से प्रकाश में लाया है। इस सम्बन्ध में डॉ वासुदेवशरण अग्रवाल का यह कथन अत्यन्त उपयुक्त है।

'यदि यह सस्करण ( डॉ माताप्रसाद गुप्त का ) मुझे उपलब्ध न होता तो जायसी के मूल अर्थों तक पहुँचने का मार्ग मुझे कभी मिल सकता इसमें सन्देह है।... पद्मावत के मूलपाठ पर जमी हुई काई को पाठसशोधन की वैज्ञानिक युक्ति से हटाकर श्री माताप्रसाद गुप्त ने हिन्दी साहित्यक्षेत्र में महत्वपूर्ण कार्य किया है।...... श्री माताप्रसाद गुप्त ने कोई चमत्कार या जादू नहीं किया। उन्होंने उपलब्ध हस्तलिखित प्रतियों की छानबीन करके पाठ-शोधन की वैज्ञानिक प्रणाली से पाठ निर्णय किया है।'[1]

---

[1] पद्मावत सजीवन-भाष्य, ( डॉ वासुदेवशरण अग्रवाल ) प्राक्कथन पृ ६।

आचार्य चन्द्रबली पाण्डे के अतिरिक्त हिन्दी के अन्य विद्वानों ने इस पाठ की कोई आलोचना नहीं की प्रत्युत सभी ने इसकी महत्ता को मौन स्वीकृति दी। पाण्डे जी ने भी इसे 'प्रामाणिक' नहीं तो कम से कम 'मूल के सर्वाधिक निकट' माना ही। आज युग बदल चुका है और अब उपयुक्त पाठ का महत्व समझा जाने लगा है, फिर भी अभी तक सम्पूर्ण जायसी सम्बन्धी समीक्षा और समालोचना का आधार शुक्लजी का सस्करण है। परिणाम स्वरूप जिस भाँति शुक्लजी द्वारा प्रस्तुत जायसी का पाठ दोषपूर्ण है, उसी पर उस पाठ पर आधारित समीक्षाएँ भी दोषयुक्त हो रही हैं। इसी भाँति विभिन्न विश्वविद्यालयों तक में जायसी के 'पद्मावत' का सुसम्पादित पाठ पाठ्यक्रम के हेतु स्वीकृत न होकर प्राचीन सस्करणों के मनमाने पाठ पढ़ाए जाते हैं, अन्य पाठ्य-पुस्तकों में सगृहीत पाठ का तो कुछ कहना ही नहीं।

———

# ७

# वीसलदेव रास[1]

यह काव्य-ग्रन्थ हिन्दी साहित्य की प्रारम्भिक एव प्रौढ़ रचनाओं में से है। यह पुरानी राजस्थानी भाषा में लिखा गया था। अन्य प्राचीन रचनाओं की ही भाँति इस ग्रथ का भी पाठ बहुत दिनों तक प्रतिलिपियों के माध्यम से चलते रहने के कारण परिवर्तित रूपों में मिलने लगा था। इस कारण कुछ विद्वानों ने इस ग्रंथ के सम्बन्ध में बड़ा हीनभाव प्रकट करना प्रारम्भ किया। यहाँ तक कि श्री मोतीलाल मेनारिया ने लिखा : 'मालूम होता है कि नाल्ह कोई बहुत पढ़ा लिखा हुआ कवि नहीं, बल्कि एक साधारण योग्यता का रमता फिरता भाँट था जो अपनी तुकबन्दियों द्वारा जन साधारण को प्रभावित कर अपनी उदरपूर्ति करता था। ...अतः रासो में नकाव्य-चमत्कार, न अर्थ गौरव, न छन्द-वैचित्र्य है। · निष्कर्ष यह है कि साहित्यिक दृष्टि से वीसलदेव रासो का मूल्य बहुत नगण्य है।'[2] इसी प्रकार के विचार श्री अगरचन्द नाहटा ने भी अपने 'वीसलदेव रासो की हस्तलिखित प्रतियाँ'[3] शीर्षक लेख में प्रकट किया जिसमें उन्होंने इसकी प्राचीनता को अस्वीकार कर दिया। इस प्रकार की सपूर्ण भ्रॉतियाँ, इस रचना के मूल-पाठ की प्राप्ति न हो सकने के कारण ही फैली हुई थीं। इसी कारण इस ग्रथ को सत्रहवीं, अठारहवीं शताब्दी की रचना कहा जाने लगा था।

इस ग्रथ का प्रथम सपादित सस्करण नागरी प्रचारिणी सभा वाराणसी द्वारा प्रकाशित हुआ। इसके सपादक श्री सत्यजीवन वर्मा ने इस ग्रन्थ की प्राप्त दो हस्तलिखित पोथियों के आधार पर इस ग्रन्थ का सपादन किया। वर्माजी ने इस सस्करण में अत्यधिक परिश्रम से काम किया इसमें सन्देह नहीं, फिर भी तीन कारणों से उनका सस्करण

---

[1] स डॉ माताप्रसाद गुप्त, प्रका. हिन्दी-परिषद, प्रयाग विश्वविद्यालय।

[2] राजस्थानी साहित्य के इतिहास की रूपरेखा, पृ. २६।

[3] राजस्थानी, जनवरी १६४०, पृ २२।

'रासो' के मूल के निकट का पाठ होने से रह गया। प्रथम तो यह कि वर्माजी को इस ग्रन्थ की मात्र दो ही प्रतियाँ प्राप्त थीं और कदाचित् ये दोनों ही प्रतियाँ एक ही शाखा की भी रही होंगी, ऐसा डॉ माताप्रसाद गुप्त का मत है। क्योंकि यदि ऐसा न होता तो अन्य प्रति का पाठान्तर वे अवश्य अपने सस्करण में देते। इस कारण इन प्रतियों द्वारा अधिक से अधिक उस शाखा का पाठ निर्मित हो सकता था। दूसरे, वर्माजी ने पाठालोचन की वैज्ञानिक विधि का प्रयोग भी अपने ग्रन्थ में नहीं किया, जो कदाचित् इतनी स्वल्प सामग्री में सम्भव भी नहीं था। तीसरे, वर्माजी द्वारा प्रयुक्त प्रतियाँ मूलप्रति से अत्यन्त दूर की प्रतियाँ प्रतीत होती हैं, क्योंकि इस मे अत्यधिक भूलें लेखन-प्रमाद आदि के कारण हुई हैं जिनका उल्लेख स्वय वर्माजी इस प्रकार करते हैं, 'विसलदेवरासो' की प्रतिलिपि बहुत ही अशुद्ध है। इसी के कारण उसमे शब्दों के रूप विकृत हो गए हैं। छन्दोभग दोष भी इसी कारण हुआ है।'[1] साथ ही इन प्रतियों का जो पाठ वर्मा जी ने प्रस्तुत किया है, वह अत्यन्त प्रक्षेपयुक्त विस्तृत पाठ प्रतीत होता है। यही कारण है कि उक्त सस्करण में वीसलदेव रासो की काव्य-गरिमा का उद्घाटन स्वय सम्पादक नहीं कर पाता और वह लिखता है, 'नरपति नाल्ह न कोई बड़ा कवि था और न बहुत पढ़ा लिखा था उसने प्रचलित भाषा में तुकबदियाँ की थीं।'[2]

फिर भी इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि उन्होंने अपने सम्पादन कार्य में यथासम्भव सन्शोधन और हस्तक्षेप की प्रवृत्ति से बचने का प्रयास किया और यह उनके इस कथन से प्रमाणित होता है, 'उसमें यत्र-तत्र जहाँ कहीं मुझे कुछ शब्द छूटे हुए जान पड़े, वहाँ मैने उन्हें कोष्टक में दे दिया है। ग्रन्थ के छन्द-क्रम में मुझे अनेक स्थलों पर प्रसङ्ग के अनुसार व्यतिक्रम करना पड़ा है, किन्तु उसे ठीक करते समय मुझे सकोच करना पड़ा है कि कहीं ऐसा करते समय ग्रन्थ का वास्तविक क्रम नष्ट न हो जाय। फिर भी एकाध स्थलों पर मुझे विवश होकर पदों के एकाध चरणों को इधर उधर करने पर विवश होना ही पड़ा है।'[3] यही कारण है कि डॉ गुप्त ने उसके इस छपे सस्करण का उपयोग उसी भाँति किया है जैसा कि इस शाखा कि हस्तलिखित प्रति का होता, यद्यपि उनका कथन है कि यदि वर्माजी ने दूसरी प्रति का पाठान्तर भी दे दिया होता, तो यह ग्रथ पाठ-निर्धारण में विशेष उपयोगी होता। वर्माजी के सस्करण में कई स्थानों पर प्रतिलिपिकार द्वारा लिपि-साम्य के कारण हुई निश्चेष्ट विकृतियों का

[1] वीसलदेव रासो, (भू) पृ. ४।
[2] वीसलदेव रासो, (भू) पृ. ४३।
[3] विसलदेवरासो, (भूमिका) पृ ४।

समाधान भी नहीं हो सका है। इस प्रकार की लिपि सम्बन्धी विकृतियों की एक प्रवृत्ति ही वीसलदेव रासो की कई प्रतियों में मिलती है, जो प्रतिलिपिकारों के यथेष्ट लिपिज्ञान के अभाव में सम्भव हुई है। वर्माजी के संस्करण की ऐसी भूलों के निम्नलिखित उदाहरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं।

| | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|
| च | > | व | : | चीरी | > | वीरी |
| छ | > | व | : | छइ | > | वइ |
| ड | > | उ | : | लाड | > | लाउ |
| भ | > | म | : | भूती | > | मूती |

इस प्रकार का भूलें राजस्थानी लिपि के कम ज्ञान होने के कारण प्रतिलिपिकार ने डॉ गुप्त द्वारा प्रयुक्त नरोत्तम स्वामी वाली प्रति में किया है। दोनों प्रतियों की इन पाठ-प्रमात प्रसूत त्रुटियों का डॉ गुप्त ने विस्तृत उल्लेख किया है।

नहटाजी द्वारा प्राप्त रासो की बहुत सी प्रतियों की सामग्री के द्वारा डॉ गुप्त ने इसके सम्पादन का कार्य अपने हाथ मे लिया। सर्वप्रथम जैसा अवश्यक होता है, उन्होंने सभी प्रतियों का सर्वेक्षण किया और उनकी विशेषताओं पर ध्यान देते हुए उनका विस्तृत परिचय दिया। इस सम्बन्ध में ज्ञातव्य है कि 'रासो की कुछ प्रतियाँ ऐसी हैं जिनमें राजस्थानी लिपि के कम ज्ञान के कारण प्रतिलिपिकारों द्वारा बहुत सी लिपि-सम्बन्धी विकृतियाँ उत्पन्न हो गई हैं। साथ ही प्राप्त प्रतियों में जहाँ कुछ प्रतियाँ अपूर्ण हैं, वहाँ बहुत सी प्रतियाँ पूर्ण हैं तथा अधिकाश प्रतियाँ पुष्पिका सहित सुरक्षित हैं। सर्वप्रथम इन प्रतियों की सामान्य परीक्षा करके उनके पाठ-साम्य के आधार पर उन्हें समूहों में विभाजित किया गया। इस प्रकार के समूहों के संकेत इस प्रकार हैं :

(१) म समूह जिसमें म और मू दो प्रतियाँ हैं।

(२) प समूह जिसमें सात प्रतियाँ हैं—प ,आ , चा , की , पु , ग्या , र , और ना।

(३) न समूह की केवल एक प्रति है, न।

(४) अ समूह में तीन प्रतियाँ हैं, अ , मो तथा ब।

(५) स समूह जिसमें दो प्रतियाँ हैं, स जो ग्रन्थ के मुद्रित संस्करण के रूप में काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित है, दूसरी प्रति प्र है।

इन विभिन्न समूहों की प्रतियों की वहिरङ्ग परीक्षा कर लेने के उपरान्त उनके अन्दर प्राप्त छन्दों की तुलना एवं परीक्षा की गई और यह देखा गया कि लगभग ११८ छन्द सर्व सामान्य हैं, शेष मे कुछ छन्द ऐसे हैं जो एकाधिक शाखाओं में प्राप्त होते हैं और कुछ विशेष प्रतियों में प्राप्त उन प्रतियों के निजी छन्द हैं। इस प्रकार विभिन्न

प्रतियों की अन्तरङ्ग एव वहिरङ्ग परीक्षा कर लेने के उपरान्त उनके परस्पर प्रतिलिपि सम्बन्ध पर विचार करना आवश्यक हुआ।

**प्रतिलिपि सम्बन्ध :** वीसलदेव रासो की प्राप्त प्रतियाँ इतने पेचीदे प्रतिलिपि-सम्बन्ध से सम्बन्धित हैं, कि उनका निराकरण कर लेना आसान काम नहीं था। ऐसी परिस्थिति में भी डॉ गुप्त ने विभिन्न समूहों की प्राप्त प्रतियों के पारस्परिक प्रतिलिपि-सम्बन्ध का निर्धारण पाठ-विकृतियों के आधार पर कुशलता से किया है। इस प्रकार के सम्बन्ध के कुछ उदाहरण नीचे दिए जा रहे हैं जो पर्याप्त होंगे :

**म, प, न, अ का सम्बन्ध :**

(१) ११६.५ का स्वीकृत पाठ है, 'दीधा हीरा पाथरी'। इसके स्थल पर इन प्रतियों में है, 'कह्यउ हमारउ जइ सुणाइ' जो वस्तुतः इसके पूर्व के एक स्वीकृत छन्द ११०.५ का पाठ है और इन प्रतियों में भी यह पाठ उस स्थल पर आया है। अतः स्पष्ट ही यह पाठ पुनरावृत्ति है जो सभी प्रतियों में आई है। अतः इनके परस्पर प्रतिलिपि सम्बन्ध का संकेत करती है।

(२) इसी भाँति स्वीकृत ६३.५ का पाठ है, 'जाणे हियडइ हरिणी हणी' जो उक्त प्रसङ्ग के अनुकूल ही है। इन प्रतियों में इसके स्थान पर आया है, 'बादल छायउ चन्द जिउ' किन्तु यह पाठ स्वीकृत ७६.५ का है और इन सभी प्रतियों में वहाँ पर भी है। यह प्रसङ्ग दोनों स्थलों पर राजमती की विरहावस्था में उसके रूप वर्णन के है। अत प्रसङ्ग साम्य से स्मृति-विभ्रम के कारण हुई भूल का यह परिणाम प्रतीत होता है।

इस प्रकार के बहुत से उदाहरण देकर डॉ गुप्त ने इन प्रतियों का परस्पर प्रतिलिपि-सम्बन्ध निर्धारित किया। एक-दो और सम्बन्धित समूहों के उदाहरण इस प्रकार हैं :

**अ. समूह की प्रतियाँ**—ये प्रतियाँ परस्पर-प्रतिलिपि सम्बन्ध से सम्बन्धित हैं। इसके उदाहरण प्रस्तुत किए गए हैं। यहाँ एक महत्वपूर्ण उदाहरण उद्धृत करना पर्याप्त है. म. समूह का छन्द १२८ अ समूह की किसी प्रति में दो बार लिख गया। यह पुनरावृत्ति इस समूह की सभी प्रतियों में मिलती है।

**प समूह की प्रतियाँ**—इस समूह की प्रतियों में भी अधिकांश निश्चेष्ट विकृतियाँ जो एक प्रति में मिलती हैं, प्रायः सभी में मिल जाती है। यथा (१) म. समूह के छन्द ७६ का पाठ प. समूह भर में भिन्न प्रकार का है। केवल स में वह म जैसा है। इससे यह भी प्रतीत होता है कि स प्रति के तैयार करने में म समूह की किसी प्रति का भी सहारा लिया गया रहा होगा। इसी भाँति अन्य समूहों की प्रतियों में भी हम

देखते हैं कि उनके पाठ तैयार करने में किसी दूसरे समूह की प्रतियों का सहारा लिया गया है। इस प्रकार बीसलदेव रासो की प्रतियों के विकृति साम्य इस बात का भी संकेत करते हैं कि इसकी प्राप्त प्रतियों में पाठ मिश्रण भी पर्याप्त मात्रा में हुआ है। इस प्रकार प्रतिलिपि-सम्बन्ध की छानबीन करके डॉ गुप्त ने शुद्ध सम्बन्धों तथा मिश्र-संबंधों आदि के आधार पर इन प्रतियों मे परस्पर बीस प्रकार के प्रतिलिपि-सम्बन्धों को ढूँढ़ निकाला और उनका पूर्ण विवेचन अपने संपादित ग्रन्थ की भूमिका में प्रस्तुत किया। प्रतिलिपि-सम्बन्धों के आधार पर निर्धारित प्रतियों के पाठ सम्बन्ध को उन्होंने निम्न प्रकार से सूचित किया है :
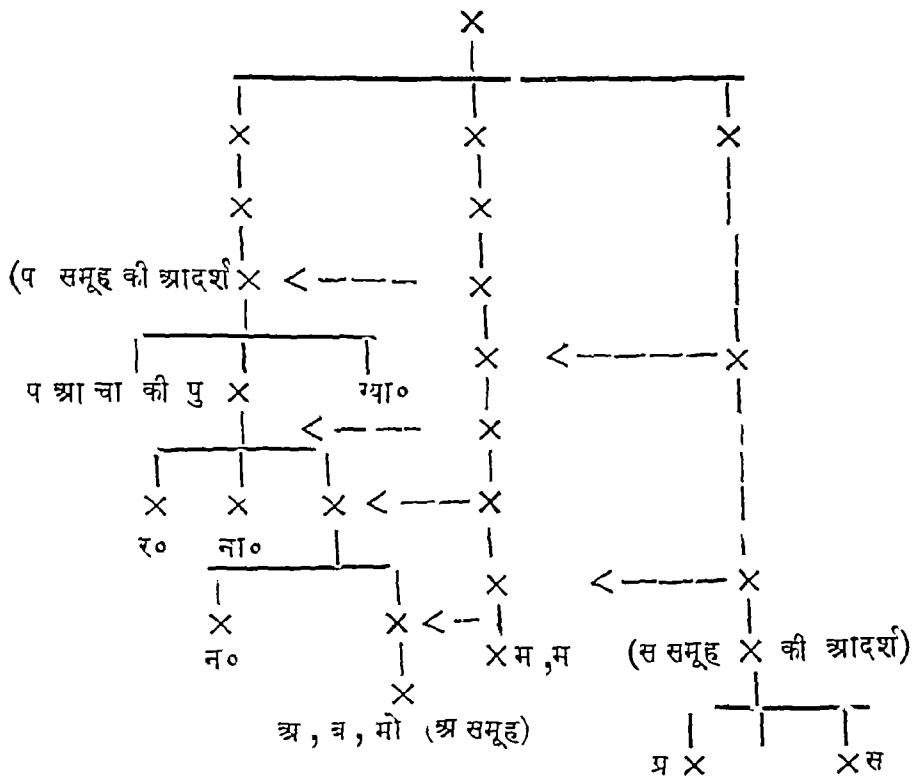
इस पाठ-सम्बन्ध के दिग्दर्शन द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है कि इन प्रतियों में स समूह की दोनों प्रतियों में स समूह की दोनों प्रतियाँ अपनी शाखा के पाठ का अमिश्रित रूप में प्रतिनिधित्व करती हैं अतएव उनका महत्व सर्वाधिक प्रमाणित हुआ। शेष प्रतियाँ किसी न किसी स्तर पर अन्य शाखा की प्रतियों से प्रभावित प्रतीत होती हैं। अतएव इस पाठ सम्बन्ध-निर्धारण के उपरांत जिन सिद्धान्तों के आधार पर डॉ गुप्त ने पाठचयन किया उनका उल्लेख करना भी आवश्यक है।

(१) अ , व , मो —ऊपर के पाठ-सम्बन्ध के अध्ययन से यह विदित होता है कि अ समूह दो अन्य समूहों ( म समूह तथा प समूह ) के मिश्रण का परिणाम है। अतः म एवं प समूह की प्रतियों के रहते हुए अ का आधार ग्रहण नहीं किया गया है।

(२) न का पाठ प समूह के साथ म समूह के किसी पूर्वज से मिश्रण का परिणाम है, अतः उक्त दो समूहों की प्रतियों के रहते हुए इस प्रति के आधार ग्रहण का कोई कारण नहीं।

(३) ग्या पर स्पष्ट ही म के किसी पूर्वज का प्रभाव रहा है, अतः प समूह के पाठ- निर्धारण में इस प्रति का सहारा न लेकर अन्य प्रतियों का ही आश्रय लिया गया है।

(४) म समूह का पाठ उक्त समूह की दो प्रतियों के आधार पर निर्धारित किया गया है।

(५) इसी प्रकार स समूह का पाठ भी उसकी दोनों प्रतियों के आधार पर निर्धारित किया है।

(६) स्पष्ट है कि प समूह का पाठ म समूह के किसी पूर्वज से प्रभावित है। अतः अन्य प्रमाणों के अभाव में इन दो समूहों का पाठ-साम्य मात्र पाठ की प्रामाणिकता के निर्धारण मे निश्चयात्मक नहीं माना जा सका है।

(७) म समूह का पाठ स. समूह के किसी पूर्वज का ऋणी है, इसलिए अन्य कारणों के अभाव में इन दोनों सापेक्ष्य समूहों का पाठ-साम्य भी पाठ की प्रामाणिकता मे निश्चयात्मक नहीं माना जा सका है।

(८) प समूह का पाठ स समूह का अथवा उसके किसी पूर्वज का ऋणी नहीं है, इसलिए इन दोनों समूहो का पाठ-साम्य मात्र साधारणतः पाठ की प्रामाणिकता के लिए पर्याप्त माना गया है।

(९) जिन पाठों में म , प और स. तीनों समूहों का पाठ-साम्य है, उनकी प्रामाणिकता स्वत. सिद्ध मानी गई है।

(१०) जिन विषयों मे म तथा प समूह एकमत हैं और स भिन्न हो अथवा न तथा स समूह एकमत हों और प समूह भिन्न हैं, उन विषयों में शेष समस्त बाह्य और अन्तरग संभावनाओं के साक्ष्य से ही पाठ-निर्णय किया गया है।

परिणाम—इन सिद्धान्तों के अनुगमन द्वारा डॉ गुप्त ने अपने संस्करण का पाठ प्रस्तुत किया। इन सिद्धान्तो के प्रयोग में उन्हे ११८ छन्द तो तीनों समूहों मे प्राप्त हुए। अत. इन्हे निर्विवाद मूल-प्रति से निःसृत मानकर ग्रहण कर लिया गया है।

प्रतियों की परीक्षा—पाठ सम्बंध निर्धारण करने के पूर्व प्राप्त प्रतियों की [illegible] परीक्षा करनी अनिवार्य होती है।। उनकी पुष्पिकाओं, पत्रों [illegible] ध्यानपूर्वक समझ लेने के उपरान्त उन प्रतियों की व्यक्तिगत [illegible] समझ लेना भी अनिवार्य होता है। छिताई वार्ता की प्रतियों की इस [illegible] परीक्षा करने पर यह ज्ञात हुआ कि दोनों ही प्रतियों के प्रारम्भ के पन्ने त्रुटित [illegible] प्रति में लिपि तथा उच्चारण संबंधी अपनी निजी विशेषताएँ हैं जिन्हें समझ [illegible] अनिवार्य था। उदाहरणार्थ, उसमें 'ओ' के स्थान पर 'उ' लिखा है :

'फ़ुसर सहित पर आउ ( आओ ) नाह।' तथा

'नल-दमयन्ती तनो बीउग ( बीओग )।'

इसी प्रकार उसमें लिपि संबंधी और भी विशेषताएँ मिलीं, जिनका सविस्तर परिचय इस ग्रंथ की भूमिका में दिया गया है। इस प्रति में प्रारम्भ के ६१ छन्द त्रुटित हैं तथा अन्य भी दो स्थलों पर बीच में क्रमशः ३० और ६६ छन्द त्रुटित हैं। इस प्रति के संबंध में संपादक का यह कथन विचारणीय है : 'प्रतिलिपि करने में यथेष्ट सावधानी नहीं बरती गई है, और न आदर्श से मिलाकर इसमें संशोधन किया गया है, परिणामतः न केवल अक्षर या शब्द ही वरन् चरण तक अनेक स्थलों पर छूटे हुए हैं। छन्द-संख्याएँ देने में स्थान स्थान पर भूलें हुई हैं और सम्पादित पाठ के छंद ६८२ के बाद तो प्रति में छंद संख्या दी ही नहीं हुई है।'

इसके प्रतिकूल श्री प्रति केवल प्रारम्भ में ही खंडित है पर इतनी अधिक खंडित है कि उसमें प्रारम्भ के २२४ छन्द नहीं हैं। यह प्रति अत्यन्त सावधानी से लिखी गई है, परिणाम स्वरूप इसमें इने गिने स्थलों पर कुछ भूलों के अतिरिक्त कहीं भी भूल नहीं मिलती है।

**पाठ सम्बन्ध**—दोनों प्रतियों के पाठों में अन्तर होते हुए भी उन दोनों में समान पाठ विकृतियाँ मिल जाती हैं। उदाहरण स्वरूप,

(१) संपादित छन्द ५६७ का पूर्वार्द्ध दोनों प्रतियों में इस प्रकार है :

क : 'चूनकी ताति तबूरा तोरि। छोरि छिताई दई उतारि।।'

श्री : 'दनंक्ति चित्त नहा सरसरी। छोरि छिताई दई उतारि।।'

दोनों पाठ में अन्तर है पर ध्यान देने की बात यह है कि दोनों में तुकान्त [illegible] है तथा दोनों पाठ प्रसंग की दृष्टि से भी किंचित विश्रृंखलित हैं। यह पाठ-विकृति दो प्रतियों में कुछ पाठ छूट जाने से सम्भव हुई होगी।

८

# छिताई वार्ता[1]

हिन्दी साहित्य में प्रेमाख्यानक काव्य- परम्परा की एक प्रशस्त धारा हमें प्राप्त होती है। प्रारम्भ में इस ढङ्ग के काव्यों का परिचय हमें सूफी प्रेमाख्यानक काव्यों द्वारा ही मिला और शुद्ध प्रेमाख्यानक काव्यों का, जो नर-नारी का प्रेमगाथा का बिना किसी रूपक या सिद्धान्त का समावेश किए हुए सहज रूप से चित्रण करते हों, कम ही परिचय प्राप्त था। इस प्रकार के काव्यों में साधारणतः 'नल-दमयन्ती कथा', 'लक्ष्मणसेन पद्मावती कथा', 'सत्यवती कथा', 'माधवानल काम कदला' का नाम प्रसिद्ध था। किन्तु इधर नवीनतम शोधों के आधार पर यह पता चलता है कि सूफी-प्रेमाख्यानक-काव्य परम्परा के साथ ही साथ शुद्ध प्रेमाख्यानक काव्य की भी एक प्रशस्त परम्परा चलती रही और साथ ही इस परम्परा मे उच्चकोटि के प्रेमाख्यानक काव्यों का प्रणयन हुआ। 'छिताई वार्ता' इसी परम्परा का एक महत्वपूर्ण ग्रथ है।

इस ग्रन्थ की भाषा एव शैली इतनी सुगठित है कि इसकी कुछ हस्तलिखित प्रतियों की प्राप्ति होते ही हिन्दी जगत के समक्ष इसके पाठ के पुनर्निर्माण का प्रश्न अत्यन्त उत्सुकता एव जिज्ञासा के साथ खड़ा हुआ। इस आख्यान से सम्बन्धित 'छीताकथा' जो जान कवि की रचना कही जाती है, स. १६६३ की रचना है। नागरी प्रचारिणी सभा की खोजों में रतनरङ्ग विरचित 'छिताई चरित' की एक प्रति प्रयाग सग्रहालय से सन् १६४१ में प्राप्त हुई, जिसका प्रतिलिपि काल स० १६८२ वि० था। तत्पश्चात् अगरचन्द नाहटा को नारायणदास की 'छिताईवार्ता' की एक प्रतिलिपि स १६४७ वि की प्राप्त हुई। इन प्राप्त सामग्रियों पर विद्वानों के विचार विमर्श हिन्दी की पत्र पत्रिकाओं में प्रारम्भ हुए। श्री वटेकृष्ण ने अपने एक लेख में 'छिताई-चरित' (प्रयाग सग्रहालय की प्रति) के सम्बन्ध में विचार प्रकट करते हुए लिखा कि 'इस प्रति

[1] स माताप्रसाद गुप्त, प्रका ना प्र स, काशी।

की तथा 'छिताई वार्ता' ( नाहटा जी को प्राप्त ) की कथा एक ही है, दोनों दो भिन्न कवियों की रचनाएँ हैं ।[1]

इस साम्य से प्रेरित होकर डॉ माताप्रसाद गुप्त ने इन दोनों ही प्रतियों को मँगाकर इनका अध्ययन किया और वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि 'रचना एक ही है, दो रचयिताओं के नाम उसमें आने अवश्य हैं । अन्तिम अंश मात्र दोनों प्रतियों में भिन्न है, अन्यथा दोनों प्रतियों में इतना ही अन्तर है जितना प्राचीन ग्रंथों की विभिन्न प्रतियों में प्रायः मिलता है ।'[2] एक ही कृति का दो नामों से मिलना या किसी एक रचयिता की कृति में दूसरे द्वारा वृद्धि करके या उसके रूप में भी कुछ परिवर्तन करके अन्य नाम से प्रचलित कर देने की प्रवृत्ति हिन्दी के अन्य भी प्राचीन ग्रन्थों में मिलती है । चतुर्भुजदास 'मधुमालती' को इसके उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत किया जा सकता है । इसी प्रकार नाभादास के 'भक्तमाल' में भी तीन, तीन रचयिताओं के नाम मिलते हैं । डॉ किशोरीलाल गुप्त का मत है कि उक्त रचना में तीनों लेखकों का हाथ है ।[3] इस महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष से प्रेरित होकर डॉ माताप्रसाद ने इन दो प्रतियों के आधार पर इस ग्रंथ का संपादन प्रारम्भ किया । यद्यपि ये दोनों ही प्राप्त प्रतियाँ प्रारम्भ में कुछ अंश तक खण्डित थीं अतः वह पाठ उतना दूर तक खण्डित ही प्रस्तुत करना पड़ा है, किन्तु वह अंश जो छूट गया है, वह बहुत ही कम है तथा कथा की पूर्णता पर

**प्रतियों की परीक्षा**—पाठ संबंध निर्धारण करने के पूर्व प्राप्त प्रतियों की अन्तरङ्ग एव बहिरङ्ग परीक्षा करनी अनिवार्य होती है।। उनकी पुष्पिकाओं, पत्रों एव त्रुटित अशों को ध्यानपूर्वक समझ लेने के उपरान्त उन प्रतियों की व्यक्तिगत विशेषताओ का समझ लेना भी अनिवार्य होता है। छिताई वार्ता की प्रतियों की इस दृष्टि से परीक्षा करने पर यह ज्ञात हुआ कि दोनों ही प्रतियों के प्रारम्भ के पन्ने त्रुटित हैं तथा क. प्रति मे लिपि तथा उच्चारण संबंधी अपनी निजी विशेषताएँ हैं जिन्हें समझ लेना अनिवार्य था। उदाहरणार्थ, उसमें 'ओ' के स्थान पर 'उ' लिखा है :

'कुसर सहित पर आउ ( आओ ) नाह।' तथा
'नल-दमयन्ती तनो बीउग ( बीओग )।'

इसी प्रकार उसमें लिपि-सबधी और भी विशेषताएँ मिलीं, जिनका सविस्तर परिचय इस ग्रथ की भूमिका मे दिया गया है। इस प्रति में प्रारम्भ के ६१ छन्द त्रुटित हैं तथा अन्य भी दो स्थलो पर बीच में क्रमशः ३० और ६६ छन्द त्रुटित हैं। इस प्रति के सबध में सपादक का यह कथन विचारणीय है प्रतिलिपि करने में यथेष्ट सावधानी नहीं बरती गई है, और न आदश से मिलाकर इसमें सशोधन किया गया है, परिणामतः न केवल अक्षर या शब्द ही वरन् चरण तक अनेक स्थलों पर छूटे हुए हैं। छन्द-सख्याएँ देने मे स्थान स्थान पर भूलें हुई हैं और सम्पादित पाठ के छद ६८२ के बाद तो प्रति में छद सख्या दी ही नहीं हुई है।'

इसके प्रतिकूल श्री प्रति केवल प्रारम्भ में ही खडित है पर इतनी अधिक खडित है कि उसमें प्रारम्भ के २२४ छन्द नहीं हैं। यह प्रति अत्यन्त सावधानी से लिखी गई है, परिणाम स्वरूप इसमें इने गिने स्थलों पर कुछ भूलों के अतिरिक्त कहीं भी भूल नहीं मिलती है।

**पाठ सम्बन्ध**—दोनों प्रतियो के पाठों में अन्तर होते हुए भी उन दोनों में समान पाठ विकृतियाँ मिल जाती हैं। उदाहरण स्वरूप,

(१) सपादित छन्द ५६७ का पूर्वार्द्ध दोनों प्रतियों में इस प्रकार है·

क. 'चूमकी ताति तबूरा तोरि। छोरि छिताई दई उतारि॥'
श्री : 'चमकितु चित्त महा सरसगी। छोरि छिताई दई उतारि॥'

दोनों पाठ मे अन्तर है पर ध्यान देने की बात यह है कि दोनों मे तुकान्त वैषम्य हैं तथा दोनो पाठ प्रसग की दृष्टि से भी किंचित विशृखलित हैं। यह पाठ-विकृति दोनों प्रतिया मे कुछ पाठ छूट जाने से सम्भव हुई होगी।

(२) सम्पादित छद ३२७ का उत्तरार्द्ध है :

क : 'अनु मो भई देस माहि गारि। ढूढ़त फिरइ पराई नारि॥'
श्री 'अदमो भई देस मै गारि। चाहतु फिर्यो पराई नारि॥'

और यही सम्पादित छन्द ४२६ के उत्तरार्द्ध में भी आता है,

श्री: 'अपनी मई पुहनि ने नारि। टूटत फिरयो पगाई नारि॥
क: में यहाँ अंश त्रुटित है। अत स्पष्ट ही पुनरुक्ति हुई है॥

इन विकृति-साम्यों के अतिरिक्त इन दोनों प्रतियों के पाठों में अलग-अलग पंक्तियाँ मिलती हैं जो प्रक्षिप्त प्रतीत होती हैं तथा साथ ही साथ ऐसे छन्द भी दोनों में पृथक्-पृथक् मिलते हैं जो प्रक्षिप्त प्रतीत होते हैं। इस प्रकार ऐसा प्रतीत होता है कि ये दोनों ही प्रतियाँ एक ही शाखा की अवश्य हैं, किन्तु एक प्रतिलिपि-परम्परा में नहीं हैं अन्यथा यह प्रक्षेप वैभिन्न्य आदि नहीं मिलता। इस प्रकार इन दोनों प्रतियों का पाठ-सम्बन्ध सम्पादक ने इस प्रकार प्रकट किया है

क. और श्री. का सामान्य पूर्वज
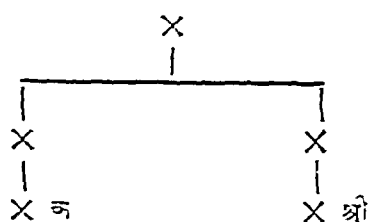
आदि की दृष्टि से विचार करके ही इन पाठों का निराकरण सम्भव था। डॉ गुप्त ने इस समस्या के समाधान में यही मार्ग अपनाया।

उन्होंने इस दृष्टि से परीक्षा करते हुए देखा कि क प्रति का पाठ जो अन्त के ८०-८५ छंदों में मिलता है, इस ग्रन्थ के पूर्ववर्ती पाठ से पूर्णतया सम्बद्ध है तथा ऐतिहासिक दृष्टि से भी वही पाठ उचित प्रतीत होता है। इसके प्रतिकूल श्री. प्रति का पाठ इस सम्बन्ध में न तो प्रसङ्ग की दृष्टि से पूर्वापर सम्बद्ध प्रतीत होता है और न ही ऐतेहासिक दृष्टि से सङ्गत है।[1] इस परीक्षा के परिणाम स्वरूप उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि क प्रति में प्राप्त पाठ ही मूल के निकट का पाठ है अतएव इसी पाठ को मूल पाठ में रखा गया है तथा श्री प्रति मे प्राप्त पाठ परिशिष्ट मे दे दिया गया है।

इन दो प्रतियों के पाठ सपादन में, जो एक ही शाखा की हैं, सपादन की सीमा अत्यन्त सीमित है। इनके आधार पर केवल इन दोनों के पूर्वज प्रति के पाठ का पुनर्निर्माण सभव था जिसे ही सपादक ने किया है और उसने इस बात को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि और प्रतियो के प्राप्त होने पर इस पाठ के सबध में और भी निश्चयात्मक रूप से विचार किया जा सकता है।

इस ग्रथ के पाठालोचन की सामान्य विशेषताए यह हैं कि इसमे ऊपर उल्लिखित अन्तर्साक्ष्य के आधार, अन्तिम ८०-८५ छन्दों का पाठ निर्धारण तथा शेष रचना का सम्पूर्ण सम्पादन पाठालोचन के सिद्धान्तों के आधार पर ही हुआ है। प्रतियों का साक्ष्य सर्वत्र लिया गया है। यहाँ तक कि लिपि-विन्यास के कारण भिन्न ढग से पढ़े जानेवाले शब्दों के लिए भी मूल-रचना में वही पाठ प्रस्तुत किया गया है जो प्रतियों में प्राप्त था, सही उच्चारण का रूप छोटे कोष्टकों मे दे दिया गया है। इसी प्रकार जहाँ कहीं दोनों प्रतियो मे भी अशुद्धपाठ मिला है और पाठालोचक यह निश्चय कर लेता है कि वहाँ पर अमुक पाठ रहा होगा, वहाँ भी प्रतियो मे प्राप्त पाठ ही मूल मे दिया गया है तथा बड़े कोष्टको मे सभावित पाठ को प्रश्नवाचक चिह्न के साथ प्रस्तुत कर दिया गया है। इस प्रकार सपूर्ण रचना मे प्रामाणिकता से सम्पादन कार्य किया गया है। प्रतियो के साक्ष्य के प्रतिकूल अपनी ओर से कहीं भी हस्तक्षेप नहीं किया गया है।

**रचना तथा रचयिता का नाम**—प्रस्तुत रचना के पाठालोचक के सम्मुख पाठ-समस्या क समाधान के उपरान्त इन दो प्रश्नों पर भी विचार करने की भी समस्या आ खड़ी हुई। दोनों प्राप्त प्रतियो का प्रारम्भिक भाग खण्डित होने के कारण रचना का नाम स्पष्ट रूप से उल्लिखित न मिल सका। दोनों प्रतियों की पुष्पिकाओं मे भिन्न-

[1] विस्तार के लिए 'छिताईवार्ता'—भूमिका पृ १३ के आगे।

भिन्न नाम मिलते हैं। क. प्रति की पुष्पिका में 'छिताई वार्ता' तथा श्री की पुष्पिका में 'छिताई चरित' मिलता है। हमने यह देखा है कि श्री. का अन्तिम अंश प्रक्षिप्त प्रतीत होता है, अतः उसकी पुष्पिका का आधार ग्रहण न करते हुए डॉ गुप्त ने 'छिताईवार्ता' नाम ही इस ग्रंथ का तब तक के लिए स्वीकार किया, जब तक कोई अधिक निश्चयात्मक आधार इस सम्बन्ध में न प्राप्त हो सके। श्री रुद्र काशिकेय 'छिताई कथा' नाम मानने का आग्रह करते हैं किन्तु इस सम्बन्ध में इतना ही निवेदन पर्याप्त है कि नाम कामचलाउ है और इस सम्बन्ध में पाठालोचन के सिद्धान्त का अनुगमन किया गया है।

रचयिता के सम्बन्ध में डॉ गुप्त की मान्यता यह है कि इसका वर्तमान रूप दो कवियों द्वारा विरचित है : नारायणदास तथा रतनरंग। इसी ग्रन्थ की प्राप्त प्रतियों के पाठ से पता चलता है कि यह रचना प्रारंभ में नारायणदास ने की और किसी रतनरंग नामक व्यक्ति ने इसे और विस्तार के साथ प्रस्तुत किया। उदाहरणार्थ,

'**रतनरंग** कवियन बुधि लई। समौ विचारि कथा बनंई।
गुनियन गनी **नरायन दास**। तामहि रतन कियो परगास॥'

यह उल्लेख दोनों प्रतियों में प्राप्त है और इससे स्पष्ट है कि कथा पहले नारायणदास कवि ने प्रकट की जिसे रतनरंग अपनी ओर से प्रकाश में लाए। कहा जा चुका है कि संयुक्त रूप से रचनाओं का प्रस्तुत करना हिन्दी के लिए कोई नवीन उदाहरण नहीं है। इसी प्रकार की क्रिया 'मधुमालती' में हुई है, जो चतुर्भुजदास की रचना है, इसकी एक ऐसी भी प्रति मिली है जिस पर माधव शर्मा नामक किसी व्यक्ति ने उसी प्रकार का कार्य किया है जैसा रतनरंग ने किया।[1] इसी प्रकार की स्थिति नाभादास के 'भक्त-माल' की है। यह रचना वस्तुतः किसी नारायणदास की थी जिसमें नाभादास ने संशोधन एवं परिवर्द्धन किया। आगे चलकर विद्वानों ने नारायणदास और नाभादास को एक दूसरे का पर्याय मान लिया।

इस संस्करण की भूमिका में रचना के कथानक की तुलना समकालीन इतिहास के तथ्यों से करके डॉ गुप्त ने उस की ऐतिहासिकता पर भी प्रकाश डाला है।

---

[1] 'चतुर्भुजदास की मधुमालती और उसका रचनाकाल'—कल्पना, सित १९५४, पृ १६।

# ९

# कबीर-ग्रंथावली

कबीरदास सत-काव्य-धारा के प्रवर्तक माने जाते है। हिन्दी साहित्य के प्रथमकोटि के कवियों में होने के अतिरिक्त, अपनी क्रान्तिदर्शी विचारधारा एव अनोखी साधना-पद्धति के कारण सपूर्ण भारतीय साहित्य में उनका विशिष्ट स्थान है। फिर भी उनकी कृतियों के पाठ की समस्या अत्यन्त विकट रही है क्योंकि उन्होंने तो कभी मसि कागज छुआ तक नहीं और न कलम हाथ में ली। हो सक्ता है, कबीर का यह कथन अपने अपढ होने के सम्बन्ध में अतिशयोक्ति के रूप में रहा हो। फिर भी कबीर के नाम पर मिलने वाले पदों, साखियों एव रमैनियों में बहुत से अन्य कवियो की रचनाएँ मिल गई हैं। साथ ही सभी हस्तलेखों मे समान रूप से मिलने वाली रचनाओं में भी बहुत ही अधिक पाठ-भेद मिलता रहा है। ऐसी स्थिति मे भी उनके महत्व के कारण उनकी रचनाओं के कई सग्रह प्रकाशित हुए जिनमे से बेल्वेडियर प्रेस से प्रकाशित सन्तवाणी सग्रह, कबीरचौरा वाराणसी से प्रकाशित बीजक मूल, वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई के सत्य कबीर की साखी आदि प्रमुख कहे जा सकते हैं। इनमें से किसी में पाठ का सपादन हुआ है ऐसा नहीं कहा जा सकता है, प्रत्युत इनके सम्बन्ध में इतना ही कहा जा सकता है कि इनमें कबीर के नाम पर मिलने वाली रचनाओं का सकलन मात्र कर दिया गया है। इसके उपरान्त कबीर पर तीन प्रमुख सम्पादन हुए जिनका हम क्रमशः विवेचन करेंगे। प्रथम तो नागरी प्रचारिणी सभा वाराणसी से प्रकाशित डॉ श्यामसुन्दरदास का, दूसरा साहित्य भवन लिमिटेड प्रयाग से प्रकाशित डॉ रामकुमार वर्मा का और तीसरा प्रयाग विश्वविद्यालय मे डी० फिल्० के शोध प्रबन्ध के रूप में तैयार किया गया डॉ पारसनाथ तिवारी का जो हिन्दी-परिषद् प्रयाग-विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित हुआ है।

कबीर ग्रथावली का पाठ—सर्वप्रथम हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर कबीर के पाठ सम्पादन का यही प्रयास था। यह कार्य ना प्र स. द्वारा पहले प अयोध्यासिंह उपाध्याय को दिया गया था किन्तु उनकी असमर्थता के कारण डॉ

श्यामसुन्दरदास ने इसे पूरा किया। डॉ दास को कबीर की रचना की दो हस्तलिखित प्रतियाँ प्राप्त थीं—पहली की पुष्पिका के अनुसार वह स १५६१ की है और दूसरी इसी प्रकार स १८८१ की है। इन दोनों ही प्रतियों मे पाठ भेद बहुत ही कम था। डॉ पारसनाथ तिवारी की शोध के अनुसार ये प्रतियाँ दादूपथी शाखा की राजस्थानी प्रतियों की परम्परा मे पड़ती हैं जिन्हें पचवाणी की प्रतियाँ भी कहते हैं। इसके अतिरिक्त उन्हे श्रीगुरुग्रथसाहब का सस्करण भी प्राप्त था, किन्तु उन्होंने प्रथम प्रति को गुरुग्रथसाहब के लेखनकाल से भी सौ वर्ष पूर्व का मानकर उसी का आधार ग्रहण किया। और इस प्रति के तथा ग्रथसाहब में समान मिलने वाले छदों के अतिरिक्त ग्रथसाहब में मिलने वाले शेष छदों को परिशिष्ट में स्थान दिया।

डॉ दास ने इन हस्तलिखित प्रतियों की समानता एव प्रथम प्रति की प्राचीनता से प्रभावित होकर कहा कि इनके अतिरिक्त मिलने वाले पाठों को सामान्यतः स्वीकार नहीं किया जा सकता 'इनके अतिरिक्त जो कुछ भी कबीरदास के नाम पर मिले, सहसा उन्हीं का कहा हुआ तब तक स्वीकार नहीं कर लेना चाहिए, जब तक उसके प्रक्षिप्त न होने का कोई दृढ़ प्रमाण न मिल जाय।'[1] जहाँ तक सम्पादन-कार्य का प्रश्न है, उन्होंने उन प्रतियों के प्राप्त पाठ को अत्यन्त प्रामाणिकता एव सतर्कता के साथ प्रस्तुत किया है। इस सम्बन्ध में उन्हीं के शब्दों में, 'इस सस्करण में मने आजकल की प्रचलित परिपाटी के अनुसार सुडौल, सुन्दर एव डिंगल के नियमों से शुद्ध बनाने का कोई उद्योग नहीं किया है।'

कबीर ग्रन्थावली में कबीर की रचनाओं की एक शाखा का पाठ यथासम्भव सुरक्षित रूप में प्रस्तुत किया गया है, किन्तु उस समय पर्याप्त सामग्री के अभाव में यह सम्भव नहीं था कि कबीर के मूल पाठ के निकट पहुँचा जा सके। ग्रन्थावली के सस्करण के पाठ मे एक शाखा मात्र का पाठ होने के अतिरिक्त एक दोष स्पष्ट रूप से स्थान स्थानपर देखने को मिलता है, वह यह है कि इसमे प्रतियों के पाठ को पढ़ते समय शब्द विग्रह सम्बन्धी पर्याप्त भूलें हुई हैं। इस सम्बन्ध में डॉ रामकुमार वर्मा ने लिखा है कि 'ग्रन्थावली मे अनेक स्थलों पर शब्दों को अलग-अलग पढ़ने मे भूल हो गई है। कहीं एक शब्द दूसरे से जोड़ दिया गया है, कहीं किसी शब्द को तोड़कर आगे और पीछे के शब्दों से मिला दिया गया है।'[2] साथ ही ग्रथावली के सम्पादन में प्राप्त प्रथम प्रति की पुष्पिका जिसके आधार पर उसकी प्राचीनता मानी गई, भी जाली

प्रतीत होती है जिसका विवरण डॉ वर्मा ने अपने सन्त कबीर की प्रस्तावना के ६-७ पृष्ठ पर दिया है।

सन्त कबीर का पाठ—सन्त कबीर के सम्पादन में डॉ रामकुमार वर्मा ने उस समय प्राप्त कबीर सम्बन्धी सपूर्ण सामग्रियो की छानबीन की। ग्रन्थावली के पाठ-सम्बन्धी दोषो के साथ कबीर की रचनाओं के अन्य प्रकाशित सग्रहों के दोषों का विवेचन करने के उपरान्त, उन्होंने दृढ़तापूर्वक यह मानकर सन्त कबीर का सम्पादन प्रारम्भ किया कि गुरुग्रन्थसाहब मे प्राप्त कबीर का पाठ सर्वाधिक प्राचीन एव मूल के निकट का पाठ है। इसके लिए उन्होंने कई युक्तियाँ भी प्रस्तुत की हैं। यथा, गुरुग्रथ-साहब का सस्करण गुरुमुखी लिपि में होते हुए भी कबीर की रचनाओं में पूर्वी भाषा एव व्याकरण के रूपो को सर्वाधिक सुरक्षित किए हुए है तथा ग्रन्थ साहब के एक धार्मिक ग्रन्थ होने के कारण इसके प्रत्येक शब्द की महत्ता स्वीकार की गई और उसी रूप में शब्द प्रति शब्द इसकी प्रतिलिपियाँ भी होती रही हैं, अतः इसमें पाठ भेद की भी कम ही सम्भावना रही। इनके आधार पर उन्होंने निष्कर्ष रूप में लिखा : 'मैंने सन्त कबीर का सम्पादन गुरुग्रथसाहब के अनुसार ही बड़ी सावधानी से किया है। इसमें कबीर का काव्य पाठ्य भाग तथा सख्या की दृष्टि से ठीक ठीक प्रस्तुत किया गया है।'

इसमे सन्देह नहीं कि डॉ वर्मा ने ग्रथसाहब की परपरावाले पाठ को उसी भाँति निर्विकार रूप में प्रस्तुत किया जिस प्रकार कबीर ग्रथावली में दादूपथी शाखा की प्रतियों का पाठ प्रस्तुत किया गया था। स्पष्टत: ये दोनों ही पाठ कबीर की पाठ-परपरा की एक-एक शाखाओं के पाठ हैं। सत कबीर के पाठ में उन विकृतियों का भी परिहार नहीं किया गया है जो पजाबी भाषा और लिपि की विशेषता के कारण सभव हुई थी और जिनका ज्ञान भी सपादक को था। 'पजाबी में धातु के पूर्वकालिक कृदत 'आ' अथवा 'इआ' लगाकर बनाए जाते है। 'इ' से अन्त होनेवाली धातुएँ 'आ' से जुड़कर भूतकालिक कृदत बनती है।'[1] फिर भी इस प्रकार की पजाबी क्रियापदों की विशेषताए कबीर के पदों और साखियों के सम्पादन मे, स्पष्टरूप से इस सस्करण मे मिल जाती है। यथा,

(१) 'सकल जनमु सिवपुरी गवाइआ।
मरती बार मगहर उठि आइआ॥'[2]

[1] सन्त कबीर, (प्रस्ता) पृ २०।
[2] वही पृ १७।

(२) 'अह मैं कथि कथि अत न पाइआ।
राम भगति बैठे घर आइआ ॥'[१]

**डॉ. पारसनाथ के संस्करण का पाठ**—स्पष्ट है कि उक्त दो संस्करणों मे भी पाठालोचन की वैज्ञानिक विधि का प्रयोग न हो सका। इस दृष्टि से प्रयाग विश्वविद्यालय से पारसनाथ तिवारी को कबीर के पाठ पर शोध का विषय स्वीकृत हुआ और उन्होंने डॉ माताप्रसाद गुप्त के निर्देशन मे यह कार्य सम्पन्न किया। कबीर की पाठ-समस्या कई दृष्टियों से जटिल थी। एक तो उनकी रचनाए मुक्तक के रूप में प्राप्त हैं अतः उनमे पूर्वापर क्रम तथा सगति सबन्धी अतरग सभावनाए नहीं देखी जा सकती थीं और प्रक्षिप्त पदों एव साखियों के निराकरण में कठिनाई थी, दूसरे कबीर का पाठ मूलत कदाचित् मौखिक परपरा में रहा होगा और बाद मे वह लिपिबद्ध हुआ होगा। इसलिए भी इसके मूलपाठ के निकट पहुँचने मे कुछ कठिनाई थी। डॉ तिवारी ने वैज्ञानिक विधि से कबीर के पाठशोध का सराहनीय प्रयास किया। उनकी सम्पादन विधि का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है :

**सामग्री-परीक्षा**—सामग्री के रूप में कबीर की रचनाओं की बहुत सी हस्तलिखित प्रतियाँ, कुछ छपे सस्करण के पाठ तथा गुरुग्रथसाहब के पाठ आदि उन्हें मुख्य सामग्री के रूप में प्राप्त थे। इसके अतिरिक्त सहायक-सामग्री के रूप में भी उन्होंने कबीर की रचनाओं पर प्राप्त अनेक विद्वानों की टीकाओं तथा बीजक-शब्दकोश आदि ग्रथों का उपयोग किया।

प्रमुख आधार भूत सामग्री के रूप में उन्हें जो प्रतियाँ प्राप्त हुई, उनके पाठ-साम्य के आधार पर उन्होंने उन्हें विभिन्न शाखाओं में विभाजित किया जिनके पाठों की पृथक पृथक परपराए प्राप्त होती हैं। ये शाखाए इस प्रकार हैं :

(१) दादूपथी शाखा (२) निरजनी पथ की शाखा (३) गुरुग्रथसाहब की शाखा (४) बीजक की शाखा (५) साखी मात्र की प्रतियों की शाखा (६) प्राचीन सकलनों (सर्बंगी आदि) की शाखा (७) मौखिक परपरा की शाखा (आचार्य क्षितिमोहन सेन द्वारा सपादित कबीर के आधार पर)।

इन शाखाओं की प्राप्त प्रतियो एव अन्य मुद्रित ग्रथों का विस्तारपूर्वक विवरण प्रस्तुत करने के उपरान्त उन्होंने इनमें प्राप्त सकीर्ण सबधों की परीक्षा की। सकीर्ण

---

[१] सन्त कबीर, (प्रस्ता ) पृ २१।

सम्बधों की यह परीक्षा पाठालोचन के सिद्धान्तों के आधार पर उन्होंने बड़ी सतर्कता से की और परिणामस्वरूप यह निष्कर्ष निकाला कि इन विभिन्न परपराओं मे से कुछ के पाठ एक दूसरे से पाठविकृति सबध से सबधित है।

## दादूपथी तथा निरजनीशाखा का सकीर्ण सबन्ध

इन दोनों शाखाओ का एक समान पाठ है, 'करि फिकर दद सालक, 'जसम जहाँ स तहाँ मौजूद।' जसम के स्थान पर एक अन्य शाखा की प्रतियों में **चसम** प मिलता है। प्रसगादि की दृष्टि से चसम पाठ ही ठीक है। इस पाठ के जसम होने बहिरग सम्भावना भी प्रतीत होती है जो उर्दू लिपि में 'जीन' और 'चे' के साम्य कारण है इस पाठ-विकृति का उपर्युक्त पाठ दोनों शाखाओं में आना इनका पर प्रतिलिपि-सबध निर्धारित करता है। इसी प्रकार इन दोनों प्रतियों में नागरीलिपि-जा विकृतियों तथा राजस्थानी प्रभाव जनित विकृतियों के साम्य का उदाहरण देकर उन इनके परस्पर प्रतिलिपि सबध का निर्णय किया है। इस प्रसङ्ग में उन्होंने एक उ हरण प्रस्तुत किया है कि इन दोनो शाखाओं का सामान्य पाठ है, 'एकनि दीन्ही गुदरी, एकनि सेज पयारा।' इसमें ग्र थसाहब की शाखा में **गरै** के स्थान पर पाठ मिलते हैं जिसे ठीक समझ कर उन्होंने गरै पाठ को विकृत माना है। इस र में उनका कथन हैं, 'अवधी 'गरे' का अर्थ होगा गले या गरदन में। गुदरी के प्र में गर्दन का कोई प्रश्न नहीं उठता, क्योंकि गुदरी बिछाने ओढ़ने के काम आती गले में नहीं लपेटी जाती। यहाँ गु द्वारा प्रस्तुत 'गरी' पाठ (सड़ीगली या जीर्ण) प्रसङ्ग के अनुकूल तथा मूल का ज्ञात होता है।' इस प्रसङ्ग में मैं डॉ तिवारी से स मत नहीं हूँ क्योंकि 'गरै गुदरी' और 'सेज पयारा' ये दोनों ही प्रयोग यहाँ लाक्षणि रूप में प्रयुक्त प्रतीत होने है। 'गरे गुदरी' का अर्थ भिक्षा मागने का जीवन (जैसे भी मागनेवाले गले में गुदरी डाल कर घूमते है) तथा 'सेज पयारा' का तात्पर्य सुखोपभो का जीवन है। फिर भी पर्याप्त पाठ विकृतियों का उदाहरण देकर उन्होंने इ शाखाओं के सङ्कीर्ण सम्बध की स्थापना की है।

इसी प्रकार सभी शाखाओं की प्रतियों के परस्पर सकीर्ण सम्बन्ध की स्थापना उन्होंने समान पाठ विकृतियों के आधार पर प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। इस प्रकार प्रतियों के परस्पर प्रतिलिपि सम्बन्ध को उन्होंने निम्न प्रकार से प्रस्तुत किया।

संकेत

गु० = गुरुग्रन्थसाहब।
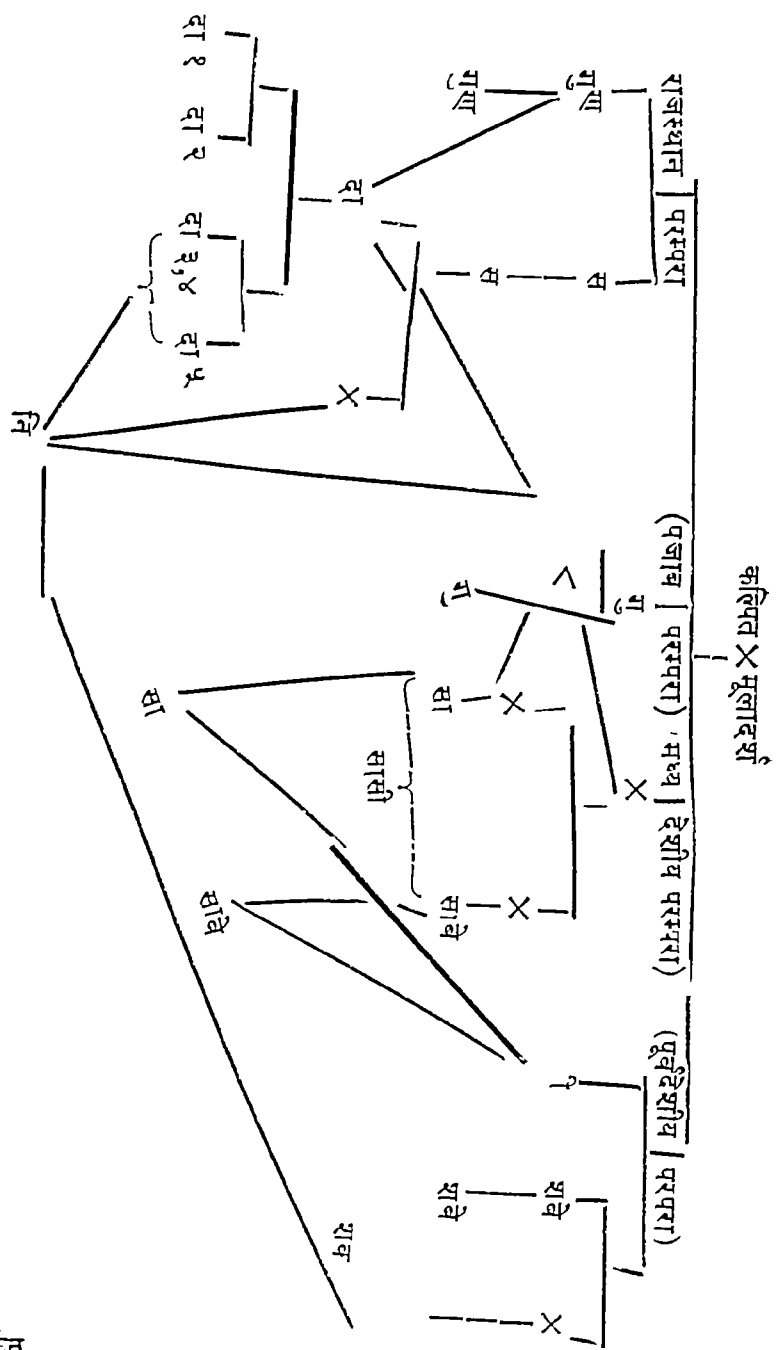
गुण० = गुणगञ्जनामा ( जगन्नाथदास, संकलित ) ।

दा० = दादूपन्थी प्रतियाँ ( पञ्चवाणी परम्परा ) ।

नि० = निरञ्जनी सम्प्रदाय की प्रति ।

बी० = बीजक ।

शक० = शब्दावली ( कबीरचौरा ) ।

शबे० = शब्दावली ( बेल्वेडियर प्रेस ) ।

स० = सर्बंगी ( रज्जबदास संकलित ) ।

सा० = साखी-प्रति ।

साबे० = साखी-ग्रथ ( बेल्वेडियर प्रेस ) ।

साखी० = साखी-ग्रन्थ ( सीया-बाग, बड़ौदा ) ।

○ = कल्पित आदर्श ।

स्पष्ट ही अनेक शाखाओं मे पाठ मिश्रण लक्षित होता है ।

सिद्धान्त—इस पाठ-सबन्ध-निर्धारण के उपरान्त निम्नलिखित सिद्धान्तों का अनुगमन उन्होंने किया ।

( १ ) जो पाठ सभी प्रतियों में प्राप्त था उसे निश्चित रूप से मूल का मान लिया गया ।

( २ ) सङ्कीर्ण सम्बन्ध वाली प्रतियों में प्राप्त पाठ के स्थल पर बिना उक्त प्रकार के सङ्कीर्ण सम्बन्ध वाली प्रतियों के समुच्चय स्थिर किए और उनमें प्राप्त पाठ को प्रधानता दी गई है ।

( ३ ) दो समान रूप से स्वीकृत समुच्चयों के पाठों में यदि भिन्न पाठ मिले तथा बाह्य रूप से दोनों ही उपयुक्त प्रतीत हुए तो उस समय केवल प्रतियों की दृष्टि से देखकर जिन प्रतियों मे सङ्कीर्ण सम्बन्ध की सम्भावना नहीं रही है, उनका पाठ स्वीकृत किया । इस दृष्टि से विचार करते समय उन्होने निम्नलिखित बातों का ध्यान रखा :

( अ ) लिपि जनित विकृति की दृष्टि से—जहाँ कोई पाठ अन्य पाठ से लिपि-जनित विकृतियों से सम्भव प्रतीत हुआ, वहाँ शुद्ध पाठ ग्रहण किया ।

( ब ) पुनरुक्ति—अन्य बातों के समान रहते हुए पुनरावृत्ति वाले प्रसङ्गों की अपेक्षा बिना पुनरावृत्ति वाले पाठ को मान्यता दी।

( स ) प्रसङ्ग की दृष्टि से—प्रसङ्ग में उपयुक्त लगने वाले पाठ को अप्रासङ्गिक पाठ की अपेक्षा प्रधानता दी गई है।

( द ) दुर्बोधता की दृष्टि से—दुर्बोध पाठ जो शुद्ध प्रतीत हुए उनको सरल प्रचलित पाठों की अपेक्षा प्रधानता दी गई।

( य ) भाषा की दृष्टि से—भाषा की दृष्टि से शुद्ध पाठों को अशुद्ध पाठों की तुलना में वरीयता दी गई।

( र ) इसी प्रकार प्रसङ्ग, व्याकरण तथा कवि-समय आदि की दृष्टि से उपयुक्त पाठ को इसके प्रतिकूल मिलने वाले पाठ की अपेक्षा प्रधानता दी गई।

( ल ) साथ ही ऐसा करते समय साम्प्रदायिक संशोधनों, तुकों तथा पाठ-परम्परा की दृष्टि से महत्वपूर्ण प्रतियो का भी ध्यान रखा।

**क्रम-निर्धारण**—क्रम निर्धारण का विचार करते हुए भी उपरोक्त सिद्धातों का ही अनुगमन उन्होने किया है। पश्चिमी प्रदेशों की तीनों शाखाओं की प्रतियो मे परस्पर आदान-प्रदान देख कर उनके परस्पर साम्य को आधार न मानकर पूर्वी प्रदेश की प्रतियो में समान मिलने वाले क्रमों को स्वीकार किया गया है। इस दृष्टि से पदों मे विषय की दृष्टि से विभाजित क्रम तथा साखियो मे अङ्गों की दृष्टि से विभाजन का क्रम स्वीकार किया है।

**पाठ-संशोधन**—अपने द्वारा किए गए पाठ संशोधनो को डॉ तिवारी ने असाधारण संशोधन नाम दिया है। संशोधन बहुत ही कम स्थलो पर हुए हैं और वह भी वहीं जहॉ जितने भी प्राप्त पाठ हैं सभी भ्रष्ट रहे हैं। साधारणत. संशोधनों से तात्पर्य ऐसे संशोधनो से है जहॉ पर बहिरङ्ग तथा अंतरङ्ग दोनो ही संभावनाओं से संशोधित पाठ ही मूल का सिद्ध होता है। यथा,

(१) प्रस्तुत संकलन के ५वें पद का ७वा चरण है,

'सुर तैंतीसो कोटिक आए, मुनिवर सहस अठासी।'

इसमें 'कोटिक' के स्थल पर 'कौतिग' और 'कउतक' पाठ कुछ प्रतियों में आए हैं। प्रसङ्गादि दृष्टि से तो 'कोटिक' उपयुक्त ही है, साथ ही इसकी बहिरङ्ग संभावना भी स्पष्ट ही है, क्योंकि 'कोटिक' मे उर्दूलिपि में ( 'ट' का त तथा 'क' का ग, 'टे'-'ते'

तथा 'काफ'-'गाफ' के रूप साम्य के कारण अत्यत सभव है ) 'कौतिग' हो गया होगा और फिर उसका अर्थ न निकल पाने के कारण प्रतिलिपिकारों की कृपा से कउतक कर दिया होगा।

(२ १०८ २ 'तरवार एक पींड बिनु ठाढ़ा, बिनु फूले फल लागा।'

कुछ प्रतियों मे 'पींड' के स्थान पर 'पेड़' तथा 'मूल' आदि पाठान्तर हैं। पर प्रस्तुत प्रसङ्ग में ये दोनो ही पाठ सार्थक एव प्रसङ्गोचित नहीं हैं। निश्चित ही इस स्थल पर पींड पाठ रहा हो होगा जिसका अर्थ है,

पिण्ड > पींड (वृक्ष की जड़ में मिट्टी सकुलित पिण्ड)।

इस पाठ से सुबोधता की दृष्टि से 'पेड़' पाठ करना सभव प्रतीत होता है जो निरर्थक है अत. पुनः सार्थकता लाने के लिए इसका 'मूल' कर दिया गया होगा। पींड का इसी अर्थ में प्रयोग जायसी ने भी किया है, २८ २ 'कटहर डार पींड सो पाके।'[1]

इस प्रकार के १३ सशोधन उन्होंने प्रस्तुत किए हैं जो प्राय. उपयुक्त ही प्रतीत होते हैं। हम देखते हैं कि कबीर के पाठ के ऊपर किया गया यह सपादन-कार्य सर्वाधिक प्राप्त सामग्रियों के आधार पर हुआ है तथा इसमें पाठालोचन के सिद्धान्तों का अनुगमन भी किया गया है। अत. यह पाठ कबीर के मूल पाठ के पुनर्निर्माण की दिशा में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रयास है। यह अवश्य है कि कबीर के उलझे हुए पाठों का अन्तिम निराकरण इस सपादन द्वारा भी नहीं हुआ है, फिर भी जो दिशा इस कार्य द्वारा प्रशस्त की गई वह कबीर के आलोचकों एव शोधकर्ताओं के लिए दीप-स्तम्भ का कार्य करेगी। वैज्ञानिक-विधि के अवलबन और इतने श्रम के उपरात भी कहीं-कहीं कबीर की अपभ्र श मिश्रित भाषा के अर्थ तक न पहुँच सकने के कारण उन्होंने पाठ-निर्धारण में भूल की है। उदाहरणार्थ, कबीर-ग्रथावली का पाठ है,

'सतगुर कै सदकै करूं, दिल अपणी का साछ।
कलियुग हसस्यू लड़ि पड्या, मुहकम मेरा बाछ॥' १ २।

इस सस्करण का पाठ है,

'सतगुरु कै सद कै लिया, दिल अपनी का साच।
कलियुग हमसो लडि पडा, मुह कम मेरा वाच॥'

इन दोनों पाठों मे छ पाठान्तर मिलते हैं जिनमें मेरी दृष्टि में चार स्थलों पर तो प्रस्तुत सस्करण का पाठ ठीक है पर दो स्थलो पर ग्रन्थावली का पाठ ही मूल का प्रतीत

[1] जायसी ग्रथावली (एकेडमी-सस्क), पृ १३८।

होता है। 'सटकै करूँ' के स्थान पर 'सदकै लिया' ठीक ही प्रतीत होता है। 'अपणीं' मूल 'अपनी' का पञ्जाबी-राजस्थानी रूप प्रतीत होता है, इसी प्रकार 'स्यू' और 'पड़या' की भी स्थिति है। जहाँ तक अन्तिम दो शब्द 'साछ' और 'बाछ' के स्थान पर 'साच' और 'बाच' का सम्बन्ध है, प्रस्तुत प्रसग में स्वीकृत पाठान्तर सरलतर पाठ ( Easier Readings ) प्रतीत होते हैं और 'साछ' तथा 'बाछ' दुर्बोध पाठ ( Harder Readings ) हैं जो प्रस्तुत प्रसङ्ग मे द्वितीय पाठ से भी अधिक सार्थक हैं। ये अपभ्र श के शब्द हैं :

| | | |
|---|---|---|
| साछ | < | स्वच्छ। |
| बाछ | < | वाञ्छा। |

इस पाठ से इस साखी का अर्थ होगा, 'सतगुरु की शरण लिया, मेरा दिल साफ है। कलियुग मुझ से लड़ पड़ा किन्तु मैं बाछा (मवल्प) का दृढ़ (मुहकम) हूँ।'

इस प्रकार इन छोटी मोटी भूलों के होते हुए भी यह सपादन कबीर पर अब तक हुए पाठ-सम्बन्धी कार्यों में निर्विवाद रूप से श्रेष्ठ है।

———

## १०

# मधुमालती

सूफी प्रेमाख्यानक काव्यधारा में मधुमालती का नाम सुना तो बहुत जाता रहा है, पर उसके वास्तविक रूप का शोध अब जाकर हो सका है। प्रारम्भ में उसकी एकाध प्रतियों का पता लगा और विद्वानों ने उनके आधार पर अपना मत पत्र पत्रिकाओं में व्यक्त किया। धीरे धीरे कई हस्तलिखित प्रतियों का पता चला और उनके सपादन का भी प्रश्न तभी आया। इस ग्रथ का प्रथम सम्पादन डॉ शिवगोपाल मिश्र ने किया जो १९५७ ई में हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय वाराणसी से प्रकाशित हुआ। इस सम्पादन मे डॉ मिश्र ने पॉच प्रतियों का उल्लेख किया और तीन और प्रतियों का पता उन्हे चला पर वे उपर्युक्त पॉचा से विभिन्न न होने के कारण बहुत महत्वपूर्ण नहीं समझी गई हैं। डॉ माताप्रसाद गुप्त के अनुसार इस सम्पादन मे प्रयुक्त एकडला, जिला फतेहपुर की एक प्रति मात्र है, और वह भी शुद्ध पाठ की किसी शाखा की न होकर एक मिश्र-पाठ की शाखा की है। अतः स्वाभाविक रूप से उस प्रति के आधार पर प्रस्तुत पाठ मझन कवि द्वारा प्रस्तुत 'मधुमालती' का मूलपाठ नहीं हो सकता। उक्त सम्पादन में विद्वान सपादक ने प्रति का साक्ष्य ग्रहण किया है। इस सम्बन्ध मे उनका कहना है:

'ध्यान मे सदैव यही रखा गया है कि कोई ऐसा परिवर्तन सम्पादक की ओर से न हो, जिससे मूलरूप विकृत हो जावे। ऐसा करने से यत्र-तत्र ऐसे शब्द रह गए हैं जिनके अर्थ हमे स्वय स्पष्ट नहीं हो पाए। उनको उन्हीं रूपों में रहने देने से हमें विश्वास है कि आगे चलकर उचित सशोधन किया जा सकेगा। किसी भी रूप को अपने अहकार के बल बदल देने का अधिकार न होना चाहिए। सभव है, वही असली रूप हो और उचित ज्ञान के न होने के कारण हम उसके अभ्यस्त न हों।'[1]

इसके उपरान्त डॉ माताप्रसाद गुप्त ने चार उपलब्ध प्रतियों के आधार पर

[1] मझनकृत 'मधुमालती', भू ६७।

'मधुमालती' का पाठ प्रस्तुत किया जिसमें प्रथम प्रति रामपुर के पुस्तकालय में है, इसके लिए 'रा.' संकेत प्रयुक्त किया गया है। यह फारसी लिपि में लिखित है। डॉ. गुप्त के अनुसार इसकी एक अन्य प्रतिलिपि भारत कला भवन, हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी में है और एक माइक्रोफिल्म कॉपी नेशनल आर्काइव्स नई दिल्ली में है। दूसरी प्रति का संकेत 'भा' है क्योंकि यह भारत कलाभवन वाराणसी में है। यह भी फारसी लिपि में है। तृतीय प्रति का संकेत 'मा' है क्योंकि इसके लेखक कोई माधोदास हैं। यह प्रति भी भारत कलाभवन वाराणसी की है। चतुर्थ प्रति का संकेत 'ए' है क्योंकि यह एकडला जिला फतेहपुर की प्रति है। इस प्रति के पाठ के लिए डॉ. शिवगोपाल मिश्र सम्पादित मधुमालती के पाठ का उपयोग किया गया है।

**पाठ-सम्बन्ध**—इन चारों प्रतियों में भी परस्पर पाठ सम्बन्ध है। डॉ. गुप्त ने उदाहरणों द्वारा यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि इनका परस्पर प्रतिलिपि सम्बन्ध है। उक्त सम्बन्ध के विश्लेषण में डॉ. गुप्त ने जिन पाठ-विकृतियों का उदाहरण प्रस्तुत किया है, वे उदाहरण किन्हीं किन्हीं दशाओं में पाठ सम्बन्ध निर्धारण में पर्याप्त नहीं माने जा सकते। जैसे मा भा, ए के पाठ-सम्बन्ध निर्धारण के लिए पहला उदाहरण यह है

'३०३ ५ : स्वीकृत पाठ है :

'सरग चाँद जैस कुई पतारा।
इन्ह दुहुँ कैस पेम बेवहारा।'

'जैस कुई पतारा' के स्थान पर मा में 'बसै मीन पतारा', भा में 'बस मीन पतारा' और ए में 'बस मीन पतारा' है। प्रेम व्यवहार चन्द्र और कुमुदनी का ही लोक प्रसिद्ध है, चन्द्र और मीन का नहीं।'[1] यहाँ पर पाठान्तर-साम्य सङ्कीर्ण-सम्बन्ध के कारण मानकर इन प्रतियों को परस्पर सङ्कीर्ण-सम्बन्धयुक्त माना गया है। स्वीकृत पाठ सार्थक है, ऐसा सम्पादक महोदय का मत है। मेरी दृष्टि में तो 'पतारा' (पताल) की सङ्गति तो 'मीन' पाठ से ही अधिक है अपेक्षाकृत 'कुई' के। कुई तो सरोवर के ऊपर फूलती है जिसका प्रेम चन्द्र से व्यक्त होता है। पाताल में तो 'मीन' का ही होना सङ्गत है। इसके साथ ही जब डॉ. गुप्त यह कहते हैं कि 'प्रेम व्यवहार चन्द्र और कुमुदिनी का ही लोक प्रसिद्ध है चन्द्र और मीन का नहीं' तो दूसरे चरण में आश्चर्यसूचक 'कस' का क्या प्रयोजन है? तात्पर्य यह कि चन्द्र और मीन का कैसा प्रेम होता है, अर्थात् नहीं होता है, कदाचित् यही कवि का अभिप्रेत है। यदि मेरी यह धारणा सत्य है तो यह सम्बन्ध सत्य सम्बन्ध हुआ न कि प्रतिलिपि सम्बन्ध। अतः इसके

[1] डॉ. माता प्रसाद गुप्त सम्पादित—मधुमालती, (भू.) पृ. ३२।

आधार पर प्रतिलिपि सम्बन्ध निर्धारण नहीं हो सकता। पर सम्पादक ने एक एक पाठ सम्बन्ध के निर्धारण के लिए कई कई प्रमाण प्रस्तुत किए हैं जिनमें से अधिकाश सङ्गत ही हैं। जैसे इन्हीं प्रतियों के परस्पर सम्बन्ध की पुष्टि के लिए एक पाठ लिया गया है जिसका स्वीकृत पाठ है :

'नगर जो लोग राय औ राने पच अब्रित जेवनार।
एक एक जन आगे सहस सहस परकार।।' (४८६ ६-७)।

उपर्युक्त तीनो प्रतियो मे 'नगर जो' के स्थान पर 'बाभन' पाठ है। यह 'नगर जो' पाठ राय और राने के अर्थ में भी ठीक है जब कि 'बाभन' उस सदर्भ में उतना ठीक नहीं है। साथ ही अन्तर्साक्ष्य से भी यह पाठ प्रामाणिक है, राजा ने नगर भर को आमत्रित किया था :

'घर घर नगर बधावा बाजा।
पुर पट्टन नेवते सभ राजा।।'

इसी प्रकार पाठ विकृतियों के विश्लेषण द्वारा सम्पादक महोदय ने भा ए, मा भा, मा ए तथा रा ए में भी पाठ-सम्बन्ध का होना सिद्ध किया है। रा प्रति का कोई सम्बन्ध भा और मा से नहीं है। अतः इन दोनों की और रा की पृथक शाखाएँ हैं तथा ए दोनों शाखाओं की पाठ-विकृतियों से युक्त है अतः निश्चय ही इन दोनों शाखाओं के मिश्रपाठ की प्रति है। इन प्रतियों का प्रतिलिपि सम्बन्ध सपादक ने इस प्रकार दिखाया है .
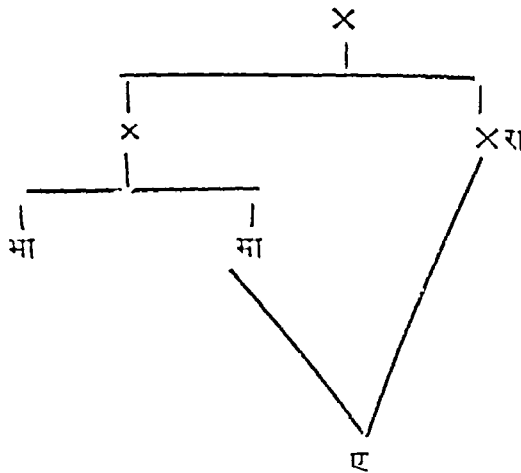
सम्पादन सिद्धांत

इस पाठ सम्बन्ध निर्धारण के उपरान्त सपादन कार्य अत्यन्त सरल हो गया। जिन शाखाओं का पाठ मिश्रण ए मे है उनके वर्तमान होने पर ए का कोई महत्व

# ११

# पृथ्वीराज रासउ[1]

जिसे हिन्दी का प्रथम महाकाव्य होने का गौरव प्राप्त है, वही ग्रंथ सुदीर्घकाल से विवादों का केन्द्र रहा है। विवाद का मूल कारण उसका वह पाठ ही रहा है जो हमें प्राप्त था। इस ग्रंथ का बृहत संस्करण सर्वप्रथम १८३७ में रॉयल एशियाटिक सोसाइटी बङ्गाल से प्रकाशित होना प्रारम्भ हुआ था। इसी बीच संस्कृत के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज करते समय डॉ बूलर को काश्मीर से 'पृथ्वीराज विजय' नामक ग्रंथ की एक प्रति प्राप्त हो गई। इस ग्रन्थ के ऐतिहासिक उल्लेख जो पृथ्वीराज के प्राप्त शिलालेखों से भी साम्य रखते थे, रासो की ऐतिहासिक प्रतिष्ठा को ध्वस्त करने के कारण बने और परिणाम स्वरूप सन् १८८६ में सोसाइटी ने इसका प्रकाशन बंद कर दिया। यह ग्रंथ पुनः काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाश में लाया गया। अब तक प्रायः जितना भी वैचारिक संघर्ष चल रहा है, वह सभा द्वारा प्रकाशित रासो के इसी बृहद् संस्करण के आधार पर ही चला है।

उक्त संस्करण में प्राप्त ऐतिहासिक भ्रान्तियों के कारण प्रसिद्ध इतिहासज्ञ पं गौरीशंकर ही ओझा ने क्षुब्ध होकर इस ग्रंथ को जाली कहा। इसी विचार परम्परा में श्री श्यामलदास तथा पं रामचन्द्र शुक्ल आदि ने भी योगदान दिया। इसके प्रतिकूल विचारकों के एक अन्य वर्ग ने रासो को पूर्णतः प्रामाणिक ग्रंथ मानने का आग्रह किया। इस वर्ग के प्रमुख विद्वान हैं पं हरप्रसाद शास्त्री, श्री मोहनलाल विष्णुलाल पाण्ड्या, डॉ श्यामसुन्दरदास तथा मिश्रबंधु आदि। किन्तु दूसरे मत के समर्थकों के तर्क बड़े विचित्र थे। किसी ने संवत गणना में खींचतान करके रासो की ऐतिहासिकता की सुरक्षा का प्रयास करना चाहा, तो किसी ने काव्य होने के नाते उसकी ऐतिहासिक असङ्गतियों को क्षम्य माना। इसी प्रकार के एक तीसरे मत का प्रतिपादन भी श्री नरोत्तम स्वामी ने किया। आप की मान्यता है कि रासो का मूल रूप अपभ्रंश मे लिखा गया था। वर्त-

[1] सं डॉ मातप्रसाद गुप्त, साहित्य-सदन, चिरगाँव, झाँसी से प्रकाश्यमान।

मान रूप तो उससे बाद में रूपान्तरित किया गया और इसके कारण कुछ ऐतिहासिक भ्रान्तियाँ आ गई ।

कालान्तर में खोजों के परिणाम स्वरूप रासो की बहुत सी हस्तलिखित प्रतियाँ प्राप्त हुई । इन प्रतियों के पाठों में परस्पर इतना विरोध था कि प्रश्न ने दूसरा ही रूप धारण कर लिया । अब प्रश्न हो गया कि रासो का मूल रूप कौन सा है ? साधारणतया रासो की प्रतियों के चार रूपान्तर हमे मिलते हैं—(१) वृहद् (२) मध्यम (३)लघु (४) लघुतर । अब तो इसी में भाग-दौड़ प्रारम्भ हो गई कि इनमें से ही रासो का मूल रूप कोई अवश्य होगा । किसी ने यह कहना प्रारम्भ किया कि मूलरूप तो वृहद् ही है और सक्षेप की प्रक्रिया से अन्य रूप आते गए और किसी ने यह मान लिया कि लघुतर रूप ही मूल है और शेप प्रक्षेपों द्वारा बढ़ गए हैं । पाठालोचन के विद्यार्थी के सम्मुख यह एक नवीन समस्या थी । विश्व-साहित्य में हस्तलिखित प्रतियों के अध्ययन मे शायद इस प्रकार की विशेषता कहीं भी देखने को नहीं मिलती । ऐसी दशा में रासो का मूल-पाठ स्थिर करना था । छानबीन के बाद यह देखने को मिला कि लघुतर पाठ की प्रतियाँ मूल के निकटतर हैं किन्तु मूल पाठ की प्रतियाँ नहीं हैं । उनमें भी प्रक्षेप मिलते हैं और उन प्रक्षेपों के निराकरण एव रासो के सम्पादन द्वारा डॉ माताप्रसाद गुप्त ने हिन्दी-ससार के सम्मुख इस महान साहित्यिक निधि का जीर्णोद्धार किया है तथा अनेकानेक भ्रान्तियों का निराकरण प्रस्तुत किया है ।

रासो के नवीन सपादित सस्करण ने पाठालोचन के इस सिद्धान्त को सिद्ध कर दिया है कि प्रथमतः किसी कवि या लेखक का मूलपाठ स्थिर हो जाना चाहिए, तभी उसका उचित मूल्याकन हो सकता है । हमने यहाँ यह देख लिया है कि रासो सबंधी विवाद ऐतिहासिक भ्रान्तियों के कारण न होकर मूलतः उसके वास्तविक पाठ के कारण थे । रासो की पाठ-समस्या को सुलझाने मे डॉ गुप्त ने जो प्रयास किया है उसका विस्तारपूर्वक अध्ययन करने के लिए हमें दो भागों में उस पर विचार करना होगा—(१) सपादन विधि (२) परिणाम ।

### सपादन-विधि

अपने अन्य सपादनों की भाँति ही डॉ माताप्रसाद गुप्त ने अपने इस कार्य में भी पाठालोचन के सिद्धान्तों का अनुगमन किया है । प्रतियों का साक्ष्य ग्रहण करके, उससे उत्पन्न होनेवाली समस्याओं का सभावित हल ढूँढना और पुनः अतरंग एव बहिरंग सभावनाओं द्वारा उनका समर्थन प्राप्त करना ही सक्षेप में उनका मार्ग रहा ।

**सामग्री-परीक्षा**—बहुत सी हस्तलिखित प्रतियाँ जो मुख्य सामग्री के रूप में प्राप्त थीं, उनके अतिरिक्त सपादक ने सहायक सामग्री के रूप में 'पुरातन-प्रबन्ध-सग्रह' (जिसमें रासो के कुछ छन्द उद्धृत हैं), 'सुर्जन-चरित महाकाव्य,' 'हम्मीर महाकाव्य,' पृथ्वीराज विजय' जैसे काव्यग्रन्थों तथा 'आइन ए- अकबरी' आदि इतिहास-ग्रथों का उपयोग किया है।

प्राप्त सभी प्रतियों की परीक्षा करने के उपरान्त जो प्रतियाँ इस ग्रथ के सपादन में उपयोगी प्रतीत हुईं, उनका विवरण इस प्रकार दिया गया है। पहले प्रतियों का सकेत शब्द तथा बाद में उनमें प्राप्त रूपकों (छन्दों) की सख्या दी गई है :

(१) धा : ४२२, (२) मो : ५५२, (३) अ : १११०, (४) फ १२००, (५) म : २०७१, (६) ना : ३३६७, (७) द . ३४७०, (८) शा : १०७०६, (६) उ : १०७०६, (१०) स : १०७०६।

इस प्रकार हम स्पष्ट रूप से देखते हैं कि इन प्रतियों में छन्द-सख्या क्रमशः बढ़ती गई है। साथ ही डॉ गुप्त का निष्कर्ष है कि 'धा. के प्रायः सभी छन्द मो में, मो के लगभग सभी छन्द अ में, अ के सभी छन्द फ में, फ के लगभग सभी छन्द म मे, म के अधिकतर छद ना में किन्तु सभी छद शा, उ, स में, ता के अधिकतर छद शा, उ, स में और द के सभी छन्द ता, उ., स में पाए जाते हैं।'[1] इस प्रकार प्रतियों में उत्तरोत्तर पाठ-वृद्धि हुई होगी, यह सामान्य विचार उठता है। पाठालोचक ने परीक्षा करके देखा तो निष्कर्ष भी इसके अनुकूल ही निकला।

रासो की प्रतियों को ध्यानपूर्वक देखने पर यह प्रतीत होता है कि उसमें एक उक्तिशृङ्खला सी चलती हुई दीख पड़ती है। इसमें प्रथम छद की अन्तिम पक्ति में जो शब्द प्रयुक्त होते हैं, उन्ही में से कुछ के प्रयोग द्वारा आगामी छद का प्रारम्भ होता हुआ दीख पड़ता है। यह शृङ्खला उसी भाँति है जिस प्रकार कुडलियाँ छदों मे, उसी छद के चौथे चरण के कुछ शब्दो से पाँचवे चरण का प्रारम्भ प्रायः देखा जाता है। यथा,

> 'रही न रानी कैकई, अमर भई यह बात।
> कौन पुरबले पाप ते, **वन पठयो जगतात**।
> **वन पठयो जगतात**, कन्त सुरलोक सिधारयो।' आदि

रासो मे प्रयुक्त उक्ति-शृङ्खला में अन्तर इतना ही है कि वह एक छद के अतिम चरण के शब्दों से द्वितीय छद के प्रथम चरण में चलती है। उदाहरणार्थ :

---

[1] पृथ्वीराज रासउ, (भू ) पृ २१।

( १ ) धा , ६८ : 'तडित करिग अगुलि धरइ **बान भरिग** प्रिथिराज ।'
धा , ७० : '**भरिग बान** चहुवान जानि दुर देव नागनर ।'
( २ ) धा , ७४ 'तउ मानउ स्वामिनि सकल जइ **तुसी होइ परतिक्ख** ।'
धा , ७५ : '**भइ परतिक्ख** कत्री मनि आइय ।'

इस प्रकार की उक्ति-शृङ्खला की अत्यन्त प्रशस्त परम्परा रासो के पाठ में हमे प्राप्त होती है । वर्तमान प्राप्त प्रतियों में स्थान-स्थान पर इस प्रकार के दो छंदों के बीच मे भी दूसरे छद आ गए है, जिनसे यह परम्परा खडित हो गई है । अत्यन्त महत्व की बात यह है कि धा प्रति, जो लघुतम पाठ की प्रति है, उसमें यह उक्ति-परम्परा कम से कम खडित हुई है । अन्य प्रतियो में यह परम्परा उसी क्रम से अधिक खटित होती गई है जिस क्रम से उनमें छदों की सख्या में वृद्धि होती गई है । गुप्त जी ने शृङ्खला-त्रुटि की सख्या विभिन्न प्रतियों में इस प्रकार बतलायी है :

धा : १३, मो : १५, अ फ : १५, म. : २६, ना : ३३, द : २७, ना उ स : ४६ ।

इस प्रकार शृङ्खलाओं का टूटना प्रक्षेप का सकेत करता है और हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि लघुतम पाठ की प्रति धा मूल के सर्वाधिक निकट है, किन्तु वह भी मूल-पाठ की प्रति से पर्याप्त दूर की प्रति है, इसका पता इस बात से स्पष्टतः चल जाता है कि उसमे भी उक्ति शृङ्खला टूटी है । बहिरङ्ग सम्भावना से तो उक्ति-शृङ्खला के मध्य मे प्राप्त अश प्रक्षिप्त सिद्ध ही होते हैं साथ की अन्तरङ्ग सम्भावना से भी यह निष्कर्ष समर्थित है । ये पाठ अन्यथा भी सदोष है और इस प्रसग में अनावश्यक हैं । इस उक्ति शृङ्खला की त्रुटि से तीन निष्कर्ष निकाले गये हैं :

( १ ) धा मो तथा अ फ रचना के मूल पाठ के सर्वाधिक निकट हैं । ना तथा द अपेक्षाकृत दूर और म तथा ना उ. स सर्वाधिक दूर हैं ।

( २ ) पाठ वृद्धि के अनुपात में ही शृङ्खला त्रुटि नहीं हुई है । इसका कारण यह है कि पाठ-वृद्धि दो दिशाओं में हुई है । पहली नवीन प्रसङ्गों की अवतारणा में और दूसरी प्राप्त प्रसङ्गों के विस्तार मे । दूसरी ही दशा में ये त्रुटियाँ हुई हैं ।

( ३ ) सर्वाधिक छोटे पाठ जिनमें उक्ति-शृङ्खलाएँ सब से कम टूटी हैं, वे भी प्रक्षिप्त हैं ।

जिस प्रकार उक्ति शृङ्खला के टूटने का विवरण हमने अभी देखा है, उसी प्रकार छद-शृङ्खलाएँ भी प्रक्षेपों के कारण टूट गई हैं । जैसे एक विशेष छद है, किसी प्रति में उसी के कुछ चरणों के बीच में एक दूसरा छद घुसा दिया गया है और प्रथम छद के शेष चरण बाद में आते हैं । जैसे,

( १ ) धा ३२-३४ . छुद पद्धडी है। अ फ ना तथा द में यह एक ही रूपक है। धा तथा मो में यह दो रूपकों मे बॅटा है जिसके छुद अलग-अलग बताए जाते हैं पर बीच में कोई अन्य रुपक नहीं आता। म यहाँ खडित है। शा, उ स में उक्त दो रूपकों के बीच तीन अन्य रूपक भी आते हैं जो अन्य प्रतियों में नहीं हैं। इस प्रकार की बात अनेक नेक स्थलों पर मिली हैं। छुद शृङ्खला की त्रुटियाँ सम्पादक को एक अत्यन्त महत्वपूर्ण निष्कर्ष पर पहुँचाती हैं। छुद शृङ्खला की त्रुटि से भी उक्ति-शृङ्खला की त्रुटि वाला निष्कर्ष समर्थित होता है। छुद-शृङ्खला की त्रुटि इस प्रकार है: धा १, अ फ २, मो : ६, म : ४, ना : ७, द : ७, शा उ स : १०।

इस प्रकार के दो महत्वपूर्ण निष्कर्षों पर पहुँच जाने के उपरान्त संपादक ने उन प्रतियों का पूर्वापर सम्बन्ध ढूँढने का प्रयास किया है जिनमे कम से कम शृङ्खलाएँ त्रुटित हैं। उनमे भी उल्लेख इतने परस्पर विरोधी मिलते हैं तथा इस प्रकार के छुदों का होना पाया जाता है कि वे सर्वथा प्रसङ्गादि के प्रतिकूल हैं। इस प्रकार एक सामान्य समाधान हो जाता है कि कम से कम त्रुटित शृङ्खला की प्रतियाँ भी मूल-पाठ की प्रतियाँ नहीं है। प्रस्तुत सपादन के पूर्व सपादक महोदय का मत लघुतम पाठ सबध मे, 'रासउ रसाल' शब्द के पुष्पिका मे प्रयुक्त होने के कारण यह था, कि ये (धा मो) प्रतियाँ रासो के किसी पाठ की प्रतियों से चयन मात्र हैं। किन्तु अब विभिन्न पाठ सम्बन्धी विशेषताओं के अध्ययन के उपरान्त वे इस सम्बन्ध में निम्नलिखित निष्कर्ष पर पहुँचते ह •

( १ ) लघुतम पाठ की दोनों प्रतियाँ धा तथा मो मूलतः किसी पूर्ण पाठ की प्रतियाँ थीं किन्तु बाद मे उसमें कुछ छुद किसी ऐसी प्रति से लेकर मिला लिए गए जो प्रति ग्रन्थ के मूल पाठ से लिए गए छुदों के चयन के रूप में थी।

( २ ) धा तथा मो पाठों में भी प्रक्षेपों का अभाव नहीं है।

( ३ ) फिर भी धा तथा मो प्रतियों के पाठ मूल के सर्वाधिक निकट हैं। पुनः धा तथा मो की परीक्षा करने पर वे सप्रमाण इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि इनमें भी धा प्रति मूल के अधिक निकट है अपेक्षाकृत मो के।

इतना हो जाने के उपरान्त रासो के मूल रूप के आकार के सम्बन्ध में उन्होंने विचार किया है और व्यावहारिक ढङ्ग से सपादक ने निम्नलिखित उपायों का सहारा लिया है

(१) धा प्रति में जहाँ उक्ति शृङ्खलाएँ तथा छुन्द शृङ्खलाएँ, छुन्दों या वार्ताओं द्वारा

त्रुटित होती हों, उन्हें प्रक्षिप्त मान लेना चाहिए। ये अंश वैसे भी प्रसंगानुकूल एवं उचित नहीं हैं।

(२) धा में जहाँ दो छन्द एक ही वृत्तांत प्रकट करते हों पर उनकी भाषा और शब्दा-वली आदि से कोई पाठान्तर लगता हो तो एक ही छन्द स्वीकार किया जाय।

(३) धा के जो छंद अन्य प्रतियों में न मिलते हों बिना विपरीत प्रमाण के उन्हें प्रक्षिप्त मान लिया जाय।

(४) धा के जो छंद या छंदांश किसी भी प्रति में किसी छंद या छंदांश की पुनरावृत्तियों के बीच में आते हों, उन्हें विपरीत प्रमाण के अभाव में प्रक्षिप्त मान लेना चाहिए।

(५) धा के छंद किसी भी प्रति के छन्दों की क्रम संख्या में व्यवधान उपस्थित करते हों, उन्हें विपरीत प्रमाण के अभाव में प्रक्षिप्त मान लेना चाहिए।

इन सिद्धांतों के आधार पर समस्त प्राप्त प्रतियों की तुलना और छानबीन करने के बाद जो आकार पृथ्वीराज रासो का निर्धारित किया गया उसके सम्बन्ध में स्वयं संपादनकर्ता का मत है कि वह आकार प्रसङ्ग-शृङ्खला प्रबन्ध-शृङ्खला आदि सभी दृष्टियों से इतना सुगठित हो जाता है, कि वह मूल का प्रतीत होने लगता है। इस प्रकार ३६१ छंद मूल रासो के इस संपादित संस्करण में स्वीकार किए गए हैं।

अन्त में निर्धारित छंदों में भिन्न प्रतियों में जो पाठांतर प्राप्त होते हैं उनका समाधान और शेष रह गया था। सभी प्रतियों के उन्हीं पाठों को छाँटकर, जिनका संबंध छंद निर्धारण के उपरान्त, रासो के संपादन से था, उनके पाठान्तरों की परीक्षा तथा बहिरङ्ग तथा अंतरङ्ग सम्भावनाओं के आधार पर उनका समाधान किया गया। इस प्रकार के पाठांतरों के दो एक उदाहरण यहाँ पर्याप्त होंगे :

धा. अ फ में 'काम' के स्थान पर 'इक्क' आया है। इन पाठों व
गहराई तक जाकर सुलझाया गया है, इसके उदाहरण स्वरूप यह दृष्टांत दश
यह पाठ पृथ्वीराज के कन्नौज से दिल्ली की दिशा में 'नीडर' द्वारा पीछा
जयचंद को रोकने की दूरी से सम्बंध रखता है। यह दूरी आठ कोस की थी,
के पाठ से स्पष्ट है। अतः स्वीकृत पाठ ही ठीक है काम बान (५) हरनयन (
इस सम्बंध में धा २७६ का पाठ है :

'नीडर निसंक झुझंत रण अट कोस चहुआन गयु।'

इस प्रकार अत्यंत सूझबूझ के साथ पाठों की तुलनात्मक परीक्षा व
उन्हें अंतरङ्ग एव वहिरङ्ग सम्भावनाओं के अनुकूल लाकर पाठातरों का
किया गया। संक्षेप मे यही पृथ्वीराज रासउ के सम्पादन की विधि रही है।

## परिणाम

पृथ्वीराज रासो के इस नवीन सुसपादित सस्करण को देखकर इस मह
सम्बन्ध में प्रकट किए गए सभी भर्त्सनापूर्ण विचार अस्तित्वहीन हो जाते हैं
कथा मे न तो अनावश्यक विस्तार है और न वह अतिरजना ही। वृहद् स
पृथ्वीराज के दश विवाहों तथा सत्तरह युद्धों का वर्णन मिलता है और वे
वर्णन अत्यन्त अतिरजित तथा विस्तारपूर्ण हैं। इस सस्करण में पृथ्वीराज के
विवाह सयोगिता-परिणय तथा दो युद्ध, पहला पृथ्वीराज-जयचन्द युद्ध त
शहाबुद्दीन पृथ्वीराज युद्ध, का वर्णन मिलता है। वैसे भी संपूर्ण कथा एक
प्रबन्ध की भाँति प्रतीत होती हे। पहले की भाँति अब ऐसा एक भी प्रसङ्ग न
ऐसा प्रतीत होता हो कि वह बाद में बाहर से चिपका दिया गया है।

साथ ही ऐतिहासिकता की दृष्टि से भी विचार करने पर प्रस्तुत सस
महत्व कुछ कम नहीं होता है। सामान्यतः इतिहास प्रसिद्ध महत्वपूर्ण घटन
महत्वपूर्ण पात्रों की ऐतिहासिकता इसमे सुरक्षित मिलती है। हाँ प्रासङ्गिक
तथा गौण पात्रों के नामो मे कल्पना का प्रभूत मिश्रण मिलता है जो कवियों
प्रायः होता देखा जाता है। इस सस्करण की कथा इस बात को सिद्ध करती है
इस काव्य का प्रणेता, पृथ्वीराज का समकालीन तो नहीं रहा होगा किन्तु उ
बाद में नहीं हुआ होगा।

'पृथ्वीराज विजय' की जिन घटनाओं का विरोध 'बृहद् पृथ्वीराज रासे
से मिलता था, उसका मूल कारण उपर्युक्त (मूल) पाठ का न प्राप्त होना

प्रस्तुत पाठ से 'विजय' में प्राप्त ऐतिहासिक प्रसङ्गों की पूर्ण संगति मिल जाती है। वास्तविकता तो यह है कि रासोकार को विजय की रचना का ज्ञान था जिसका उल्लेख वह अपने निम्न छन्द में करता है

'मझ्झ पहर पुच्छए तिहि पडिय
कहि ग्रन्थि 'विजय' साह जिह दंडिय।
सकल सूर बोलवि सभ मडिय।
आसिय जाय दीध तब चडिय॥'

प्रस्तुत सस्करण सर्ग ३, छद १६।

इस छद के प्रथम दो चरणों में जो प्रसङ्ग प्राप्त होते हैं वे पृथ्वीराज विजय की ओर सकेत करते हैं। वे प्रसङ्ग ये हैं : (१) विजय की रचना पृथ्वीराज के आदेश से हुई। (२) उसका प्रणेता कोई पडित था (३) उसमें शाह (शाहाबुद्दीन) पर प्राप्त विजय की कथा कही गई तथा (४) वह पडित चद नहीं था, प्रत्युत कोई अन्य था। इस प्रकार जिस रचना के बारे में रासोकार की जानकारी हो उसके विरुद्ध उसका लिखना वैसे भी सभव नहीं प्रतीत होता।

रासो के सपादक ने अन्यान्य काव्यों तथा ऐतिहासिक प्रबन्धों से भी, जिनमे रासो की कथा किसी रूप मे मिलती है, रासो की कथा की तुलना करके अन्तर एव साम्य के कारणों का समाधान किया है। उदाहरणार्थ, 'आइन-ए- अकबरी' में प्राप्त पृथ्वीराज विषयक अधिकाश उल्लेख रासो की प्रमुख घटनाओं को समर्थित करते हैं। इस साम्य का कारण क्या है ? इसका उत्तर इस बात से मिल जाता है कि 'आइन-ए-अकबरी' मे चन्द का भी उल्लेख आता है इससे दो महत्वपूर्ण बातों का रहस्य खुलता है। प्रथम तो यह कि रासो का निर्माण 'आइन ए-अकबरी' के पूर्व अवश्य हो गया था। अतः यह कथन कि यह अति नवीन ग्रन्थ है निराधार ठहरता है। दूसरे यह कि 'आइन ए-अकबरी' में प्राप्त विवरणों का आधार रासो की कथा ही रही होगी। साम्य की सतर्क परीक्षा इस बात को सिद्ध करती है कि रासो के वर्तमान पाठों में से लघुतम पाठ के अतिरिक्त जो विस्तार अन्य पाठों में मिलते हैं वे इस इतिहास-ग्रन्थ में नहीं आए हैं। लघुतम पाठ के पूर्व का कोई पाठ 'आइन ए अकबरी' का आधार रहा होगा। प्रस्तुत सस्करण के विवरणों का पूर्णत साम्य 'आइन-ए-अकबरी' से मिलता है, केवल कैमास वध की कथा आइन-ए-अकबरी में नहीं आती है। जिसका कारण यह हो सकता है कि मुख्य कथा से उसका कोई सीधा सम्बन्ध नहीं था।

सपादक ने पृथ्वीराज रासो के मूल पाठ को प्राप्त करने के प्रयास में पर्याप्त सफलता प्राप्त की है और यह हर्ष का विषय है कि हिन्दी साहित्य के इस प्राचीनतम और एक सर्वाधिक महत्वपूर्ण महाकाव्य को वे अधिक से अधिक प्रामाणिक रूप मे प्रस्तुत

करने में समर्थ हुए है। इस प्रकार के पाठ की नितान्त आवश्यकता थी और भाषा एव साहित्य के अन्वेषक इस बात की प्रतीक्षा में थे कि कब इस ग्रथ का सुसम्पादित सस्करण प्रकाश मे आवेगा। इस सम्बध में डॉ उदयनारायण तिवारी ने १६५५ ई० में 'वीरकाव्य' लिखते समय लिखा, 'पृथ्वीराज रासो का न तो अभी तक कोई वैज्ञानिक एव सुसम्पादित सस्करण ही सामने आया है और न उसके सम्बन्ध में बहुत नवीन तथ्य ही सामने आए हैं। अभी तक नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित संस्करण ही चल रहा है। आशा है शोध-छात्रों के परिश्रम के परिणाम स्वरूप भविष्य में इसका वैज्ञानिक सपादन सपन्न हो जायगा।'[1]

विश्वास है कि 'रासो' का प्रस्तुत संस्करण हिन्दी साहित्य के इस अभाव की पूर्ति मे अवश्य समर्थ होगा।

---

[1] वीर काव्य (द्वितीय संस्क , भूमिका।

# १२

# श्री रामचरितमानस

'मानस' भारतीय साहित्य का गौरव ग्रन्थ है। इसकी साहित्यिक तथा धार्मिक महत्ता के कारण मुद्रणकला के प्रचलन के पूर्व इसकी प्रतिलिपियों की विभिन्न शाखाएँ चलती हुई दीख पड़ती हैं जिनमें परस्पर अनन्त पाठ-भेद मिलते हैं। इन पाठ भेदों का समाधान प्रस्तुत करना मानस के पाठ की सब से प्रमुख समस्या रही है। इस विशाल ग्रन्थ के सपादन के कई महत्वपूर्ण प्रयास हुए। प्रारम्भ में तो कई प्रयास एक ही प्रति को अविकल रूप में मुद्रित करके या सामान्य सशोधनों के साथ मुद्रित करते हुए सर्वप्रथम भागवतदास खत्री ने मानस के पाठ को पाठान्तर के साथ कई प्रतियों के आधार पर स १९४२ में प्रस्तुत किया। खत्रीजी ने पाठ का ग्रहण तो स्वेच्छापूर्वक किया किन्तु अन्य पाठान्तरों का भी उन्होंने स्पष्ट उल्लेख कर दिया है। इस सस्करण में किसी प्रकार के हस्तक्षेप से बचने का पूर्ण प्रयास हुआ है। इसके उपरान्त श्री विजयानन्द त्रिपाठी का भारती भण्डार, इलाहाबाद का सस्करण स. १९९३ में और प नन्ददुलारे वाजपेयी द्वारा सपादित और गीता प्रेस से कल्याण के 'मानसाक' में प्रकाशित सस्करण स १९९७ में प्रकाश में आए। ये दोनों ही सस्करण प्रतियों के साक्ष्य पर प्रस्तुत हुए और इनमें अर्थ और पाठ पर पूर्ण विचार करके पाठ प्रस्तुत किया गया है। प विजयानन्द जी ने तो मानस के पाठ के साथ उसकी एक विस्तृत व्याख्यात्मक टीका भी प्रस्तुत की है।[1]

वास्तव में किसी भी ग्रन्थ के पाठ सपादन में सपूर्ण उपलब्ध सामग्री का विधिवत विश्लेषण करके उनकी विशेषताओं के आधार पर कुछ सिद्धान्त निर्धारित करना और उन सिद्धान्तों के अनुगमन द्वारा पाठ प्रस्तुत करना अधिक उपादेय होता है। इन सिद्धान्तों का निर्धारण इस दृष्टि से किया जाता है कि उनके अनुगमन द्वारा रचयिता के मूलपाठ तक पहुँचा जा सके। इसके प्रतिकूल जब किन्हीं विशिष्ट सिद्धान्तों का अनुगमन न करके स्वरुचि प्रेरित पाठ ग्रहण किया जाता है अथवा अवैज्ञानिक

[1] प्रकाशक—मोतीलाल बनारसीदास वाराणसी।

सिद्धान्तों का अनुगमन किया जाता है तो प्रस्तुत किया गया पाठ भले ही सुन्दर लगे, उसके मूलपाठ होने मे सन्देह बना रहता है।

## डॉ० माताप्रसाद गुप्त का सस्करण

सम्पादन की 'वैज्ञानिक विधि' का अनुगमन करते हुए डॉ माताप्रसाद गुप्त ने सर्वप्रथम सन् १६४६ मे बीसो हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर 'मानस' का पाठ प्रस्तुत किया। अपने इस सपादन की विधि के सबध में डॉ गुप्त का कथन है कि यह सपादन 'सपूर्ण ग्रथ के लिए समस्त बहिर्साक्ष्य और अन्तर्साक्ष्य का विश्लेषण करके निकाले हुए व्यापक सिद्धान्तों का अनुसरण करते हुए' हुआ है। 'बहिर्साक्ष्य से तात्पर्य है वह प्रकाश जो पाठ समस्या पर विभिन्न प्रतियों से प्राप्त होता है। अन्तर्साक्ष्य से तात्पर्य है वह प्रकाश जो पाठ समस्या पर कवि की विचार-धारा, प्रसङ्ग की आवश्यकता तथा कवि की भाषा और शाब्दिक प्रयोग आदि की प्रवृत्तियो से पड़ता है।'[1] 'मानस' के पाठ के सबध म जितना विस्तृत अध्ययन और विश्लेषण डॉ. गुप्त ने प्रस्तुत किया उतना अब तक हिन्दी क किसी ग्रथ क सबध में नहीं हुआ है। प्रतियों के अध्ययन, अनुशीलन, उनको पाठ-परम्परा के निर्धारण से लेकर मानस के पाठ को चार स्तरों में प्रस्तुत करके आपने मानस की पाठ-समस्या का जो अध्ययन प्रस्तुत किया है वह अभी अक्षुण्ण है। इस सस्करण के पाठ मे भी भूलें सभव हैं, विशेषतः लेखन प्रमाद आदि का कुछ भूलें इसमे रह गई हैं। परन्तु शेष पाठ ग्रहण ऐसे सिद्धान्तों के आधार पर हुआ है जिनसे मूलपाठ तक पहुँचा जा सका है ऐसी उनकी मान्यता है। इस पाठ की प्रामाणिकता पर प्रश्न चिह्न लगाने के पूर्व इस पाठ के सपादन में स्वीकार किए गए सिद्धान्तो की अनुपयोगिता सिद्ध करना अनिवार्य है। अभी तक ऐसा नहीं हो सका है। सम्भव है भविष्य की शोधो द्वारा कुछ नवीन तथ्य प्रकाश में आवें और डॉ गुप्त की इन मान्यताओं का खडन भी हो सके। पाठालोचन का कार्य शोध द्वारा आगे बढ़ता रहता है अत यह नहीं कहा जा सकता कि कोई कार्य इस दिशा मे अन्तिम कार्य है। स्वय डॉ गुप्त ने अपने इस कार्य के सबध में लिखा है :

'हिन्दी में ही नहीं, कदाचित समस्त आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं मे विस्तृत पाठ निरूपण का यह पहला प्रयास है, इसलिए इसमे त्रुटियाँ होना अवश्य-भावी है।'

'मानस' के पाठ-सपादन की जिस विधि का अनुगमन डॉ गुप्त ने किया उसका सागरा यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

## वहिरग परीक्षा

सामान्य ऊपरी बातों की छानबीन को वहिरग परीक्षा कहा गया है। यथा पुष्पिका का अध्ययन, प्रतिलिपि का नाम, उसका काल, प्रति की पूर्णता-अपूर्णता या भ्रष्टता आदि। इन परीक्षाओं के अन्तर्गत यह देखा गया कि कुछ प्रतियों में तो पुष्पिका वाला अंश है ही नहीं और कुछ में जहाँ पुष्पिका दी गई है उनमें भी इतना प्रक्षेप हुआ है कि वे विश्वसनीय नहीं रह गई है। अतएव पाठालोचक की सतर्क आँखों ने सर्वप्रथम इन पुष्पिकाओं के वास्तविक मन्तव्य को ढूंढने का प्रयास किया तथा उन पर किये गए जाली प्रयासों का निराकरण किया। कुछ उदाहरण लेने से यह बात स्पष्ट हो जायेगी। स १७०४ की प्रति मे सम्पूर्ण काण्डों के अंत की पुष्पिकाओं मे स १७०४ तथा प्रतिलिपिकार रघु तिवारी लिखा हुआ है, किन्तु उसी प्रति के अयोध्या काण्ड मे स १६६५ तथा विरचित तुलसीदासेन' लिखा था। इसके ऊपर भी स १७०४ तथा प्रतिलिपिकार रघु तिवारी किया गया है, परन्तु यह प्रयत्न स्पष्टरूप से प्रकट हो जाता है और प्रथम हस्तलिपि सरलता से पढी जा सकती है। प्रथम लेख और अयोध्या काण्ड की सम्पूर्ण हस्तलिपि उसी व्यक्ति की है जिसने सम्पूर्ण काण्डों को लिखा है, उसने स १६६५ तथा 'विरचित तुलसीदासेन' लिख कर यह भ्रम उत्पन्न करने का प्रयास किया है कि जिससे लोग समझें कि इस प्रति का अयोध्याकाण्ड स्वयं तुलसीदास जी के हाथ का लिखा हुआ है और उसके प्रति का महत्व बढ़ जाय अथवा यह भी हो सकता है कि वह गोस्वामी जी के हाथ की लिखी किसी प्रति से अनुकृति करता रहा होगा और भूल से अयोध्या काण्ड में उसकी पुष्पिका भी उतार दिया होगा और पुनः उस पर अपनी कलम चला कर उसे ठीक किया होगा।

इसी प्रकार स १६६१ की प्रति में १६६१ को १६६१ किया गया है। पुष्पिका में प्रथम छ का आकार ६ है और द्वितीय का ६। इस दूसरे छः का दूसरा मोड़ भी बड़ा है। सभी काण्डो में प्रथम छ प्रथम आकार का और द्वितीय ६ द्वितीय आकार का है अर्थात् वह मुण्ड भागी है तथा उसका द्वितीय मोड़ बड़ा है। इस प्रति के सम्बन्ध में यह प्रवाद है कि वह तुलसीदास जी के जीवन काल में तैयार हुई थी तथा उस पर के किये गये संशोधन स्वयं गोस्वामी जी के हाथ के है। डॉ साहब का मत है कि कदाचित् इसी प्रवाद को प्रचलित करने के लिये ६ में एक और मोड़ लगाकर ६ कर दिया गया ताकि वह प्रति तुलसीदास जी के जीवन काल के अन्तर्गत हुई प्रतीत हो।

इस प्रकार सम्पूर्ण प्राप्त सामग्री की सतर्क एव विवेकपूर्ण वहिरङ्ग परीक्षा

कर लेने के उपरान्त उन्होंने प्रतियों के पाठ-सम्बन्ध निर्धारण तथा शाखा निर्धारण का प्रयत्न किया।

## प्रतिलिपि-सम्बन्ध

प्रतियों की वहिरंग परीक्षा से पाठालोचक इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि केवल सं. १७२१, १७६२, १६६१ तथा १७०४ की प्रतियाँ वास्तव में प्राचीन कही जा सकती हैं। विचित्रता की बात यह है कि चारो परस्पर-प्रतिलिपि सम्बन्ध से संबद्ध हैं। इनके प्रतिलिपि सम्बन्ध की रूपरेखा इस भाँति है

### ( १ ) १७२१ तथा १७६२ की प्रतियों का सम्बन्ध

दोनों ही प्रतियों में हरताल लगाकर प्रक्षेप किया गया है फिर भी पूर्व का पाठ सन्शोधन के स्थलों पर प्राप्त हो जाता है। और यह देखा जाता है कि जहाँ पर १७२१ मे पूर्व का पाठ अशुद्ध है वहाँ १७६२ में भी अशुद्ध है। इस प्रकार के अनेक स्थल हैं। कुछ निश्चेष्ट विकृतियों के उदाहरण लीजिये :

(अ) १७२१ में बालकाण्ड में दोहा संख्या २२६ के स्थान पर भूल से २२६ लिख गई। यही कारण है कि बालकांड के अन्त मे दोहा संख्या, जो वस्तुतः होनी चाहिए उससे तीन अधिक लिखी है। यह भूल के कारण हो गया। ठीक यही क्रिया १७६२ की प्रति मे भी अपरिवर्तित रूप से हुई है। यह बात केवल उसी दशा में होनी सम्भव है जब १७२१ की प्रति से १७६२ की प्रति लिखी हुई हो अथवा दोनों एक ही आदर्श की प्रतियाँ हों जिसमें यह भूल विद्यमान रही हो।

(ब) १७२१ में बाल काण्ड का दोहा ६६ मूल से दोहा ६८ के साथ एक बार और लिखा गया है। ठीक यही बात हमें १७६२ वाली प्रति में भी मिलती है।

(स) बाल काण्ड में ११ वें दोहे का सामान्य पाठ है,

'राम कृपाते पारवति सपनेहु तव मन माहिं ॥

हैं जो १७६२ वाली प्रति में न हों, किन्तु ऐसी अशुद्धियाँ प्रचुरता से मिलती हैं जो १७६२ वाली प्रति में तो हैं पर १७२१ वाली प्रति में नहीं हैं। १७६२ वाली प्रति की अपनी व्यक्तिगत निश्चेष्ट विकृतियाँ इस बात को सिद्ध करती हैं कि यह १७२१ वाले प्रति की प्रतिलिपि है तथा ये विशेष विकृतियाँ इसके प्रतिलिपिकार की भूलों द्वारा हुई होंगी। इस प्रति के ऐसी विशेष पाठ-विकृतियों के उदाहरण :

(१) सामान्य पाठ, 'रिस बसभूप चलेउ मग लागा।'
इस प्रति में 'बस' शब्द 'स' के साम्य के कारण लिखते समय छूट गया। यह भूल इसी प्रति में है १७२१ वाली में नहीं है।

(२) सामान्य पाठ है 'गुन सागर नागर बर बीरा ॥'
इसी प्रति में 'नागर' शब्द पहले शब्द के साम्य के कारण छूट गया। यह भूल १७२१ में नहीं है।

## १६९१ तथा १७०४ की प्रतियों का प्रतिलिपि सम्बन्ध

हस्तलिखित आदर्श प्रति की प्रतिलिपि करते समय पूरी एक पंक्ति ही कदाचित् छूट गई। जिसमें कई अर्द्धाली तथा एक अर्द्धाली के एक चरण का कुछ भाग छूट गये। दोनों प्रतियों में यह भाग छूटा हुआ मिलता है। यह पाठ है 'किन करहु। सुनि ऋषिन्ह के बचन भवानी। बोली गूढ़ मनोहर बानी। कहत मरमु'

इसी प्रकार अनेक अशुद्धियों के साम्य को देख कर सम्पादक महोदय इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि इन दोनों में भी परस्पर प्रतिलिपि सम्बन्ध है। अब प्रश्न यह है कि यह सम्बन्ध किस प्रकार का है ? इस दृष्टि से विचार करने पर हम देखते हैं कि निश्चेष्ट विकृतियों के बहुतायत से पाये जाने वाले साम्य के अतिरिक्त इन दोनों ही प्रतियों में अपनी अपनी कुछ विशेष निश्चेष्ट विकृतियाँ हैं। इससे यह प्रकट होता है कि इन दोनों में से कोई एक दूसरे की प्रतिलिपि नहीं है। प्रत्युत दोनों ही अपने किसी पूर्वज सामान्य आदर्श की प्रतिलिपियाँ हैं।

## १७२१/१७६२ तथा १६९१/१७०४ का सम्बन्ध

इसी प्रकार इन दो समूहों की प्रतियों में भी एक दूसरे से परस्पर अशुद्धियों में साम्य तो मिलता है परन्तु साथ ही इनकी अशुद्धियाँ कुछ अपनी-अपनी स्वतन्त्र भी हैं। इससे यह निश्चय होता है कि इनकी भी प्रतिलिपि किसी सामान्य आदर्श से हुई होगी। इनके सामान्य अशुद्धियों के कुछ उदाहरण निम्नलिखित हैं

(१) १-२२१६ सामान्य पाठ है 'उदति असुर अधम अभिमानी।' इसमें दोनों शाखाओं ने 'अधम' के स्थान पर 'अधरम' लिखा हुआ है।

(२) 'भरतहिं सहित समाज उछाहू। मिलिहहिं राम मिटिहिं दुख दाहू।' यह अर्द्धाली दोनों शाखाओं में आने से रह गई है।

इनका परस्पर सबंध इस प्रकार दर्शाया गया है :
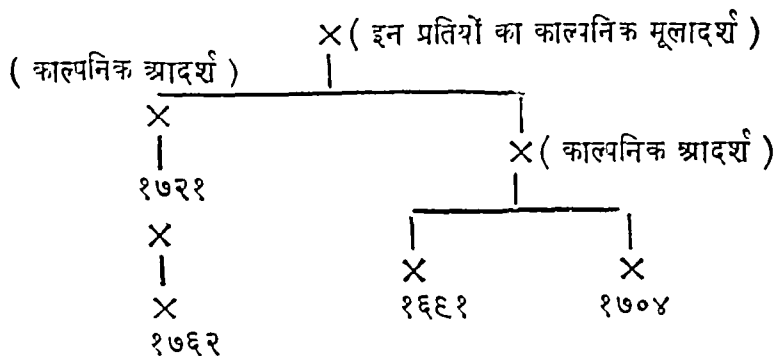
अन्य प्रतियों में परस्पर प्रतिलिपि सम्बन्ध नहीं है। पर पाठों की एकरूपता के आधार पर उनका सम्बन्ध निर्धारित किया गया है तथा उन्हें चार कुलों में विभाजित किया गया है।

## प्रतियों का पाठ-सम्बन्ध

ऊपर हम देख चुके हैं कि १७६२ की प्रति १७२१ की प्रतिलिपि है इसी प्रकार १६६१ और १७०४ की प्रतियाँ एक ही आदर्श की प्रतिलिपियाँ हैं। और इन दोनों शाखाओं का परस्पर साम्य इनका एक ही आदर्श से निष्कृत होना सिद्ध करता है। यद्यपि इनके इस प्रतिलिपि सम्बन्ध के सिद्ध हो जाने के बाद भी इन दो शाखाओं में बड़ा अन्तर दीख पड़ता है। इससे यह अनुमान होता है कि इनमें से कोई एक शाखा अवश्य किसी तीसरी शाखा से प्रभावित हुई होगी।

छक्कन लाल के परिवर्तित पाठों को यदि अलग करके देखा जाय तो ज्ञात होगा कि कुल प्रायः आधे दर्जन स्थलों को छोड़ कर समस्त प्रति का पाठ प्रायः रघुनाथदास का ही है। इस कारण सम्भव है दोनों में प्रतिलिपि सम्बन्ध हो या कम से कम दोनों एक ही आदर्श से प्रभावित हों। इसी प्रकार छक्कन लाल और वन्दन पाठक में भी अन्तर अधिक नहीं है यद्यपि रघुनाथदास की अपेक्षा अवश्य कुछ अधिक है। अतः इस प्रतिलिपि की भी छक्कनलाल के साथ प्रतिलिपि सम्बन्ध की सम्भावना है। प्रतिलिपि सम्बन्ध की दृष्टि से दोनों का क्रम इस प्रकार है—छक्कन लाल—रघुनाथ दास—वन्दन पाठक। अन्तिम दो मुद्रित प्रतियाँ काशी में ही प्रकाशित हुई हैं जहाँ से छक्कन लाल की प्रति का भी सम्बन्ध है। अतः इनके छक्कन लाल की प्रति से

प्रभावित होने की सम्भावना है। मिर्जापुर समूह की प्रतियाँ यद्यपि इस समूह से कुछ अलग पड़ती हैं परन्तु इन दोनों में इतना पाठ-साम्य है कि वे एक कुल की ही कही जा सकती हैं।

कोदवराम की प्रति एक भिन्न शाखाकी प्रति है। यद्यपि जैसा हम ऊपर देख चुके हैं कि यह कहना अत्यन्त कठिन है कि वह अपनी शाखा की शुद्ध प्रतिलिपि है। डॉ. गुप्त को प्राप्त शेष प्रतियाँ एक स्वतन्त्र कुल की ज्ञात होती हैं जिनका पाठ अपेक्षा कृत १६६१/१७०४ के निकट है। ऊपर जैसा विवेचन किया जा चुका है कि १७२१/१७६२ तथा १६६१/१७०४ के प्रतिलिपि सम्बन्ध होने पर भी पाठ-भेद इस मात्रा मे है कि इनमें से किसी एक समूह का तीसरी शाखा से प्रभावित होना प्रमाणित होता है। १६६१/१७०४ का चौथी शाखा की प्रतियों के इतना निकट होना यह प्रमाणित करता है कि वे प्रतियाँ इसी शाखा की किसी प्राचीन प्रति से प्रभावित हुई होंगी।

फलतः पाठ समूह के आधार पर डॉ गुप्त ने इन प्रतियों का सम्बन्ध इस प्रकार प्रकट किया है :

## मानस के पाठ के चार स्तर

मानस के विभिन्न शाखाओं की प्रतियों में 'परस्पर' विस्तृत पाठ-भेद मिलता है। उदाहरणार्थ, १७२१/१७६२ तथा १६६१/१७०४ में प्रायः एक हजार स्थलों पर पाठ-भेद है। इसी प्रकार के पाठ भेद अन्य शाखाओं की प्रतियों में भी मिलते हैं। इन पाठ भेदों की भी अपनी एक विचित्रता है। इनके विस्तृत अध्ययन द्वारा डॉ गुप्त ने यह सिद्ध किया है कि मानस के पाठ को चार स्तरों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम स्तर १७२१/१७६२, द्वितीय स्तर छक्कन लाल समूह तथा मिर्जापुर समूह तृतीय स्तर कोदव राम समूह और चतुर्थ स्तर १६६१/१७०४ की प्रतियों का है। इन चार स्तर की प्रतियों के पाठ-भेदों में से एक बहुत बड़ा प्रतिशत ऐसा है जिसे एक सुधार-क्रम में रखा जा सकता है। इन चार स्तरों के पाठान्तरों का क्रमानुसार अध्ययन

(२) 'भरतहिं सहित समाज उछाहू। मिलिहहिं राम मिटिहिं दुख दाहू।' यह अर्द्धाली दोनों शाखाओं में आने से रह गई है।

इनका परस्पर सम्बध इस प्रकार दर्शाया गया है :

अन्य प्रतियों में परस्पर प्रतिलिपि सम्बन्ध नहीं है। पर पाठों की एक रूपता के आधार पर उनका सम्बन्ध निर्धारित किया गया है तथा उन्हें चार कुलों में विभाजित किया गया है।

## प्रतियों का पाठ-सम्बन्ध

ऊपर हम देख चुके हैं कि १७६२ की प्रति १७२१ की प्रतिलिपि है इसी प्रकार १६६१ और १७०४ की प्रतियाँ एक ही आदर्श की प्रतिलिपियाँ हैं। और इन दोनों शाखाओं का परस्पर साम्य इनका एक ही आदर्श से निष्कृत होना सिद्ध करता है। यद्यपि इनके इस प्रतिलिपि सम्बन्ध के सिद्ध हो जाने के बाद भी इन दो शाखाओं में बड़ा अन्तर दीख पड़ता है। इससे यह अनुमान होता है कि इनमें से कोई एक शाखा अवश्य किसी तीसरी शाखा से प्रभावित हुई होगी।

प्रभावित होने की सम्भावना है। मिर्जापुर समूह की प्रतियाँ यद्यपि इस समूह से कुछ अलग पड़ती हैं परन्तु इन दोनों में इतना पाठ-साम्य है कि वे एक कुल की ही कही जा सकती हैं।

कोदवराम की प्रति एक भिन्न शाखा की प्रति है। यद्यपि जैसा हम ऊपर देख चुके हैं कि यह कहना अत्यन्त कठिन है कि वह अपनी शाखा की शुद्ध प्रतिलिपि है। डॉ गुप्त को प्राप्त शेष प्रतियाँ एक स्वतन्त्र कुल की ज्ञात होती हैं जिनका पाठ अपेक्षाकृत १६६१/१७०४ के निकट है। ऊपर जैसा विवेचन किया जा चुका है कि १७२१/१७६२ तथा १६६१/१७०४ के प्रतिलिपि सम्बन्ध होने पर भी पाठ-भेद इस मात्रा में है कि इनमें से किसी एक समूह का तीसरी शाखा से प्रभावित होना प्रमाणित होता है। १६६१/१७०४ का चौथी शाखा की प्रतियों के इतना निकट होना यह प्रमाणित करता है कि वे प्रतियाँ इसी शाखा की किसी प्राचीन प्रति से प्रभावित हुई होंगी।

फलतः पाठ संग्रह के आधार पर डॉ गुप्त ने इन प्रतियों का सम्बन्ध इस प्रकार प्रकट किया है :

## मानस के पाठ के चार स्तर

मानस के विभिन्न शाखाओं की प्रतियों में 'परस्पर' विस्तृत पाठ-भेद मिलता है। उदाहरणार्थ, १७२१/१७६२ तथा १६६१/१७०४ में प्रायः एक हजार स्थलों पर पाठ- भेद है। इसी प्रकार के पाठ भेद अन्य शाखाओं की प्रतियों में भी मिलते हैं। इन पाठ भेदों की भी अपनी एक विचित्रता है। इनके विस्तृत अध्ययन द्वारा डॉ गुप्त ने यह सिद्ध किया है कि मानस के पाठ को चार स्तरों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम स्तर १७२१/१७६२, द्वितीय स्तर छक्कन लाल समूह तथा मिर्जापुर समूह, तृतीय स्तर कोदव राम समूह और चतुर्थ स्तर १६६१/१७०४ की प्रतियों का है। इन चार स्तर की प्रतियों के पाठ-भेदों में से एक बहुत बड़ा प्रतिशत ऐसा है जिसे एक सुधार-क्रम में रखा जा सकता है। इन चार स्तरों के पाठान्तरों का क्रमानुसार अध्ययन

करने पर यह पता चलता है कि प्रथम स्तर का पाठ निरन्तर अन्य स्तरों में उत्कृष्टतर होता गया है। इस दृष्टि से १७२१ एव १७६२ का पाठ एक छोर का तथा १६६१ एव १७०४ का दूसरी छोर का पाठ है।

प्रश्न यह है कि ये सुधारे गये अथवा सस्कारित पाठ कविकृत हैं अथवा किसी अन्य प्रतिलिपिकार या प्रक्षेपकार कृत। मानस की रचना के बाद गोस्वामी जी पचासो वर्ष तक जीवित रहे। अतः यह असम्भव नहीं है कि अपनी सर्वप्रिय रचना को वह अपने जीवन काल में बार-बार परायण करते समय उत्कृष्टतर पाठों से स्थानापन्न करते रहे हों। विभिन्न स्तर के पाठों में एक अद्भुत सस्कार क्रम का मिलना यह सिद्ध करता है कि ये सस्कार कविकृत हैं। साथ ही चतुर्थ स्थिति के पाठ कवि प्रयोग सम्मत एव अन्य अन्तरग सम्भावनाओं से युक्त है। उदाहरणार्थ, बालकाण्ड का एक स्वीकृत पाठ है :

'जान आदि कवि नाम प्रतापू। भयेउ सुद्ध करि उलटा जापू॥' १-१९-५।
यह पाठ अन्तिम स्थिति का पाठ है। प्रथम स्थिति में 'करि उलटा जापू' के स्थान पर 'कहि उलटा नामू' पाठान्तर मिलता है। इसी प्रकार १-१२-७ का स्वीकृत पाठ है :
'समुझि विविध विधि विनती मोरी। कोउ न कथा सुनि देइहि खोरी॥'

यह तृतीय और चतुर्थ स्थिति की प्रतियों का पाठ है। प्रथम और द्वितीय स्तर में 'विधि विनती' के स्थान पर 'विनती अब' पाठान्तर मिलता है। इसी प्रकार के अनेक अन्य उदाहरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं जिनके आधार पर डॉ गुप्त ने यह सिद्ध किया कि यह सुधार-क्रम कविकृत है। इस मान्यता के स्थापन के उपरान्त उन्होंने मानस के चारों स्तरों का पाठ-प्रस्तुत किया जिसे 'रामचरितमानस का पाठ' नामक ग्रन्थ के तुलनात्मक पाठ- चक्र के अन्दर देखा जा सकता है। इन चारों स्तरों के पाठों में से कौन सा पाठ ग्राह्य है और क्यों, इसका पाठ-वैज्ञानिक विवेचन करके उन्होंने मानस के सम्पादन के कुछ सिद्धान्त निर्धारित किए।

## सम्पादन-सिद्धान्त

## काशिराज संस्करण

इधर १९६२ में 'मानस' का एक नवीन सपादन आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने किया है। जिसमें ऐसा कहा जाता है कि आठ वर्ष का समय और कई लाख रुपये व्यय हुये। इस सपादन के लिये सहस्राधिक हस्तलिखित प्रतियों के आलोडन के उपरान्त उनमे से २३ हस्तलिखित प्रतियो और किसी एक मुद्रित प्रति को चुना गया। इन २३ हस्तलिखित प्रतियों में से विशेष रूप से इस सपादन की आधारभूत प्रतियाँ वही हैं जो डॉ माताप्रसाद गुप्त के सपादन की आधारभूत प्रतियाँ थीं। डॉ गुप्त के सस्करण के १२ वर्ष बाद यह सस्करण प्रस्तुत हुआ है। कहने की आवश्यकता नहीं की प्रस्तुत सपादन में डॉ गुप्त के सपादन का पूरा पूरा उपयोग हुआ होगा तथा जहाँ कहीं भी डॉ गुप्त के सस्करण में पाठ-सशोधन की आवश्यकता प्रतीत हुई होगी पूरी छानबीन और सपूर्ण हस्तलेखों के साक्ष्य के साथ कार्य किया गया होगा। इस प्रकार मिश्र जी द्वारा प्रस्तुत इस सपादन में 'मानस' का पाठ कहीं-कहीं अत्यन्त उत्कृष्टता के साथ प्रस्तुत हुआ है। इस सबध में कुछ उदाहरण समीचीन होंगे :

(१) डॉ गुप्त के सस्करण का पाठ है,

'चले मत्त गज घट विराजी। मनहुँ सुभग सावन घनराजी ॥'

(बाल०-३०० २)

यहाँ पर 'घट' शब्द के साथ, जो पुलिङ्ग है, 'विराजी' स्त्रीलिङ्ग की क्रिया आयी है। इस असङ्गति को देख कर सपादक ने 'घट' के स्थान पर तुलसी के मूलपाठ 'घटा' का अनुसधान किया। १६६१ की श्रावण कुञ्ज अयोध्या वाली प्रति में इस स्थल पर 'वय' पाठान्तर है। वास्तव में यह घटा का ही लेखन-विकृति के कारण बिगड़ा हुआ रूप है। इस प्रकार घटा पाठ शुद्ध, प्रसगानुकूल तथा लेखानुसगत भी है। हिन्दी में अनेक कवियों ने गजघटा के साथ घनघटा का वर्णन किया है।

(२) डॉ गुप्त के सस्करण मे निम्नलिखित पाठ है,

'चन्द्रहास हरु मम परिताप। रघुपति विरह अनल संजात।

सीतल निसि तव असिवर धारा। कह सीता हरु मम दुख भारा ॥'

(सुन्दर० १०-४-५)

मिश्रजी ने दूसरी अर्द्धाली में 'निसि तव असि' के स्थल पर 'निसित वहसि' पाठ प्रस्तुत किया है। यह पाठ १७०४ तथा कोदवराम की प्रति में मिलता है साथ ही यह पाठ उस आधार द्वारा भी प्रमाणित है जिससे प्रेरणा लेकर तुलसीदास ने इन अर्द्धालियों का निर्माण किया। वह आधार 'प्रसन्नराघव' का यह श्लोक है जिसमें 'वहसि' पाठ आता भी है :

अहितकर है। हिन्दी में प्राचीन ग्रंथो के संपादन की साहित्यिक सरणि के प्रवर्तक काशी विश्वविद्यालय के दिवगत प्राध्यापक आदरणीय लाला भगवानदीन, प रामचन्द्र शुक्ल और बाबू श्यामसुन्दरदास थे। इनके संपादित ग्रंथों में कुछ ऐसी अच्छाइयाँ हैं जो वैज्ञानिक संपादनो मे नहीं रह गई हैं। अतः दोनों सरणियों के तुल्यबल संयोजन से ही सर्वोत्तम काम हो सकने की अधिक सम्भावना है। प्रस्तुत संस्करण में इसी का विनियोग किया गया है।" भूमिका मे हमने वैज्ञानिक और साहित्यिक सरणि के नाम रूप सम्बन्धी भ्रम का निराकरण किया है। यहाँ तो मिश्र जी के प्रस्तुत कथन से इतना ही प्रकट होता है कि उनके संपादन की विधि वही है जो दीन जी तथा शुक्ल जी की थी, हाँ उसमे हस्तलेखों का आधार लेकर कार्य किया गया है इतना ही अन्तर है। किन्तु इस प्रश्न का उत्तर हो सकता है कि हस्तलेखों का आधार किस आधार या सिद्धान्त पर ग्रहण किया गया है? यदि उनका बहुमत ग्रहण हुआ है या उनकी प्राचीनता पर विश्वास किया गया है तो दोनों ही अवैज्ञानिक और भ्रामक नियम हैं। पर ऐसा नहीं हुआ है। वास्तव में मानस के शब्द शब्द पर वर्गपद्धति (ग्राफ पद्धति) से विचार करके सभअभ के आधार पर जो पाठ मूल का लगा है उसे ग्रहण किया गया है और अन्य को परित्यक्त। यह कोई विधि नहीं हुई, हाँ संपादक की स्वरुचि और उसका स्वरुचि प्रेरित संपादन अवश्य हुआ।

## मान्यताएँ

डॉ माताप्रसाद गुप्त ने मानस के पाठान्तरों का विस्तृत अध्ययन और अनुशीलन किया है और पाठ के चार स्तरों की जिस मान्यता का स्थापन किया है उस पर हम विचार कर चुके हैं। आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र उनकी इस मान्यता से मेल नहीं रखते। इस सम्बन्ध में उनका कथन है

# भाग ३

# सहायक-अध्ययन

१—हिन्दी पाठ-सम्पादन का इतिहास
२—भारतीय लेखन-सामग्री का इतिहास
३—लिपि का इतिहास

परन्तु इस समय केवल विशेष लोकप्रिय ग्रथों का प्रकाशन हुआ यथा रामचरितमानस, प्रेमसागर आदि।

इस काल में प्राचीन साहित्य के मुद्रण का कार्य कुछ विशिष्ट मुद्रणालयों ने किया जिनका नाम हिन्दी साहित्य के इतिहास के पन्नों पर सदैव अंकित रहेगा। इनमें प्रमुख ये हैं—भारत जीवन प्रेस, काशी, खड्गविलास प्रेस, बाकीपुर (पटना), बगवासी प्रेस, कलकत्ता, वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, बेल्वेडियर प्रेस, प्रयाग आदि। इस काल में मुद्रित प्राचीन पोथियों का सपादन की दृष्टि से महत्त्व नहीं है, प्रमुख लेखकों की रचनाएँ जो इस काल में छपी, उन्हे परिशिष्ट में सलग्न सूची में देखा जा सकता है।

इस समय जो कुछ भी कार्य हुआ उसमे हस्तलिखित ग्रथों को मुद्रित रूप मे परिवर्तित कर देने के अतिरिक्त प्राय कुछ भी नहीं हुआ। जिन ग्रथों को एक ही प्रति के आधार पर केवल छाप दिया गया, उनका तो कम से कम इतना महत्त्व है कि वे एक शाखा का शुद्ध पाठ सुरक्षित रखते हैं। परन्तु जिन ग्रथों के सपादन में एकाधिक शाखाओं की प्रतियो का उपयोग किया गया सपादन की दृष्टि से कुछ भी महत्त्व नहीं है, क्योंकि उनमें सपादन-सिद्धान्तों के ज्ञान के अभाव म पाठ मिश्रण ही हुआ है। इस काल के सपादित सस्करणों में पाठान्तर देने की भी प्रवृत्ति नहीं देखी जाती, ताकि सभी शाखाओं के पाठ उनमें सुरक्षित हों और परवर्ती सपादकों को उससे सहायता प्राप्त हो सके। इस कोटि के ग्रथों की केवल इतनी ही उपयोगिता रही कि उस समय जब अपना प्राचीन साहित्य लोगों को देखने को नहीं मिलता था, वह किसी भी रूप में लोगों के सामने आ सका। इस काल में दो तीन महत्त्वपूर्ण प्रकाशन हुए, यथा

(१) **पृथ्वीराज रासो**—इसका प्रकाशन सन् १८८३ में रॉयल एशियाटिक सोसाइटी ऑव बगाल के द्वारा प्रारम्भ हुआ था परन्तु बीच में ही १८८६ ई में 'पृथ्वीराज विजय' की एक प्रति प्राप्त हो जाने से यह कार्य स्थगित कर दिया गया, क्योंकि जहाँ पृथ्वीराज रासो की तिथियाँ और घटनाएँ इतिहास विरुद्ध पड़ती थीं, 'विजय' की इतिहासानुमोदित थीं अत. 'रासो' को जाली ग्रथ मान लिया गया। सन् १९०५ में यह कार्य पुनः डॉ श्यामसुन्दरदास के सरक्षण मे नागरी प्रचारिणी सभा, काशी द्वारा पूर्ण हुआ।

(२) पद्मावत—पद्मावत के दो सम्पादित सस्करण इस समय प्रकाश में आये। पहला नवल किशोर प्रेस लखनऊ से प्रकाशित १८८१ ई में सम्मुख आया और

प्रकार के सम्पादन के प्रयासो का उल्लेख प विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने केशव की रचनाओं के सम्बन्ध मे किया है : 'प्राचीन हस्तलेख जब किसी दरबार मे प्रतिलिपि के लिए पहुचते थे तो उनका सम्पादन वहाँ के राजकवि करते थे। वे पाठ में ही सन्शोधन नहीं करते थे कभी-कभी त्रुटि की पूर्ति भी किया करते थे। त्रुटि की पूर्ति उसी कवि के छन्द से भी की जाती था और कभी कभी कवि के नाम पर स्वयम् रचना करके भी रख दी जाती थी। इसलिए केशव के हस्तलेखों में दूसरों की रचना के मिश्रण की भी सम्भावना है विशेष रूप से परवर्ती काल के हस्तलेखो मे।'[1]

इस प्रकार के सम्पादनों में जहाँ कई प्रतियों के आधार पर छन्द सङ्कलन के रूप मे सम्पादन हुआ है, वहाँ पर तो केवल पाठ मिश्रण हुआ है। ये प्रयास अधिकतर राजाओं द्वारा सचालित होते थे जो उनकी मन. तुष्टि के लिए होते थे। अतः इस प्रकार के पाठ तैयार करने मे साहित्यिक रसास्वाद का तत्त्व ही अन्तर्निहित होता था, कोई शुद्ध साहित्यिक दृष्टि से रचयिता के मूलपाठ का अन्वेषण नही। अत. जो भी पाठ प्रसङ्गानुकूल एव अच्छे लगते थे, उन्हें मनमाने ढङ्ग से ले लिया जाता था। इसके अन्तगत एक अनावश्यक प्रलोभन की प्रवृत्ति भी कार्य करती रही होगी कि इतने अच्छे पाठों को क्षेपक न मान कर छोड़ना ठीक नहीं। अत लेखक या कवि के नाम पर मिलने वाली समग्र कृति को अगीकृत कर लिया जाता था। उसमें इस विवेक के लिए स्थान ही नहीं था कि ये रचनाएँ कवि-कृत या लेखक-कृत हो सकती हैं या नहीं। अतएव ये सम्पादन के प्रयास किसी महत्व के नहीं थे।

## प्रारम्भिक मुद्रण काल (१८०० ई०—१८८८ ई०)

परन्तु इस समय केवल विशेष लोकप्रिय ग्रंथों का प्रकाशन हुआ यथा रामचरितमानस, प्रेमसागर आदि।

इस काल में प्राचीन साहित्य के मुद्रण का कार्य कुछ विशिष्ट मुद्रणालयों ने किया जिनका नाम हिन्दी साहित्य के इतिहास के पन्नों पर सदैव अंकित रहेगा। इनमें प्रमुख ये हैं—भारत जीवन प्रेस, काशी, खड्गविलास प्रेस, बाँकीपुर (पटना), बंगवासी प्रेस, कलकत्ता, वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, वेल्वेडियर प्रेस, प्रयाग आदि। इस काल में मुद्रित प्राचीन पोथियों का संपादन की दृष्टि से महत्त्व नहीं है, प्रमुख लेखकों की रचनाएँ जो इस काल में छपीं, उन्हें परिशिष्ट में संलग्न सूची में देखा जा सकता है।

इस समय जो कुछ भी कार्य हुआ उसमें हस्तलिखित ग्रंथों को मुद्रित रूप में परिवर्तित कर देने के अतिरिक्त प्राय. कुछ भी नहीं हुआ। जिन ग्रंथों को एक ही प्रति के आधार पर केवल छाप दिया गया, उनका तो कम से कम इतना महत्त्व है कि वे एक शाखा का शुद्ध पाठ सुरक्षित रखते हैं। परन्तु जिन ग्रंथों के संपादन में एकाधिक शाखाओं की प्रतियों का उपयोग किया गया संपादन की दृष्टि से कुछ भी महत्त्व नहीं है, क्योंकि उनमें संपादन-सिद्धान्तों के ज्ञान के अभाव में पाठ मिश्रण ही हुआ है। इस काल के संपादित संस्करणों में पाठान्तर देने की भी प्रवृत्ति नहीं देखी जाती, ताकि सभी शाखाओं के पाठ उनमें सुरक्षित हों और परवर्ती संपादकों को उससे सहायता प्राप्त हो सके। इस कोटि के ग्रंथों की केवल इतनी ही उपयोगिता रही कि उस समय जब अपना प्राचीन साहित्य लोगों को देखने को नहीं मिलता था, वह किसी भी रूप में लोगों के सामने आ सका। इस काल में दो तीन महत्त्वपूर्ण प्रकाशन हुए, यथा

(१) **पृथ्वीराज रासो**—इसका प्रकाशन सन् १८८३ में रॉयल एशियाटिक सोसाइटी ऑव बंगाल के द्वारा प्रारम्भ हुआ था परन्तु बीच में ही १८८६ ई में 'पृथ्वीराज विजय' की एक प्रति प्राप्त हो जाने से यह कार्य स्थगित कर दिया गया, क्योंकि जहाँ पृथ्वीराज रासो की तिथियाँ और घटनाएँ इतिहास विरुद्ध पड़ती थीं, 'विजय' की इतिहासानुमोदित थीं अतः 'रासो' को जाली ग्रंथ मान लिया गया। सन् १९०५ में यह कार्य पुनः डॉ श्यामसुन्दरदास के संरक्षण में नागरी प्रचारिणी सभा, काशी द्वारा पूर्ण हुआ।

(२) पद्मावत—पद्मावत के दो सम्पादित संस्करण इस समय प्रकाश में आये। पहला नवल किशोर प्रेस लखनऊ से प्रकाशित १८८१ ई में सम्मुख आया और

दूसरा रामजसन मिश्र या लक्ष्मीशंकर मिश्र द्वारा सम्पादित[1] चन्द्रप्रभा प्रेस, काशी से प्रकाशित सन् १८८४ में सम्मुख आया

## ग्रियर्सन-काल ( १८८८ ई. से १९१० ई )

इस काल में ग्रियर्सन के बाद का भी अधिकाश समय ले लिया गया है, क्योंकि ग्रियर्सन ने सम्पादन का जो दिशा-निर्देश किया था, वह परवर्ती काल में कोई विशेष आगे नहीं बढ़ा। प रामचन्द्र शुक्ल आदि ने जो तथाकथित सम्पादन किया, उसमें ग्रियर्सन के कार्यों का ही आधार ग्रहण किया गया था। जहाँ कहीं स्वतन्त्र पग बढ़ाये गये हैं, वहाँ मूल-पाठ का प्रायः अनर्थ ही हुआ है। अतः ग्रियर्सन ने जो रूप सम्पादन का अग्रसर किया था, उसका प्रभाव १६४२ ई तक के सम्पादनो पर देखा जाता है। पर इस काल सीमा में सन् १६१० तक को रख लिया गया है।

इस समय तक प्राचीन-साहित्य अत्यन्त तीव्र गति से लोगो के सम्मुख मुद्रित रूप मे आने लगा। विभिन्न व्यक्तिगत स स्थाओं के अतिरिक्त इस समय नागरी प्रचारिणी सभा, हिन्दुस्तानी एकेडमी, हिन्दी साहित्य सम्मेलन तथा हिन्दी परिषद्, प्रयाग विश्वविद्यालय आदि साहित्यिक स स्थाओं ने सम्पादन की ओर ध्यान दिया। अनेक महत्त्व के प्राचीन ग्रथों का सम्पादन इस काल मे हुआ। इस काल के प्रारभ में ही जो दो व्यक्ति हमारा ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करते है, वे हैं [१] डॉ सर जार्ज ग्रियर्सन और [२] श्री भागवतप्रसाद खत्री।

पर तैयार की गयी थी। इस क्रम को आजमगढ़ के हरजू मिश्र नामक कवि ने आजमगढ़ाधीश आजमखां या आजमशाह के लिए तैयार किया था।[१]

इन्होंने दूसरा संपादन 'रामचरितमानस' का किया जो खड्गविलास प्रेस, बाकीपुर से प्रकाशित हुआ था। बिहारी-सतसई के संपादन की ही भाँति मानस के भी संपादन में इन्होंने न तो किसी सिद्धान्त का अनुगमन किया और न ही बहुत-सी हस्तलिखित पोथियों का उपयोग।

इसका तीसरा और प्रमुख संपादन 'पद्मावत' का संपादन था, जिसे इन्होंने पं० सुधाकर द्विवेदी के साथ संपन्न किया। यह सन् १९१० में रॉयल एशियाटिक सोसाइटी ऑव बंगाल में प्रकाशित हुआ। इसकी भूमिका में ग्रियर्सन साहब ने अपने सम्पादन सिद्धान्तों का उल्लेख किया है जिनका अनुगमन उन्होंने किया—( १ ) एक विशिष्ट प्रति का आधार-ग्रहण करना जो उन्हें सर्वाधिक प्रामाणिक और मूल के निकटतम प्रतीत हुई। ( २ ) सभी प्राप्त प्रतियों में जो पाठ बहुतों में हो उन्हें स्वीकार करना। परन्तु इनके सम्पादित पाठ की समीक्षा करने पर पता चलता है कि इन्होंने पाठ-निर्णय करते समय अपने द्वारा ही निर्धारित दोनों सिद्धान्तों की उपेक्षा की है। साथ ही साथ यह भी विचारणीय है कि इन्होंने जिस प्रति को आधार माना वह मूल के सर्वाधिक निकट नहीं थी और मिलने वाली प्रतियों के शाखागत वर्गीकरण के बिना उनका बहुमत ग्रहण करना कितना अहितकर होता है, इसे पाठ विज्ञान के विद्यार्थी भलीभाँति जानते हैं।[२] इस प्रकार इनके सम्पादन प्रामाणिकता से होने पर भी अवैज्ञानिक थे।

भागवतप्रसाद खत्री ने 'रामचरितमानस' तथा तुलसी के अन्य ग्रंथों का सम्पादन किया। इन्होंने हस्तलिखित पोथियों के आधार पर ही पाठ तैयार किया। उपयुक्त लगने वाले पाठों को ग्रहण किया तथा अन्यों को पाद-टिप्पणियों में दे दिया। इन्होंने उपयुक्त पाठों के चयन तक ही अपने आपको सीमित रखा। पाठ सुधार के द्वारा पाठों में हस्तक्षेप करने की चेष्टा नहीं की। इस प्रकार इनके पाठों में पाठ-मिश्रण तो है, पर पाठान्तरों द्वारा उसे सुविधा से अलग किया जा सकता है। पाठ विकृति और प्रक्षेप प्राय: कम ही आ पाये हैं।

## ग्रियर्सनोत्तर काल ( १९१०-१९४१ ई० )

इन दो प्रमुख व्यक्तियों ने जो कार्य इस समय किया कई दशकों तक इनकी कोटि का कोई प्रामाणिक कार्य हिन्दी-सम्पादन के इतिहास में नहीं दिखायी पड़ा।

---

[१] कविवर बिहारी—जगन्नाथदास रत्नाकर।

[२] विस्तार के लिए—जायसी ग्रंथावली ( भूमिका )—डॉ० माताप्रसाद गुप्त।

नागरी प्रचारिणी सभा के द्वारा प्रमुख कवियों की ग्रंथावलियाँ तेजी के साथ प्रकाशित करायी गयीं। परन्तु सभा का उद्देश्य था हिन्दी भाषा और नागरी लिपि का प्रचार करना। इसी उद्देश्य की पूर्ति के हेतु ये सम्पादन एवं प्रकाशन भी हुए। सभा का उद्देश्य तो निश्चय ही इनसे पूरा हुआ, परन्तु वैज्ञानिक पाठ-शोध की दौड़ में सभा द्वारा प्रस्तुत सभी कार्य ग्रियर्सन आदि के कार्यों से भी पीछे रह गये। सभा द्वारा प्रकाशित पृथ्वीराज रासो पर विचार हो चुका है। श्री सत्यजीवन वर्मा ने सभा के प्रकाशन में बीसलदेव रासो का सम्पादन किया। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने 'तुलसी ग्रंथावली' तथा 'जायसी ग्रंथावली' का, डॉ० श्यामसुन्दरदास ने 'पृथ्वीराज रासो' 'परमाल रासो', 'कबीर-ग्रंथावली' आदि का सम्पादन किया।

इन सम्पादकों में पं० रामचन्द्र शुक्ल को सर्वाधिक ख्याति मिली। परन्तु इस ख्याति का आधार उनका सम्पादन नहीं प्रत्युत उनकी भूमिकाएँ हैं, जिनमें हिन्दी के लौह-लेखनी प्राप्त आलोचक की प्रतिभा मुखर हो उठी है। 'तुलसी ग्रंथावली' की अलोचनात्मक भूमिका और इसी प्रकार की 'जायसी ग्रंथावली' की भूमिका हिन्दी आलोचना साहित्य में अपना प्रमुख स्थान रखती है। परन्तु संपादन नाम की कोई वस्तु शुक्लजी इन ग्रन्थों में नहीं कर सके। उन्होंने प्राप्त मुद्रित संस्करणों को इकट्ठा करके उनमें से उपयुक्त लगने वाले पाठों को ले लिया और शेष को छोड़ दिया। जहाँ पाठार्थ समझने में बाधा पड़ी वहाँ मनमाने ढंग से पाठ-सुधार कर दिया। इन संपादनों का पाठ-शोध की दृष्टि से महत्त्व नहीं है। सर्वप्रथम तो इनमें हस्त-लिखित पोथियों का आश्रय नहीं ग्रहण किया गया है। 'जायसी-ग्रंथावली' के संपादन में उनके पास चार मुद्रित संस्करण थे और एक कैथी की प्रति थी जिसका भी कोई पता-ठिकाना शुक्लजी ने नहीं बताया, वह भी कदाचित् भ्रष्ट पाठ की प्रति थी। दूसरे उन्होंने इन ग्रंथों के संपादन में किन्हीं विशिष्ट संपादन-मान्यताओं का अनुगमन नहीं किया, जिससे पाठ-मिश्रण और पाठ विकृतियों को पर्याप्त प्रश्रय मिला।[1]

इस काल में अन्य भी बहुत से संपादन हुये जिनकी सूची परिशिष्ट में देखी जा सकती है। परन्तु कुछ विशिष्ट पुस्तकों का संपादन उल्लेखनीय है। नागरी प्रचारिणी सभा ने १९१४ ई० में श्री सूर्यकरण पारीक, श्री रामसिंह और श्री नरोत्तम स्वामी संपादित 'ढोला मारू रा दूहा' प्रकाशित किया, जो पर्याप्त परिश्रम से किया गया कार्य है। इन्हीं में से प्रथम दो संपादकों ने मिलकर एक अन्य राजस्थानी ग्रंथ का भी संपादन किया। वह है, क्रिसन रुक्मिनी री वेलि। इसका प्रकाशन हिन्दुस्तानी एकेडमी, प्रयाग द्वारा हुआ। यह ग्रंथ भी उसी प्रकार का है जिस प्रकार का प्रथम।

[1] विस्तार के लिए—जायसी ग्रन्थावली ( भूमिका )—डॉ० माताप्रसाद गुप्त।

ब्रज-भाषा के अनन्य प्रेमी तथा उसके स्वनामधन्य कवि बाबू जगन्नाथदास रत्नाकर ने दो ब्रज भाषा के अमूल्य ग्रंथों के संपादन का कार्य नागरी प्रचारिणी सभा के संरक्षण में अपने ऊपर लिया। बिहारी सतसई के संपादन में उन्होंने बीस-बाईस वर्ष खर्च किये। सतसई की कई हस्तलिखित प्रतियाँ उनके पास थीं। उनका जिस प्रकार परीक्षण और तुलनात्मक अध्ययन उन्होंने किया उसका विवरण नागरी प्रचारिणी पत्रिका में समय-समय पर प्रकाशित होता रहा।[1] प्रतियों में प्रक्षेप की समस्या, छंदों की वास्तविक संख्या, क्रम-निर्धारण में कवि का उद्देश्य तथा कवि कृत संभावित भाषा की समस्याओं पर उन्होंने पूर्णतया विचार करके इस ग्रंथ का संपादन किया। यह ग्रंथ बिहारी के अब तक के संपादनों में सर्वश्रेष्ठ है पर निर्दोष नहीं। भाषा में जानबूझ कर एक रूपता का समावेश करने में तथा दोहों में दस प्रेम के दोहों के बाद एक नीति या भक्ति के दोहे को सजाने में उन्होंने अपने मन की बात की है बिहारी के मन की नहीं। वैसे भी उस सामग्री के आधार पर जिसे रत्नाकर जी ने एकत्र किया है बिहारी-सतसई का संपादन वैज्ञानिक पाठ की विधि से होना चाहिये।

रत्नाकर जी ने सूर-सागर का संपादन उक्त संस्था के संरक्षण में प्रारम्भ ही किया था कि उनकी मृत्यु हो गयी और उस कार्य को श्री नन्ददुलारे वाजपेयी ने पूरा किया। अभी तक यही उक्त ग्रंथ का सर्वश्रेष्ठ संपादित संस्करण है।

पं. विश्वनाथप्रसाद मिश्र द्वारा संपादित 'भूषण ग्रन्थावली' आदि का भी अपना महत्त्व है, परन्तु पाठ-शोध की किन्हीं विशिष्ट समस्याओं का न उनमें समाधान किया गया और न विशिष्ट संपादन-सिद्धान्तों का निरूपण।

इस काल के संपादकों में एक अन्य प्रमुख नाम पं. उमाशंकर शुक्ल का हमारे सामने आता है, जिन्होंने सेनापति के 'कवित्तरत्नाकर' का तथा नन्ददास के सभी ग्रंथों का संपादन किया। आपने अपने द्वारा प्रयुक्त प्रतियों का विवरण अपने ग्रंथों की भूमिकाओं में दिया है, उनकी तुलनात्मक परीक्षा की तथा उनमें से सङ्गत पाठों को ग्रहण करके अन्य पाठों को पाठान्तर में दिया। उन्होंने 'कवित्त रत्नाकर' की भूमिका में स्पष्ट लिख दिया है कि उन्होंने अपनी ओर से पाठ सुधार करने का कहीं भी प्रयास नहीं किया है। जहाँ उन्हें पाठ-दोष दिखाई पड़े जिनका पाठ-सुधार उनकी दृष्टि में सम्भव था, वहाँ भी मूल में उन्होंने उसी पाठ को रखा तथा पाद-टिप्पणियों में अपने सुझावों को व्यक्त कर दिया है। सब मिला कर आपने अपना कार्य अत्यन्त प्रामाणिकता के साथ सम्पन्न किया है। परन्तु आधुनिक वैज्ञानिक संपादन की विधियों का इनमें भी प्रयोग नहीं हुआ। श्री ब्रजरत्नदास का भी इस युग के सम्पादकों में प्रमुख

[1] अब वे 'कविवर बिहारी' नामक ग्रन्थ में संग्रहीत हो गये हैं।

स्थान है। नन्ददास ग्रथावली में इन्होंने प उमाशकर शुक्ल द्वारा प्रस्तुत नन्ददास के पाठ से प्राय: सुन्दर एव सार्थक पाठों का चयन प्रस्तुत किया है।

## वर्तमान काल (१९४२ ई. के बाद)

प्रारम्भ मे ही इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि सम्पादन की वैज्ञानिक विधि का प्रारम्भ १९४२ ई० में डॉ माताप्रसाद गुप्त के एक लेख द्वारा हुआ, जो 'हिन्दी अनुशीलन' मे प्रकाशित हुआ था।[1] इसमें बनारसीदास जैन कृत 'अर्द्धकथा' की प्रतियों के आधार पर उसके पाठ के पुनर्निर्मित करने की विधि पर प्रकाश डाला गया था। इसके पूर्व ही डॉ गुप्त ने 'अर्द्धकथा' का सम्पादन किया था, परन्तु वह केवल एक प्रति के आधार पर हुआ सम्पादन था। उसमे न तो किसी विशेष सम्पादन विधि का अवलम्बन किया गया था और न तो यह उसमे सम्भव ही था। इसके बाद उक्त ग्रथ का सम्पादन श्री नाथूराम प्रेमी ने एकाधिक प्रतियों के आधार पर किया। इस समय तक डॉ गुप्त को उक्त ग्रथ की चार प्रतियाँ उपलब्ध हो गयी थीं और एक प्रति जिसका उल्लेख प्रेमी जी ने किया था और जो उन्हे प्राप्त न हो सकी थी, उसके पाठ को उन्होंने प्रेमी जी के सम्पादित सस्करण से लिया और इन पाँचों पाठों की परीक्षा करके उसके वैज्ञानिक पाठ पुनर्निर्माण की विधि की ओर सकेत किया। जिन स्थानों से ये प्रतियाँ प्राप्त थीं उ हीं के नाम पर उनका नामकरण हुआ। उनके पाठों में विकृतियों के साम्य की परीक्षा करके उनका प्रतिलिपि सम्बन्ध स्थापित किया और उनका वश-वृक्ष तैयार किया। इस श्रमसाध्य कार्य के कर लेने के उपरान्त उन्होंने कुछ सिद्धान्तों का उल्लेख किया, जिनके आधार पर अत्यन्त सरलता से और प्रामाणिकता से उसका पाठ पुनर्निर्मित किया जा सकता है। आपने इस लेख के लिखने के उपरान्त 'अर्द्धकथा' के पाठ को फिर से सम्पादित नहीं किया।

इसके उपरान्त तुलसीदास के ऊपर खोज-कार्य करते हुए आपका ध्यान तुलसी की रचनाओं के पाठों की विभिन्न शाखाओं की ओर आकृष्ट हुआ। 'रामचरितमानस' की अनेक प्रतियों का परीक्षण आपने किया और उस परीक्षण के दौरान मे आपने कुछ विचित्र ढग के प्रक्षेपों की प्रवृत्तियों को ढूँढ निकाला। प्रतियों को प्राचीन घोषित करने के लिए किस प्रकार सन्—सवतों के ऊपर जाली प्रक्रियाएँ पुष्पिकाओं में हुईं, यह उन्होंने दिखाया। इन सभी बातों पर विचार करके मानस के पाठ की प्रतियों को चार समूहों में विभक्त किया। इनमें भी प्रथम और अन्तिम समूह की प्रतियों के आधार पर ही मूलपाठ तैयार करना अधिक सगत समझा, जिनमें १७२१ व १७६२, १६६१ व १७०४ की प्रतियाँ आती थीं। इन चारों समूहों की प्रतियों में एक यही विशे-

[1] 'हिन्दी अनुशीलन', अ ३, वर्ष १।

पता देखनेको मिली कि ये चारों समूहोंकी प्रतियाँ चार पीढ़ियों का निर्देश करती हैं जिनमें १७२१, १७६२ । छक्कनलाल+मिर्जापुर समूह । कोदवराम समूह । १६६१, १८०४ इस क्रम से चलने पर प्रतियों का पाठ अपने पूर्ववर्ती पाठों से उत्कृष्टतर होता गया है और उसके प्रतिकूल चलने पर निकृष्टतर होता गया है। इन क्रमों में पहले क्रम को उन्होंने 'पाठ सम्वर्द्धन क्रम' और दूसरे को 'पाठ-विकृति-क्रम' नाम दिया। इन चार स्थितियों के पाठों के सम्बन्ध में उन्होंने विचार किया और चारों स्थितियों के पाठों को तैयार किया। मानस की सभी उपलब्ध प्रतियों की परीक्षा इस ढंग से कर लेने के उपरान्त आपने अपने सपादन सिद्धान्तों का उल्लेख किया जिनके आधार पर उन्होंने 'मानस' का पाठ-निर्धारण किया। 'रामचरितमानस का पाठ' नामक एक स्वतन्त्र पुस्तक लिख कर आपने अपने अनुभवों, प्रतियों के सबन्धों तथा सपादन सिद्धान्तों का विस्तृत विवेचन किया, जो रामचरितमानस के सपादन मे अपनाए गए थे।

जायसी के पद्मावत पर अब तक बहुत-सा कार्य हो चुका था। पद्मावत की बहुत सी प्रतियाँ डॉ. गुप्त ने एकत्र कीं। नागरी लिपि के अतिरिक्त उसकी बहुत-सी प्रतियाँ अरबी, फारसी और उर्दू लिपियों में प्राप्त हुई, अनेक वर्षों तक इनका श्रम-साध्य अध्ययन और अनुशीलन करने के उपरान्त आपने 'जायसी ग्रन्थावली' का सपादन किया। इन प्रतियों की परीक्षा करके आपने इनमें तीन प्रकार के सबन्ध स्थापित किये— (१) पाठान्तर सबध (२) प्रक्षेप सबध (३) प्रतिलिपि सबन्ध। इन तीनों प्रकार के सम्बन्धों के आधार पर आप लगभग एक ही निर्णय पर पहुँचे। इन तीनों ढगो से प्रतियाँ चार प्रकार के समूहों की दिखाई पड़ीं (१) प्रथम पीढ़ी की प्रतियाँ (२) द्वितीय पीढ़ी की प्रतियाँ (३) तृतीय पीढ़ी की प्रतियाँ (४) चतुर्थ पीढ़ी की प्रतियाँ। इन पीढ़ियों में पाठ विकृतियाँ, प्रक्षेप तथा छन्दों की सख्या बढ़ती गई है। इस दृष्टि से आपने अपना विचार व्यक्त किया कि विशेष रूप से प्रथम पीढ़ी की प्रतियों के आधार पर इस ग्रंथ का सम्पादन होना चाहिए। इसके उपरात जहाँ आवश्यकता हो द्वितीय पीढ़ी की प्रतियों से सहायता ली जा सकती है। तीसरी और चौथी पीढ़ी की प्रतियाँ तो सपादन की दृष्टि से सर्वथा अनुपयोगी हैं क्योंकि वे विकृतियों, प्रक्षेपों तथा छदों की दृष्टि से विकृततर होती गयी हैं। इन्हीं सम्बन्धों के आधार पर आपने पद्मावत के छदों की सख्या निर्धारित की। प्रक्षिप्त छदों को अलग छाँट कर निकाल दिया।

'पद्मावत' के सबध में आपने दो-तीन बातों का और भी विचार किया, जिनको पूर्ववर्ती सपादकों ने छोड़ दिया था और इसी कारण उनसे बड़ी बड़ी भ्रान्तियाँ हुई थीं। सर्वप्रथम आपने पद्मावत की मूल प्रति की लिपि क्या होगी, इस समस्या पर विचार किया। पद्मावत की सर्वाधिक प्राचीन प्रतियाँ अरबी-फारसी लिपि में मिलती हैं तथा उस लिपि के कारण कुछ पाठ-भेद हो गये हैं। परन्तु अनेक पुष्ट तर्कों के आधार

पर डॉ गुप्त ने इस बात को सिद्ध किया कि पद्मावत की मूल प्रति नागरी लिपि में लिखी गयी थी क्योंकि अरबी फारसी की प्राचीनतम प्रतियों में भी इस प्रकार की पाठ-विकृतियाँ मिलती हैं, जो केवल नागरी लिपि के कारण ही सम्भव हो सकती थी। यथा व-ब, भ-म, श-घ आदि।

इसी प्रकार जायसी की भाषा क्या रही होगी, इस पर भी आपने पूर्णतया विचार किया और बतलाया कि इनकी भाषा प्राकृत बहुल अवधी रही थी। इस बात को न समझने के कारण उदाहरण के लिए एक छंद में 'गहनारभ' पाठ का किसी ने गशनारम्भ, किसी ने 'गहाअरभ' आदि पाठ कर दिया। इसी प्रकार उन्होंने जायसी के छंद सम्बंधी प्रयोगों की मान्यताओं पर भी विचार किया।

इतनी प्रारंभिक बातें करके आपने प्राप्त प्रतियो का वंशवृक्ष तैयार किया, जिनमें मिश्र पाठ की अनेक प्रतियाँ थी। इस प्रकार अपने संपादन सिद्धान्तों को निश्चित करके आपने 'जायसी ग्रन्थावली' का संपादन किया। और निश्चय ही यह संपादन जायसी के ग्रन्थो का सर्वश्रेष्ठ संपादन है। और आज तो उच्च कोटि के विद्वानों द्वारा भी यही संपादन समादृत है।

अन्त मे आपने 'बीसलदेव रासो' का संपादन किया। इसके पूर्व इस ग्रंथ का संपादन श्री सत्यजीवन वर्मा ने किया था, जो नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित हुआ था। परन्तु वह संपादन केवल एक प्रति के आधार पर ही हुआ था और वह भी प्रति पर्याप्त भ्रष्ट पाठ की प्रति रही होगी, ऐसा अनुमान होता है। इस प्रति के प्रतिलिपिकार को राजस्थानी लिपि का भी पूर्ण ज्ञान नहीं था, क्योंकि वर्मा जी के संपादित संस्करण मे प्राचीन राजस्थानी लिपि के ज्ञानाभाव के कारण सम्भव अनेक विभ्रांतियाँ आ गयीं हैं। डॉ गुप्त ने राजस्थान से श्री अगरचन्द नाहटा की सहायता से बहुत सी प्रतियां एकत्र कीं और उनको पाठ साम्य आदि के आधार पर पाँच समूहों में विभाजित किया, फिर प्रत्येक समूह की प्रतियों में अन्य समूहों की प्रतियों का कहां तक पाठ मिश्रण हुआ है इस समस्या पर विचार किया। छंदों की प्रामाणिक संख्या निर्धारित की। लिपि भ्रम के कारण आये हुए दोषों पर विचार किया। फिर उन समूहों की प्रतियों में प्रतिलिपि संबंध स्थापित किया। और पाठ-संबंध पर विस्तार पूर्वक विचार कर लेने के उपरान्त उन्होंने पाठ सम्बन्ध का वंशवृक्ष तैयार किया, जिससे यह पता चला कि एक शाखा मे मूल का अधिकतम शुद्ध पाठ सुरक्षित रह सका और शेष दो शाखाओं की प्रतियों में कई पीढ़ियों में पाठ-मिश्रण हुआ। इस प्रकार यह निर्धारित किया कि सम्पादन की दृष्टि से एक ही शाखा की प्रतियाँ अधिक उपयोगी है। इस संस्करण में कुल १२८ छन्द प्रामाणिक माने गये हैं, जिनमें से ११८ तीनों शाखाओं की विभिन्न प्रतियों में मिलते हैं। केवल १० छन्द ऐसे है जो दो शाखाओं में मिलते

हैं। इन १२८ मूल छन्दों के अतिरिक्त मिलने वाले छन्दों को परिशिष्ट में रख दिया गया है ।

वैज्ञानिक-विधि से सम्पादित मझन कृत 'मधुमालती' को प्रकाशित कराकर आपने पृथ्वीराज रासो के वैज्ञानिक सम्पादन का कार्य भी पूर्ण कर लिया है। यह कार्य अत्यन्त कठिन और वृहद् रहा। यह हमारे साहित्य का परम दुर्भाग्य है कि हमारा सर्वप्रथम महाकाव्य ही अभी वैज्ञानिक ढंग से सम्पादित नहीं था और बहुत से कारणों में यह भी एक कारण है कि इस महाकाव्य की प्रामाणिकता पर भी विश्वास नहीं किया जाता। इधर आप 'सारंगा सदावृक्ष' के मूलपाठ की शोध कर रहे हैं। सारंगा और सदावृक्ष की कथा सभी जानते हैं पर उस कथा का मूलाधार लिखित पाठ जन जीवन में सुलभ नहीं है। डॉ० गुप्त के प्रयत्न से यह खोई हुई वस्तु सम्भव है हिन्दी काव्य रसिकों को प्राप्त हो सकेगी।

प्रयाग विश्वविद्यालय में खोज के विषय के रूप में डॉ० पारसनाथ तिवारी ने कबीर के पाठ की शोध वैज्ञानिक ढंग से की है। उनका वह प्रबन्ध कबीर ग्रथावली के रूप में इसी विश्वविद्यालय की हिन्दी परिषद् से प्रकाशित हो चुका है। यह कार्य डॉ० गुप्त के ही निर्देशन में सपन्न हुआ है। इस दिशा में एक अन्य महत्वपूर्ण कार्य हिन्दी सम्पादन-युग के चतुर्थ काल के यशस्वी सम्पादक प० उमाशङ्कर शुक्ल 'सूर सागर' के पाठ शोध के सम्बन्ध में कर रहे हैं। प्रयाग विश्वविद्यालय से ही डॉ० लक्ष्मी-धर मालवीय ने देव के ग्रथों के मूलपाठ पर शोध किया है। तथा श्री हरिमोहन मालवीय बिहारी के मूलपाठ का निर्माण अपने शोध कार्य के रूप में कर रहे हैं। ये दोनों ही कार्य अत्यन्त महत्व के हैं।

हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी के प० विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने 'केशव-ग्रथावली' का सम्पादन तीन भागों में किया है जो हिन्दुस्तानी एकेडमी प्रयाग से प्रकाशित हुई है। यह कार्य अत्यन्त परिश्रमपूर्वक एव हस्तलिखित ग्रथों के साक्ष्य पर प्रस्तुत हुआ है। ग्रथावली के तृतीय भाग की भूमिका में विद्वान सम्पादक ने प्राप्त प्रतियों का सक्षिप्त विवरण दिया है जिनका उपयोग उन्होंने इस सम्पादन में किया। पर पुष्पिका आदि का उल्लेख उन्होंने विस्तारभय से नहीं किया है। साथ ही उक्त भूमिका में उन्होंने सम्पादन की वैज्ञानिक विधि से मतभेद प्रकट करते हुए उसे 'यान्त्रिक प्रक्रिया' माना है, साहित्यिक प्रक्रिया नहीं। अतः वैज्ञानिक विधि का अनुगमन करना उनके लिए सम्भव नहीं था। इस सम्बन्ध में भूमिका में मैंने विस्तारपूर्वक विचार कर लिया है।

मिश्र जी ने इधर १९६२ में 'रामचरितमानस' का भी सपादन प्रस्तुत किया

है जिसमें कई स्थानों पर मानस के पाठ को बड़े ही सुन्दर ढग से ढूँढ निकाला गया है। इसमें सन्देह नहीं कि यह कार्य अत्यन्त श्रम, समय एव धन के साथ सपन्न हुआ है। इसके सबध में इतना ही निवेदन करना पर्याप्त है कि इसमे डॉ माताप्रसाद गुप्त की मानस के पाठ-सबधी मान्यताओं से प्रायः मतभेद नहीं किया गया है और उन्हीं मान्यताओं के आधार पर अधिक समय एव श्रम के साथ पडितप्रवर विश्वनाथप्रसाद जी ने मानस के पाठ को एक डग और आगे बढ़ाया है। इस पर हम विस्तारपूर्वक विचार कर चुके हैं। इधर पाठ-सपादन की ओर विद्वानों का पर्याप्त झुकाव हुआ है। श्री प्रभुदयाल मीतल तथा विद्या-विभाग कॉकरौली द्वारा पर्याप्त कवियों का पाठ प्रस्तुत हुआ है। खेद का विषय है कि इन सपादनों में तो किसी विधि का अनुगमन हो ही नहीं रहा है साथ ही शोध-विषय के रूप में होने वाले कार्यों में भी इन विधियों का उपयोग नहीं हो पा रहा है, जैसा अलीगढ़ विश्वविद्यालय से 'परमानन्द सागर' की पाठ शोध में हुआ है।

वर्तमान काल में भी जब वैज्ञानिक सम्पादन का सूत्रपात हुआ है कितने ही ग्रथों का सम्पादन प्राचीन ढग से हुआ है, जिसकी चर्चा पहले की जा चुकी है। इस काल-परिधि में इस ढङ्ग के सम्पादनों की चर्चा करनी उचित नहीं समझी गयी है, क्योंकि जब वैज्ञानिक-सम्पादन की विधि हमारे सम्मुख आ चुकी है, हमें मनमाने ढङ्ग से सम्पादन न करना चाहिए।

———— —

# २

# भारतीय लेखन सामग्री का इतिहास

लेखन सामग्री से अभिप्राय उन वस्तुओं से होता है जिनकी सहायता से लिखने का कार्य किया जाता है। इस दृष्टि से विचार करते समय हमारा ध्यान दो दिशाओं में जाता है :

(१) आधार—अर्थात् जिस वस्तु के ऊपर लिखावट की जाय। जैसे कागज, ताम्रपत्र आदि।

(२) साधन—अर्थात् जिससे लिखावट की जाय। साधनों मे लेखनी, स्याही और पंक्ति खींचने के साधन आदि सभी समाविष्ट हो जाते हैं।

भारत में अत्यन्त प्राचीन काल से लिखावट होती रही, इसका पता हमें अनेक उल्लेखों के द्वारा चलता है। कुछ पाश्चात्य लिपि-विशेषज्ञों ने भारत में 'मुखस्थ विद्या' की प्रधानता के कारण यहाँ के लिपि ज्ञान को नवीन सिद्ध करने का प्रयास किया। यहाँ तक कि भारतीय ज्ञान के प्रति अत्यन्त उदारता के साथ विचार करने वाले मनीषि मैक्समूलर को पाणिनीय व्याकरण में लिपि सम्बन्धी कोई उल्लेख न मिला और आप उसी के आधार पर कहते हैं कि पाणिनी के समय तक भारतीयों को लेखन कला का ज्ञान नहीं था। भारतीयों को लेखन-कला का ज्ञान था, इसका उल्लेख तो पाणिनी के व्याकरण में मिलता ही है साथ ही जातकों मे इसके प्रचुर प्रमाण भी मिलते हैं जिन्हें अन्यत्र देखा जा चुका है। साथ ही माटगोमरी जिले के मोहन जोदड़ो और लरकाना के हड़प्पा की खुदाइयों के द्वारा जो सामग्रियाँ उपलब्ध हुई हैं, वे इस विषय के विवाद को निर्मूल ही कर देती हैं। विद्वानों ने माना है लगभग ३५०० ई पू सिंधु घाटी में सभ्यता अपने उच्चतम शिखर पर पहुँच गई थी। डेविड डिरिंजर ने विश्व की प्राचीनतम क्युनी फार्म लिपि का विकास ४००० ई पू से १ ई तक माना है।

**भारत मे लिपि-ज्ञान की प्राचीनता**—सिन्धु-घाटी के पुरातात्विक अनुसधान में प्राप्त लिपि चिह्नों के पूर्व साधारणतः यह धारणा थी कि प्राचीनकाल मे भारतीयों को

लिखने पढ़ने का ज्ञान नहीं था और उन लोगों ने इस कला को विदेशियों से सीखा। इस धारणा को प्रचारित करने में सर्वाधिक हाथ पश्चिमी विद्वानों का रहा। मैक्समूलर महोदय, जो भारतीय ज्ञान विज्ञान के बड़े समर्थक हैं, उन्होंने भी लिखा कि पाणिनी की 'अष्टाध्यायी' में लिपि सम्बन्धी कोई उल्लेख नहीं है और 'अष्टाध्यायी' का समय उनके अनुसार चौथी सदी ई पू है। अत. उसके पहले भारत में लेखन-कला का ज्ञान नहीं रहा होगा। अब तो म म गौरीशकर हीराचन्द ओझा जैसे नदीष्ण विद्वानों ने यह सिद्धकर दिया है कि स्वतः 'अष्टाध्यायी' में लिपि, लिबि, ग्रन्थ आदि शब्दों का प्रयोग तथा लिपिकर और यवनानी (यवनों की लिपि) शब्दों के बनाने के नियम पाये जाते हैं। मैक्समूलर की ही भाँति बर्नेल की धारणा है कि चौथी और पाँचवीं सदी ई पू भारतीयों ने लिखने की कला फोनेशियन लोगों से सीखा तथा डॉ बूलर का मत है कि पाँच सौ ईसवी पूर्व भारतीयों ने योरोपीय सेमेटिक लिपि से अपनी ब्राह्मी लिपि का निर्माण किया। सिंधु घाटी शिलालेखों ने तो भारत के लिपिज्ञान की प्राचीनता को तो सिद्ध कर ही दिया है, पर इनके अतिरिक्त भी इस बात के प्रमाण प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं कि सुदूर प्रागैतिहासिक काल से हमे लेखन-कला का ज्ञान है। इस सदर्भ में निम्नलिखित प्रमाण द्रष्टव्य हैं :

(१) ऋग्वेद में अष्टकर्णी गायों के दान का उल्लेख है जिसका अभिप्राय ऐसी गायों से है जिनके कानों पर आठ की सख्या अकित हो। अष्टाध्यायी में भी गायों के कानों पर पाँच और आठ की सख्या लिखने का उल्लेख मिलता है। इससे तथा ऋग्वेद में उल्लिखित उष्णिष और गायत्री आदि छदों से पता चलता है कि यहाँ लेखन-कला का ज्ञान ऋग्वेद के समय से ही है।

(२) छान्दोग्य उपनिषद् में 'अक्षर' शब्द का प्रयोग मिलता है। तैत्तरीय उपनिषद् में वर्ण तथा मात्रा का तथा ऐतरेय ब्राह्मण में ॐ अक्षर के अकार, उकार और मकार से मिलकर बनने का उल्लेख है।

(३) अकों को लिखने का तो प्रारभ ही भारत से हुआ ऐसा प्रतीत होता है, योरोप में प्रचलित अकों को अरब के नाम पर 'अरबिक साइन-स' (Arabic signs) कहते हैं, किन्तु अरब वाले उन्हें हिन्दुस्तान के नाम पर 'हिन्दसा' कहते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि इन अकों का ज्ञान योरोप को अरब से हुआ और अरब वालों को भारत से।

(४) रामायण तथा महाभारत (४०० ई पू) तथा कौटिल्य के अर्थशास्त्र (४०० ई पू) में भी ऐसे उल्लेख हैं जिनसे भारत के लिपि-ज्ञान का पता चलता है।

[५] जातकों मे सुवर्णपत्र, व्यक्तिगत तथा सरकारी पत्र, ऋण पत्रों का उल्लेख है, जो म म ओझा जी के अनुसार ६०० ई पू के हैं।

[६] बौद्ध ग्रन्थ 'सुतत' [ब्रह्मजाल सुत्त] मे बच्चों के अक्खरिका नामक खेल का उल्लेख है। 'इस खेल में खेलने वाले को अपनी पीठ पर या आकाश में (अगुलि से) लिखा हुआ अक्षर बूझना पड़ता था।' डॉ बाबूराम सक्सेना का यह अनुमान उचित ही प्रतीत होता है कि 'अक्षरों का प्रयोग बच्चों के खेल मे भी होने लगा हो, यह अवस्था लिपि के आविष्कार के सैकड़ों साल बाद ही सभव है।'

[७] बौद्ध ग्रन्थ 'विनय पिटक' मे लेखन-कला की प्रशसा की गई है तथा 'पन्नावणा सुत्त' में १८ तथा बौद्धों के 'ललित विस्तर' नामक ग्रथ मे ६४ लिपियों का उल्लेख हुआ है।

[८] एरियन ने अपनी पुस्तक 'इण्डिका' मे सिकन्दर के सेनापति निकार्स [३२६ ई पू] के इस कथन का उल्लेख किया है कि 'भारतवासी रुई कूट कर कागज बनाने की कला जानते थे।' निश्चय ही कागज के आविष्कार के बहुत पूर्व लेखन कला का ज्ञान उन्हे रहा होगा।

[९] मेगेस्थनीज [३०५ ई पू] ने भारत मे सड़कों पर मील के पत्थर गाड़े जाने का तथा जन्मकुण्डली बनाने की प्रथा का उल्लेख किया है।

[१०] चीनी यात्री ह्वेन साग ने भी भारतीयों के लिपिज्ञान की प्राचीनता को स्वीकार किया है।

[११] इतने प्राचीन काल से लिपि-ज्ञान होने पर भी, प्राचीनकाल में भोजपत्र तथा ताड़पत्र आदि नश्वर वस्तुओं पर लिखावट होने के कारण हमारी प्राचीन लिखित सामग्रियाँ नष्ट हो गईं। केवल शिलालेख ही कुछ सुरक्षित रह पाए हैं। प्राचीनतम शिलालेख अजमेर के बड़लीग्राम के तथा नेपाल की तराई के पिप्रावा नामक स्थान के है। ये लेख अशोक से पूर्व के है।

[१२] सिंधु घाटी की प्राप्त लिपि-सामग्रियों ने यह सिद्ध कर दिया है कि अत्यन्त सुदूर प्रागैतिहासिक काल से भारत में लेखन-कला का प्रचार रहा है।

इस प्रकार सिंधु घाटी में प्राप्त लिपि विश्व की प्राचीनतम लिपि प्रमाणित होती है। इस विवाद पर विचार न करके हमें लेखन सामग्री के रूपों पर विचार करना है जो उन खुदाइयो मे प्राप्त हुई हैं। सर जान मार्शल ने जिनके तत्वावधान में जनवरी १९२१ में मोहन जोदड़ो की खुदाई प्रारभ हुई थी बताया है कि वहाँ मुद्राएँ और मुद्रा लगाई हुई मिट्टी की गोलियाँ प्राप्त हुई हैं, बर्तन के टूटे हुये अश, जिन पर उस समय की लिपि में कुछ उत्कीर्ण किया गया

है मिले हैं। साथ ही मिट्टी के पकाये हुये आभूषण प्राप्त हुये हैं जिन पर कुछ अक्षर खुदे हुये हैं। इनके अतिरिक्त ताम्र मुद्राएँ भी प्राप्त हुई हैं जिन पर लिखा हुआ है।[1] साथ ही मसि-पत्र के रूप में एक पात्र मिला है जिसका आकार मेंढ़े की तरह है और उसकी पीठ पर एक छिद्र है। इससे अनुमानित होता है कि यह मसि-पात्र रहा होगा। जहाँ तक प्राप्त लेखन-सामग्री का प्रश्न है, मोहन जोदड़ो और हड़प्पा की खुदाइयों में प्राप्त ये मिट्टी एवं ताँबे की मुद्राएँ, मिट्टी के बर्तन और आभूषण आदि हमें प्राप्त हैं किन्तु जब लेखन कला का इतना ज्ञान भारतीयों को उस समय था कि वे चित्र लिपि से आगे भाव-ध्वनि लिपि (Transitional Script) का निर्माण कर लिये थे जैसा विद्वानों का विचार है, तो वे लेखन सामग्री में इन सामग्रियों से विकसित रूप अवश्य ग्रहण किए रहे होंगे। इसी आधार पर मार्शल महोदय ने भी अनुमान लगाया है कि वे अवश्य भोज पत्र, ताड़ पत्र, काष्ट-पट्टिका और कपड़े पर लिखते रहे होंगे जो काल की कठोरता में समाप्त हो गये, क्योंकि ये सभी सामग्रियाँ नाशमान हैं। इन सामग्रियों का ही विशेष रूप से उपयोग भारत में बहुत हाल तक होता रहा है और इनकी नश्वरता के कारण ही भारत में अत्यन्त प्राचीन हस्तलिखित पोथियाँ नहीं मिलती हैं। इनका उल्लेख हमें विभिन्न स्थानों पर मिलता है।

> 'तस्य सपुटिका सफल करवटिया, ससुन्दक. सलेखनीय कमशीभाजनानि।
> ताड़पत्राणि, भूर्जत्वचो वा, सलोहकटकानि, तालदलानि, सुसमृष्टा भित्तय·
> सतत सन्निहिताः स्युः'[2]

इसमें ताड-पत्र, भोजपत्र आदि पर लौह-शलाका से लिखने का उल्लेख मिलता है। योगिनी-तन्त्र में इनके अतिरिक्त लेखन सामग्री के रूप में धातु का भी उल्लेख मिलता है·

> 'भूर्जे वा तेजपत्रे वा ताले वा ताड़ि-पत्रके।
> अगुरूणापि देवेशि! पुस्तक कारयेत-प्रिये!॥
> सम्भवे स्वर्ण-पत्रे चा ताम्र-पत्रे च शकरि।
> अन्य वृक्षत्वचि देवि! तथा केतकि पत्रके॥
> मार्त्तण्ड पत्र रौप्ये वा वट-पत्र वरानने।
> अन्य पत्रे वसुदले लिखित्वा यः समभ्यसेत्।
> सदुर्गतिमवाप्नोति धनहानिर्भवेद् ध्रुवम्॥'

---

[1] Mohanjo Daro

[2] काव्य मीमान्सा (बड़ौदा संस्क, पृ ५०)

इन सामग्रियों का यथानुसार क्रमबद्ध विवरण निम्न पंक्तियों में प्रस्तुत करने का प्रयास किया जायगा।

## आधार सामग्री

१—भोज पत्र (भूर्ज त्वचा)—हिमालय प्रदेश में यह वृक्ष बहुतायत से पाया जाता है। यह ठण्डी जलवायु में उत्पन्न होने वाला वृक्ष है और लगभग १००० फीट से कम ऊंचाई में नहीं पाया जाता। इसकी भीतरी छाल को एक विशेष-विधि से तैयार करके इस पर लिखा जाता था। उस छाल के लगभग एक बालिश्त और गज भर लम्बे भाग को काट कर उन्हें मजबूत और चिकना बनाने के लिए उस पर तेल लगाया जाता था। पुनः उसे कौड़ी या किसी अन्य चिकनी वस्तु से रगड़ रगड़ कर चिकना बनाते थे और फिर उस पर लिखते थे। स्व० गौ० ही० ओझा ने उल्लेख किया है कि ये आज भी पंसारियों की दूकान पर मिलते हैं और इनको तावीज का मन्त्र लिखने के काम में लाया जाता है। अलबेरूनी अपनी भारत यात्रा के विवरण में लिखते है कि उत्तरी तथा मध्य भारत के लोग 'तूज'(भूर्ज) वृक्ष की छाल पर लिखते हैं और उसे भूर्ज कहते हैं।[1] इसकी पोथियाँ अलग अलग पत्रों पर होती थीं और इनके बीच में छिद्र के लिये जगह छोड़ कर इधर उधर लिखा जाता था, यथा,
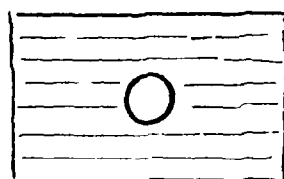
और ऊपर नीचे लकड़ी की पाटी रख कर बीच से इनका ग्रथन होता था। परन्तु मुगल काल में कागज की पुस्तकों की भाँति इस पर जिल्द बाँधी जाने लगी।

भोज पत्र की पुस्तकें बहुत टिकाऊ नहीं होती हैं। अतः नमी आदि के कारण नष्ट हो जाने से बहुत प्राचीन पोथियाँ नहीं मिलती हैं। जो भी प्राचीन सामग्री प्राप्त होती है वह स्तूपों आदि में दब कर सुरक्षित बचे रहने के कारण मिलती है। इस प्रकार की सामग्री विशेषतः काश्मीर में मिली है। इनमें सबसे प्राचीन खरोष्ठी लिपि में लिखा खोतन का 'धम्मपद' (प्राकृत) है जो ओझा के अनुसार दूसरी या तीसरी शताब्दी का होना चाहिये। जिसे मैसन महोदय ने अफगानिस्तान के स्तूपों में से ढूढ़

[1] भारतीय प्राचीन लिपि माला।

निकाला। इसी प्रकार 'सयुक्ता गम-सूत्र' तथा वखशाली की अक्कगणित की पोथी भी प्राप्त हुई है। इस प्रकार से प्राप्त अन्य बहुत सी पोथियाँ पूना आदि भारतीय तथा कुछ योरोपीय हस्तलिखित-पुस्तक-सग्रहालयों में सुरक्षित हैं। वे सभी कदाचित् बहुत बाद की पोथियाँ हैं।

( २ ) **ताड़ पत्र**—ये ताड़ नामक वृक्ष के पत्र ( पत्ते ) होते हैं। ताड़ वृक्ष विशेषत. समुद्रतटीय भागों में पाया जाता है। राजपूताना और पजाब आदि में भी ये पाये जाते हैं किन्तु कम। उनके पत्ते चौड़े और लम्बे होते हैं जिनके बीच मे नसें होती हैं। दो नसो के बीच का भाग भी पर्याप्त चौड़ा होता है। इनकी नसों के जोडो से एक निश्चित लबाई के अभीष्ट पत्रों को काट लिया जाता था। पुन इन्हें पानी मे उबाल या भिगो कर सुखाते थे। इनको शख या कौड़ा अथवा किसी चिकने पत्थर से रगड़ कर चिकना करके लिखने योग्य बनाते थे। काश्मीर और पञ्जाब को छोड़कर इन पर लिखने का प्रचार सारे भारत में था।

ये पत्र भी भोज पत्र के समान ही कम टिकाऊ होने के कारण बहुत प्राचीन नहीं मिलते हैं। इनकी ग्रथन-विधि भी उसी प्रकार की होती है जैसी भोज पत्रों की। वैसे इन पत्रों के प्राचीन उपयोग का प्रमाण 'ग्रथ' ( ग्रथन ) पन्ना ( पत्र ) आदि शब्द हैं और ओझा जी के अनुसार लिखना शब्द ही लिख् धातु से निकला है, जिसका अर्थ कुचरना, रगड़ना या रेखा करना होता है। स्याही से लिखने के लिए तो लिप् धातु ही अधिक उपयुक्त है। इन पत्रों पर लिखावट कई प्रकार से होती रही। इन पर स्याही से साधारण ढग से लिखा जाता था जो उत्तरी भारत में प्रचलित था अथवा लोहे की नुकीली शलाकाओं से इन पर अक्षर पहले उत्कीर्ण कर दिया जाता था और पुन. उस पर कोयला आदि के चूर्ण में कुछ मिला कर भर दिया जाता था। यह शैली दक्षिण भारत में अधिक प्रचलित थी।

इस सामग्री का उल्लेख कई स्थानों पर मिलता है। बौद्धों की जातक कथाओं में 'पण्ण' ( पत्र, पन्ना, पत्ता ) का उल्लेख मिलता है। ह्यूली लिखित ह्यूनसाग के जीवन चरित में पाया जाता है कि बुद्ध के निर्वाण के बाद पहला सङ्घ जब एकत्रित हुआ था तो त्रिपिटक पहले पहल ताड़ पत्रों पर ही लिखा गया था।

स्याही से लिखे गये ताड़पत्रों का सबसे पहला उदाहरण एक पुराना त्रुटित नाटक है जो दूसरी शताब्दि ई पू का होगा। मि मेकर्ट के काशगर से भेजे गये ताड़ पत्रों के टुकड़े भी चौथी शताब्दी के होगे। मध्य भारत से जापान पहुँची हुई 'प्रज्ञा पार मिता सूत्र' तथा 'उष्णीष विजय धारिणी' नाम की दो बौद्ध पुस्तकें जापान के एक मठ में सुरक्षित हैं। नैपाल के ताड़-पत्र के पुस्तक सग्रह में एक 'स्कन्द पुराण'

की तथा कैम्ब्रिज के संग्रह में एक 'परमेश्वर तन्त्र' की प्रतियाँ सुरक्षित है। ग्यारहवीं शताब्दी तथा इसके पीछे की बहुत सी पुस्तकें नैपाल, गुजरात, राजपूताना तथा योरोप के कई संग्रहों में प्राप्त होती हैं। दक्षिणी शैली की लौह शलाकाओं से उत्कीर्ण पुस्तकें १५वीं शताब्दी के पूर्व की नहीं प्राप्त हुई हैं।

( ३ ) कागज—ऐसा माना जाता है कि कागज का आविष्कार चीन में १०५ ई के लगभग हुआ था किन्तु उसके चार साढ़े चार सौ वर्ष पूर्व सिकन्दर के साथ आये हुए निकार्स ने लिखा है 'भारतवासी रूई को कूट कर कागज बनाना जानते थे।' बूलर महोदय ने रूई के प्रयोग के कारण इसका अभिप्राय कपड़े के पटों से लगाना चाहा, पर गौ ही ओझा जी के अनुसार यह मत भ्रमपूर्ण है क्योंकि कपड़ा कभी रूई को कूट कर नहीं बनाया जाता था और न अब भी बनाया जाता है। पहले जो कागज तैयार किया जाता था वह आज की भाँति अच्छा नहीं होता था। अत एक विशेष प्रकार का लेप उस पर करके उसे सुखाया जाता था और पुन उसे चिकना करके लिखने का कार्य किया जाता था। भूर्ज पत्रों एव ताड पत्रों के अनुकरण पर दोनों ओर लकड़ी की पाटियों के बीच मे रखने की प्रथा इसमें भी थी। कागज चूंकि अब तक की उल्लिखित सामग्रियों मे सबसे कम टिकाऊ होता रहा है अत: इसकी पोथियाँ १३ वीं शताब्दि के पूर्व की नहीं प्राप्त होतीं।

मि वेबर को मध्य एशिया के यारकंद स्थान के पास 'कुशिगर' मे जमीन मे गड़े भारतीय गुप्त लिपि में लिखे चार ग्रथों की प्राप्ति हुई थी जो कदाचित् ५ वीं शताब्दी के होंगे। काशगर आदि के पास और भी संस्कृत आदि की पुस्तकें मिली हैं जो पर्याप्त प्राचीन प्रतीत होती हैं। भारत मे कागज की हस्तलिखित पुस्तकों के संग्रह प्रायः सभी स्थानों के हस्तलिखित पुस्तकों के संग्रहों में पर्याप्त मात्रा मे मिलते हैं।

( ४ ) कपड़ा—इसे पट भी कहते हैं। इस पर लिखते समय लेखनी आर पार हो जाती थी अत. लेई लगा कर और सुखा कर इन्हे भी घोंट कर चिकना किया जाता था। कपड़े पर लिखावट इस समय भी मिलती है। कुछ वैष्णव साधु अपने उत्तरीय पर 'रामनाम' आदि लिखाये रहते हैं। पर यह प्रक्रिया ठप्पों के द्वारा होती है। जैन मन्दिरों में कपड़ों पर रङ्गीन चावल से भिन्न भिन्न मण्डलों के बनाने की प्रथा रही है और इस प्रकार के रङ्गीन नक्शे यहाँ पर बने हुए जैन मन्दिरों और उपासना-गृहों में प्रायः मिल जाया करते हैं। ओझा जी ने उल्लेख किया है कि 'सर्वतो भद्र' और 'लिंगतो भद्र' आदि के नक्शे अब भी ब्राह्मणों के यहाँ पटों पर बनते हैं तथा राजपूताने के 'भडली' या 'गुरडे' लोग कपड़े के लम्बे-लम्बे पटों पर लिखे हुए पञ्चाङ्ग रखते हैं। दक्षिण में मैसूर आदि की तरफ व्यापारी लोग कपड़े पर इमली की गुठली

आदि लगा कर उसे हिसाब किताब की बही के रूप में प्रयुक्त करते हैं। उस पर कालिख लगाकर खड़िया से लिखते थे। इस प्रकार के पत्रों की पुस्तक का कदाचित् एक ही उदाहरण प्राप्त हुआ है। पाटण (अणहिलवाड़ा) के एक जैन पुस्तक भण्डार में सोमप्रभसूरि रचित 'धर्म विधि' नामक पुस्तक उदयसिंह की टीका सहित १३" लम्बे ५" चौड़े पटों पर लिखी हुई ९३ पन्नो की मिली है जो पेटरसन को प्राप्त हुई थी। इसके अतिरिक्त बूलर को जैसलमेर में सिल्क पर लिखी हुई जैन सूत्रों की एक सूची मिली है और खरोष्ठी तथा ब्राह्मी में लिखित कुछ और भी सिल्क के पट विभिन्न स्थानों पर प्राप्त हुए हैं। अलबेरूनी ने लिखा था कि मैंने सुना है रेशम पर लिखी हुई काबुल के शाहिया वंशी हिन्दू राजाओं की वंशावली नगरकोट के किले में विद्यमान है। मैं उसे देखने को बड़ा उत्सुक था पर कई कारणों से न देख सका।

**( ५ ) काष्ट-पट्टिका**—पत्थर की स्लेटों के प्रचार के पूर्व प्रारम्भिक कक्षा में विद्यार्थी काठ की पट्टियों पर अक्षर ज्ञान करते थे और यह प्रथा अब भी बहुत से देहाती स्कूलों में प्रचलित है। ज्योतिषी लोग कुण्डली लकड़ी की पटरियों पर बनाते हैं। जन्म कुण्डलियाँ तथा लग्न कुण्डलियाँ लकड़ी के पाटों पर गुलाब जल आदि छिड़क कर बनाई जाती हैं और फिर उन्हें कागज पर उतारा जाता है। विनय पिटक और जातकों में भी लकड़ी के पाटों का उल्लेख है।[१] डॉ कात्रे ने यह भी लिखा है कि वार्निस की हुई पटरियों पर लिखी हुई पोथियाँ बर्मा मे बहुत मिलती हैं और एक भारतीय पोथी जो आसाम में मिली थी आज कल बाडलियन पुस्तकालय आक्सफोर्ड के संरक्षण में है।

**( ६ ) चमड़ा**—योरप तथा अरब आदि में लेखन-सामग्री के अभाव में चमड़े का प्रयोग इस दृष्टि से बहुतायत से होता था किन्तु भारत में सामग्री की प्रचुरता तथा अति प्राचीन काल से धार्मिक दृष्टिकोण से इसका प्रायः कम ही उपयोग हुआ है। पर इनका उपयोग हुआ था अवश्य क्योंकि बौद्ध ग्रंथों में चमड़ा लेखन सामग्री मे गिनाया गया है। साथ ही सुबन्धु ने अपनी वासवदत्ता में आकाश के अंधेरे में तारों की उपमा स्याही से रङ्गे हुए चमड़े पर चन्द्रमा रूपी खड़िया से बनाई गई बिन्दियो से दिया है।

इस दृष्टि से प्राप्त हस्तलिखित चर्मपत्र भारत में प्राय नहीं मिले हैं। श्री बूलर को जैसलमेर के वृहद ज्ञान कोष में पुस्तकों के साथ एक अलिखित चर्मपत्र मिला जिससे अनुमान होता है कि सम्भव है उस पर कुछ लिखा रहा हो जो मिट गया हो।

---

[१] Introduction to Indian textual criticism

डॉ कात्रे ने उल्लेख किया है कि चीनी तुर्किस्तान में सर ओरल ने दो दजन खरोष्ठी लेख ढूँढ निकाले हैं जो चमड़े पर लिखे हुए हैं।

(७) **पत्थर**—अब तक जितनी लेखन सामग्रियों का उल्लेख किया गया है वे सभी अस्थायी होती हैं। अत किसी चिरस्मरणीय महत्वपूर्ण घटना को प्रस्तर शिलाओं पर उत्कीर्ण कराने का कार्य अत्यन्त प्राचीन काल से होता चला आ रहा है। इस प्रकार की लिखावट में कोई अत्यन्त महत्व की घटना लिखी जाती रही है। इन्हें 'शिलालेख' कहते हैं। पत्थर को लेखन-सामग्री के रूप में प्रयोग करने का उदाहरण हमें अनेक चट्टानों पर खुदे लेख, स्तम्भ-मूर्ति, मूर्ति-आसन, प्रस्तर-पत्रो आदि पर लिखे हुये लेखों में प्राप्त होते हैं।

पत्थर पर लिखने की विधि अत्यन्त श्रम साध्य थी। इस प्रयोजन के हेतु पहले पत्थर को छनी और टाकी से खूब तराशा जाता था। इसके उपरान्त एक सुलेखक स्याही से एक एक पक्ति लिखता चलता और कारीगर एक एक शब्द को खोदता चलता था। इस प्रकार के लेखों के प्रारभ और अत में बहुधा कोई मगल सूचक साकेतिक शब्द रहता था, जैसे, 'ओ ऽ म्', 'स्वस्ति', 'हरि ओ ऽ म्', 'स्वस्ति श्री' आदि अथवा स्वस्तिका, त्रिशूल, पुष्प या ॐ का चिह्न रहता था तथा किसी देवता के प्रति नमस्कार सूचक शब्दों का प्रयोग होता था जैसे नम शिवाय। विराम चिह्नों के लिए इनमें एक अथवा दो खड़ी रेखाओं का प्रयोग होता था। अन्त मे उसमें रचयिता, सबधित व्यक्तियों, समय, स्थान, लेखक तथा खोदने वाले का नाम दिया रहता था। मन्दिरों आदि की दीवारों पर छोटे छोटे लेख प्राकृत, सस्कृत, कन्नड, तमिल, तेलगू आदि प्राचीन भाषाओं मे प्रभूत मात्रा मे मिलते हैं। पुस्तकों को चिरस्थायी बनाने के लिये कभी-कभी शिलाओं पर उत्कीर्ण करा दिया जाता था। मेवाड़ में जैन मन्दिर के प्राप्त एक चट्टान पर 'उन्नत शिखर पुराण' नामक दिगम्बर जैन पुस्तक वि सं १२२६ में खुदवाई गई थी जो अब भी वर्तमान है। चौहान राजा विग्रह राज के 'हरिकेल' नाटक की उत्कीर्ण दो शिलाएँ तथा सोमेश्वर विरचित 'ललित विग्रह' नाटक के दो शिलाखड तथा चौहानों के किसी ऐतिहासिक काव्य की पहली शिला इस समय भी अजमेर के राजपूताना म्युजियम में हैं। अकीक, स्फटिक आदि बहुमूल्य पत्थरों पर भी उत्कीर्ण छोटे छोटे लेख प्राप्त हुये हैं। सबसे प्राचीन प्राप्त शिलालेखों में एक अजमेर जिले के बड़ली (बर्ली) नामक ग्राम में और दूसरा नैपाल की तराई में पिप्रावा नामक स्थान मे मिले हैं। डॉ बूलर तथा म म ओझा जी के अनुसार ये अशोक के पूर्व के हैं।[1] इसके बाद के तो अशोक के समय के बहुत से शिलालेख उपलब्ध होते हैं।

---

[1] प्राचीन भारतीय लिपि माला, पृ २, ३।

(८) ईंट—ईंटों का प्रयोग भी अत्यन्त प्राचीन काल से लेखन सामग्री के रूप में मिलता है। मिट्टी की ईंटों पर लेख उत्कीर्ण करके उसे सुखाते थे और इसके बाद उसे आवें में पकाते थे। बौद्धकाल में इस प्रकार की ईंटों का प्रयोग बहुतायत से होता था। बौद्ध अपने धर्म सम्बन्धी सूत्रों के प्रचार-हेतु पत्थर की ही भाँति ईंटों का भी प्रयोग करते थे। कभी कभी लेख का क्रम एक से अधिक ईंटों पर चला जाता था। वे ईंटें दीवाल में इस भाँति लगाई जाती थीं कि अभिप्रेत लेख पूर्णतया पढ़ा जा सके। मथुरा म्युजियम में कई बड़े बड़े ईंटों के टुकड़े रखें हैं जिन पर एक एक पंक्ति खुदी हुई है। कदाचित् ये ईंटें दीवाल में लगाने के हेतु ही तैयार की गई रही होंगी। गोरखपुर के गोपाल गाँव से ३ अखडित ईंटें और कुछ टुकड़े मिले हैं जिन पर दोनों ओर बौद्ध सूत्र खुदे हैं। आजमगढ में राहुल साकृत्यायन को अपनी सन् १६५७ की पुरातात्विक यात्रा में गुप्तकाल तथा समकालीन बहुत सी ईंटें प्राप्त हुई थीं जो यहाँ के स्थानीय हरिऔध-कला-भवन में सग्रहीत हैं।

ईंटों के अतिरिक्त कभी कभी मिट्टी के बर्तनों पर तथा ढेलों पर भी लेख खुदाये जाते थे या मुद्रायें लगाई जाती थीं। पुरुषों की मुद्राओं के अतिरिक्त कितने ही ढेलों पर बौद्धों के धर्म मन्त्र 'ये धर्म हेतु प्रभवा' की मुद्रायें लगी हुई मिलती हैं। मिट्टी की छोटी छोटी टिकियाँ, जिन पर मुद्रायें लगी हुई हैं, बहुत अधिक सख्या में प्रयाग के सग्रहालय में सुरक्षित रखी हुई हैं।

(९) सोना—अत्यन्त मूल्यवान होने के कारण सामान्य रूप से सोने का प्रयोग लेखन सामग्री के रूप में होना असम्भव था। किन्तु राजकीय विषय सम्बन्धी लेखों का उन पर खुदना पुराने समय में सामान्य था। बौद्धों की जातक कथाओं में कुटुम्ब सम्बन्धी आवश्यक विषयों, राजकीय आदेशों तथा धम-नियमों के स्वर्ण पत्रों पर खुदने का उल्लेख मिलता है। तक्षशिला के गगू नामक स्तूप से खरोष्ठी लिपि में एक सुवर्ण-पत्र जनरल कनिंघम को प्राप्त हुआ था। बर्मा के प्रोम जिले के ह्मंज्वा ग्राम के पास दो सोने के पत्र खुदे हुये मिले हैं। उनमें से प्रत्येक के आरभ में 'ये धर्म हेतु प्रभवा' श्लोक और उसके पीछे पाली भाषा का गद्य है।

(१०) चांदी—सुवर्ण की ही भाँति चाँदी के पत्रों पर भी कभी कभी लेख खुदाये जाते थे किन्तु यह लेखन-सामग्री के रूप में सोने से कम प्रचलित थी। ऐसा एक पत्र भट्टि पोलू के स्तूप से तथा दूसरा तक्षशिला से मिला है। जैन मन्दिरों में चाँदी के गट्ठे और यन्त्र मिलते हैं।

(११) ताबा—लेखन सामग्री के रूप मे प्रचलित धातुओं में ताँबा सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान रखता है। राजाओं तथा सामन्तों के द्वारा मन्दिर, मठ, ब्राह्मण, साधु आदि को दिये हुए दान के प्रमाण पत्र ताँबे पर खुदवा कर दिये जाते थे।

जिन्हें दान पत्र, ताम्र पत्र, ताम्र शासन या शासन पत्र कहते हैं। इनकी रचना राजा के मन्त्री आदि स्वयं करते थे। पुन: सुलेखक उसे ताम्र पत्रों पर स्याही से लिखते थे और तब सुनार या ठठेरा उन लिखे हुए अक्षरों को उत्कीर्ण करता था। किन्हीं किन्हीं दान पत्रों पर अक्षर इतने पतले हैं कि वे स्याही से लिखे गए होंगे, यह असम्भव प्रतीत होता है। उत्तर में दान पत्र प्रायः एक या दो पत्रों के मिलते हैं परन्तु दक्षिण में वे कई कई पत्रों के भी मिलते हैं। जिनमें एक कोने पर छेद करके तांबे की कड़ी डाल देते थे। कड़ी के जोड़ पर राज मुहर लगाई जाती थी। एक पत्रे के खुदे हुए दान पत्र पर साधारणतया बाईं ओर राज मुद्रा जुड़ी हुई मिलती है जो अलग अलग ढालकर बनाई जाती थी। कितने ही दान पत्रों के अंत में राजाओं के हस्ताक्षर खुदे हुए मिलते हैं। कभी कभी तांबे के पत्रों पर लिखी हुई पुस्तकें भी मिलती हैं। मद्रास के त्रिपती नामक स्थान में तांबे के पत्रों पर खुदी हुई तेलगू पुस्तकें मिली हैं। अन्य उदाहरणों के अतिरिक्त मेक्समूलर के अनुसार कदाचित् सायण के वेद भाष्य भी तांबे के पत्रों पर खुदवाये गये थे।

( १२ ) **पीतल**—जैन मन्दिरों में पीतल की बनी हुई मूर्तियां मिली हैं जिनके आसनों तथा पीठ पर लेख खुदे हुए मिले हैं। ऐसी खुदी हुई एक हजार से अधिक मूर्तियां ओझा जी को देखने को मिलीं जिन पर ७ वीं से १६ वीं शताब्दि तक के लेख हैं। इनके अतिरिक्त मन्दिरों में पीतल के गोल गट्टे भी मिले हैं जिन पर 'नमोकार' मंत्र या यंत्र खुदे मिले हैं।

( १३ ) **कांसा और लोहा**—कई मन्दिरों में कांसा के घन्टों पर इनके भेंट करने वालों का नाम खुदा हुआ मिला है। दिल्ली के ( मिहरौली ) के कुतुबमीनार के पास लौहस्तम्भ पर राजाचन्द्र का लेख खुदा है जो पाँचवीं शताब्दि का है। आबू के अचलेश्वर के मन्दिर में खड़े हुए लोहे के विशाल त्रिशूल पर सं १४६८ का खुदा हुआ लेख है। इसके अतिरिक्त चित्तौड़ आदि कई स्थानों में लोहे की तोपों पर लेख खुदे हुये प्राप्त हुए हैं।

इस प्रकार आधार के रूप में प्रयोग में आने वाली उन सभी सामग्रियों का ज्ञान हमें हो जाता है जिनका प्रयोग थोड़ा या अधिक रूप से हुआ। इन सामग्रियों में प्राचीन समय में ताड़पत्र आदि का तथा आधुनिक समय में कागज का विशेष महत्व रहा है। लेखन-सामग्री के प्रयोग ने विभिन्न कालों की लिपि के विशेष रूप को स्थिर करने में सहायता पहुँचाई है। त्रिकोण लिपि के विकास का कारण लौह शलाकाओं द्वारा पत्रों पर लिखना था क्योंकि उन पर त्रिकोण के रूप ही लिखना सुविधाजनक रहा होगा। पुनः धीरे-धीरे कागज के बहु-प्रचलन द्वारा गोल आकृति वाले

वर्णों को रूप मिला होगा। लेखन की आधार सामग्री के ऊपर विचार कर लेने के उपरान्त उसकी साधन सामग्री पर भी संक्षेप मे विचार कर लेना चाहिये।

## साधन-सामग्री

(अ) **लेखनी**—प्राचीन समय से ही लकड़ी की गोल मुँह की तीखी कलम लकड़ी के पाटों पर लिखने के काम आती रही है। स्याही से लिखने के काम में बांस या नरकट की कलमें काम में आती रही हैं। अजंता की गुफा में रङ्गों से लिखे गये लेख महीन बालों की वर्तिका से लिखे गये होंगे। दक्षिण शैली के ताड़-पत्रों पर अक्षर उत्कीर्ण करने के लिए तीक्ष्ण मुँह की लौह शलाकाओं का प्रयोग किया जाता रहा है। पत्रों पर लिखने के लिए परकारों का भी प्रयोग होता रहा होगा। आज भी ज्योतिषी वर्ष फल निकालने या कुण्डलियाँ बनाने मे इस प्रकार के सामानों को प्रयोग में लाते हैं। प्राचीन हस्तलिखित पुस्तकों के अन्त में बने हुए कमल, जो कभी-कभी मिलते हैं, इतने बारीक हैं कि अनुमानतः वे इसी प्रकार के परकारों से बने होंगे।

( ब ) **रेखा पट्टी**—पुस्तकों के पत्रों पर लकीर खींचने के लिए रेखा पट्टी का प्रयोग होता रहा है। यह लकड़ी में डोरे लगा कर बनाई जाती थी।

( स ) **रूल**—लकड़ी के सुडौल रूलों से भी रेखा खींचने का कार्य लिया जाता रहा है। किन्तु इन सामग्रियों का पाठालोचन की दृष्टि से बहुत महत्व नहीं है।

( द ) **स्याही** - पुराने समय मे प्रायः तीन प्रकार की स्याही प्रयोग में आती थी :

( १ ) **काली स्याही**—काली स्याही भी दो प्रकार की होती थी। एक पक्की और दूसरी कच्ची। इन स्याहियों के निर्माण की विशिष्ट विधियाँ भी प्रचलित थीं। भोजपत्र पर लिखने की तथा कागज पर लिखने की स्याहियाँ भिन्न-भिन्न ढङ्ग से तैयार की जाती थीं। काली स्याही से लिखे हुये सब से पुराने अक्षर ई पू तीसरी शताब्दि के मिले हैं।

( २ ) **रङ्गीन स्याही**—रङ्गीन स्याहियों में प्रमुख स्थान लाल स्याही का है। यह या तो अलता की या हिंगलू की बनती थी। इसका प्रयोग साधारणतया वेदादि में स्वराघात संकेतों के लिये या हासिए की पंक्ति-सूचना के लिये तथा कभी कभी अन्त में भगवद् सम्बन्धी शब्दों के अंकित करने में होता था।

इसके अतिरिक्त सूखे हरे रङ्ग से हरी, हरताल से पीली, और जगाल से जगाली स्याहियाँ भी बनाई तथा तथा प्रयोग मे लाई जाती थीं।

( ३ ) सोने और चाँदी की स्याही—सुनहली या रुपहली स्याहियों का प्रयोग बहुधा चित्रकार लोग ही करते थे। पर कभी कभी श्रेष्ठ जन भी इनको विशिष्ट प्रयोजनों से प्रयोग में लाते थे।

ऊपर जिन लेखन सामग्रियों का उल्लेख हुआ है इनका ज्ञान और ऐतिहासिक ज्ञान पाठालोचक को अनिवार्यतः होना चाहिये। यदि वह इन लेखन-सामग्रियों में से किसी पर या किसी की सहायता से तैयार की गई किसी प्रति की परीक्षा करने बैठता है तो उसे हठात् यह जानना अनिवार्य होता है कि ये सामग्रियाँ किस काल में प्रयोग होती थीं और उनमें भी यह विशिष्ट सामग्री किस निश्चित काल-अवधि में पड़ती है। इस प्रकार इनके सम्यक् ज्ञान से पाठालोचन के कार्य में पर्याप्त सुविधा मिल जाती है।

———

# ३

# लिपि का इतिहास

मानव जीवन की उत्पत्ति और उसके विकास की कहानी अत्यन्त तिमिराच्छन्न है। फिर भी उसे अपने ज्ञान-ज्योति के सहारे जानने का प्रयास किया जाता है। ज्ञात का अध्ययन सदैव अज्ञात की ओर इङ्गित करता रहता है और इसी प्रकार मानव के अतीत का विकास-क्रम प्रकाशमें आता है। विचार करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन काल से आज तक विश्व के अन्यान्य भागों में अनेक भाषाओं ने जन्म लिया होगा और काल की कठोरता से आज उनमें से बहुतों के पद-चिह्न भी शेष नहीं हैं। भाषाओं की ही भाँति अनेक लेखन-विधाओं की भी स्थिति रही होगी। इतना स्पष्ट है कि भाषा के उपरान्त ही लेखन विधा अथवा लिपि को जन्म मिला होगा। मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन में भी यह बात देखी जा सकती है। वह शैशवावस्था से ही अपने अस्पष्ट उच्चारणों एव सकेतों द्वारा बात करना प्रारम्भ कर देता है और सामाजिक वातावरण में ही उसे भाषा के व्यावहारिक प्रयोग का ज्ञान हो जाता है। इसके उपरान्त वह यदि लिपि ज्ञान के लिए पर्याप्त अध्यवसाय करता है, तभी उसे सीख पाता है, अन्यथा जीवन भर अक्षर-ज्ञान-शून्य ही रह जाता है। भाषा के बाद लिपि का प्रचलन हुआ, पर लिपि के प्रयोग का इतिहास भी अत्यन्त प्राचीन है। लिपि ने भाषा को अमरता प्रदान किया है। यही पर्वतों और समुद्रों की सीमा को लाँघकर हमारा सन्देह वाहन करती है तथा मानव- उद्भूत ज्ञान राशि को सदियों तक सुरक्षित रखती है:

लिपि के महत्व को स्वीकार करते हुए डेविड डेरिंजर ने लिखा है।

'यदि सस्कृति मानव बुद्धि का परिवहनीय रूप है तथा लेखन ही सदेश वाहन का वह सर्वोत्तम ढङ्ग है जो देश एव काल की सीमाओं का अतिक्रमण कर सकता है, तो

इस कथन में अत्युक्ति न होगी कि मानव सभ्यता को लिखने तथा पढ़ने का एक मात्र साधन लेखन कला है।[1]

## लेखन कला की पृष्ठ-भूमि

प्रारम्भ से आज तक मनुष्य अपने विचारों की अभिव्यक्ति के लिए कितनी ही मूर्तियों, चित्रों एवं सकेतों को प्रयोग मे लाया। उनमें से बहुत से तो अभी परम्परा में बचे हुए हैं, कितनों के भग्नावशेष ही रह गए हैं तथा कितने घिसकर समाप्त हो गए। लेखन कला के विकास की पृष्ठभूमि मे मिलने वाले रूपों को इस प्रकार प्रकट किया जा सकता है :

### (१) प्रस्तर चित्र (Rock Pictures)

डेविड डिरिंजर ने पूर्व प्रस्तर युग के प्रस्तर शिलाओं पर अंकित चित्रों तथा मध्य प्रस्तर युग के चित्रित उन प्रस्तर-खडों का एक चित्र समूह प्रस्तुत किया है।[2] जो उनके अनुसार २०००० से १ ००० तक ई पू का है। मानवता के विकास के प्रारम्भिक चरण मे पाए जाने वाले इन चित्रों की तुलना बालकों द्वारा बनाए जाने वाले निरर्थक चित्रो से की जा सकती है। निश्चय ही ये चित्र मानव विचारों को व्यक्त करने के प्रथम साधन थे। फ्रास के प्रसिद्ध विद्वान मोरिस डुनाएड के शब्दो में ये चित्र स्थूल अभिव्यक्तियो के द्योतक हैं। अत इनके द्वारा कोई क्रम-बद्ध विचार शृङ्खला नहीं प्रकट की जा सकती है। इनमे विभिन्न वस्तुओं का बोध मात्रो कराया गया।

### (२) स्मृति-चिह्न (Memory Images)

किसी बात को स्मरण रखने के लिए रूमाल मे गाँठ देने की प्रथा आजकल भी देखी जाती है। यह गाँठ देने की प्रथा पेरिस की कुइपु-प्रथा में भी देखी जाती है जिसमें दो फीट के करीब लम्बी रस्सी में विभिन्न रगों, लम्बाई तथा मोटाई के कई सूत्र लटकते रहते थे। सामान्यत. इनका उपयोग किसी वस्तु की गिनती याद रखने के लिये किया जाता था परन्तु कभी कभी इनसे ऐतिहासिक घटनाओं आदि का भी सकेत किया

---

[1] As culture is, as many scholars think, 'a communicable intelligence' and if writing is, as it is, one of the most important means of communication—the only one indeed which can defy time and space—it is not an exaggeration to say that writing is man's currency of reading and writing man's civilization —Alphabet

[2] वही, पृ २२।

छिड़क कर भेजा जाता है, ये बातें केवल उस प्राचीन प्रतीक संकेतों के अवशेष के रूप में विद्यमान हैं।

ऊपर की जिन स्थितियों का अब तक उल्लेख किया गया इनमें से किसी को लिपि के अन्तर्गत नहीं समाहित किया जा सकता है प्रत्युत इनके द्वारा केवल इतना ही पता चलता है कि इन स्थूल चित्रों, स्मृति चिह्नों तथा संदेश प्रतीकों ने मिलकर हमारे लिपि के विकास की एक पृष्ठभूमि उपस्थित किया जिस पर चलकर और जिसकी सहायता से लिपि आगे विकसित हो सका।

## लिपि के विकास की अवस्थायें

साधारणतः लिपि के विकास की निम्नलिखित अवस्थाएँ हैं :

( १ ) चित्रलिपि—ऊपर अत्यन्त आदि कालीन मानव के बनाये हुये चित्रों का उल्लेख हो चुका है। उन चित्रों के द्वारा मानव केवल किसी वस्तु के स्थूल आकार मात्र का परिचय देता था। परन्तु उसी से विकसित होकर चित्र लिपि (Pictography) आई जिसके द्वारा वह अपने विचारों का अर्थ बोध भी कराने लगा। लेखा के द्वारा विचारों का अर्थबोध कराने की दृष्टि से यह प्रथम रूप है, जिसे मनुष्य ने आविष्कृत किया। इसके भावों को स्थूल रूप दिया जा सकता था। चीनी लिपि में चित्र-लिपि के बहुत से उदाहरण प्राप्त होते हैं। आख्यान इत्यादि भी इसी ढग से अंकित किये और समझे जा सकते थे परन्तु इस लिपि के द्वारा ध्वनि का व्यक्तिकरण नहीं सम्भव था। यही कारण है कि इसे डिरिंजर ने 'संकेतात्मक' कहना पसन्द किया और 'ध्वन्यात्मक' नहीं।

इस प्रकार के चित्र लिपि के संकेत मिश्र और चीन की लिपियों में प्रभूत मात्रा में पाये जाते हैं। चित्र लिपि के उदाहरण के रूप में डिरिंजर ने आधुनिक काल के विज्ञापनों के चित्रों को लिया है। वास्तव में इन विज्ञापनों ने पुनः प्राथमिक अवस्था की लिपि का सहारा लेना प्रारम्भ कर दिया है। इस प्रकार के अवशेष प्राकृतिक नक्शों, पटवारी के कागजों और रेलवे क्रासिंग के चिह्न हैं।

(२) भाव संकेत-लिपि (Ideographic Writing)

यह चित्रलिपि की अत्यन्त विकसित अवस्था है। इसमें चित्रों का प्रयोग भाव संकेतों के रूपों में किया जाता है। जैसे सूर्य के चित्र के लिये एक वृत्त पर्याप्त है। आदमी के चित्र के लिये एक रेखा धड़ के लिये, दो रेखायें टाग की और ऊपर एक वृत्त सिर के लिये पर्याप्त है। इतना ही नहीं की इसके अन्तर्गत ऐसे चित्र घिसकर संकेत के रूप में हो गये थे प्रत्युत इसमें एक चित्र के द्वारा इसके स्थूल संकेत के अतिरिक्त भाव के संकेत

भी दूर तक किये जाने लगे। दो स्त्रियों के चित्र से झगड़े का भाव, पर्वत और आदमी के चित्र से सन्यास आदि के भाव व्यक्त किये जाने लगे। इसी प्रकार उसके अन्तर्गत किसी विशेष पशु के संकेत के लिये यह आवश्यक नहीं रह गया कि उसका पूरा चित्र बनाया जाय प्रत्युत उसके किसी भी विशिष्ट अंग का संकेत बनाया जा सकता था जो अन्य पशुओं से उसे अलग कर सके तथा जाने के भाव का संकेत पैर के चित्र मात्र से किया जा सकता था।

कुछ चित्र-संकेत प्रायः सभी भाषाओं में एक से ही हैं। इस लिपि की एक विशेष सुविधा यह होती है कि इसी आधार पर विश्व की लिपियाँ बनी होती तो कठिनाइयाँ तो बहुत होतीं परन्तु एक सुविधा अवश्य होती कि विश्व भर की लिपियों में साम्य होता और थोड़े प्रयास से कोई भी किसी लिपि को समझ सकता। कैलिफोर्निया के प्रस्तर चित्रों में दुख के लिये एक आँख और उससे गिरते हुये आँसू के संकेत पर्याप्त थे परन्तु ये संकेत पर्याप्त विकसित मिश्री और चीनी लिपियों में भी प्राप्त हैं। ये सामान्य संकेत एक पूर्ण लिपि क्रम नहीं निर्धारित कर पाते। इनके अवशेष अब भी गणित के संकेतों आदि में पाये जाते हैं।

**(३) मध्यवर्ती लिपि (Transitional Script)**

प्राचीन मेसोपोटामियाँ, मिश्र, क्रीट आदि कुछ लिपियाँ ऐसी हैं जिनको सामान्यतया भाव संकेत लिपि (Ideography) कहा जा सकता है परन्तु यह उचित नहीं है। यद्यपि इनमें से कुछ की उत्पत्ति उपर्युक्त से हुई है परन्तु उसके प्राचीन रूपों में भी संकेत चिह्नों के साथ ही साथ ध्वनि चिह्न भी पाये जाते हैं जो विभिन्न प्रकार से सम्बन्धित हैं। इस प्रकार की लिपि हजारों वर्ष तक चलती रही। अतः डाक्टर स्मिथ का मत है कि इतने दिनों तक चलने वाली लिपि को केवल मध्यवर्ती लिपि कहकर नहीं छोड़ना चाहिये। उचित नाम के अभाव में उसे मध्यवर्ती लिपि कहा गया है।

**(४) ध्वनि लिपि—(Phonetic Writing)**

चित्रलिपि और भावलिपि में अनेक कठिनाइयाँ थीं। यथा इनके द्वारा किसी वस्तु को इसके चित्र द्वारा प्रकट करना पड़ता था जिसमें समय भी अधिक लगता और कोई आवश्यक नहीं कि बनाने वाला इतना कुशल चित्रकार हो कि अपने चित्र द्वारा निश्चित वस्तु का बोध करा ही सके। साथ ही उसमें जितनी वस्तुओं का अर्थ बोध कराना होता है उतने चिह्न बनाने पड़ते जो असम्भव या दुसाध्य थे। भावलिपि में ये कठिनाइयाँ कुछ कम हुई थीं किन्तु फिर भी वर्तमान थीं। ऐसी स्थिति में एक ऐसी लिपि की आवश्यकता थी जो मानव मुख से उच्चरित होने वाली ध्वनियों के अंकन की विधि को प्रचारित करें और उन सीमित ध्वनि चिह्नों का निर्माण विभिन्न देशों में

हुआ और अब लिपि उच्चरित के लिखित रूप में प्रकट हुई। अब लिपि भाषा की प्रतीक बन गई और भाषा का उससे आश्रय आश्रित सम्बन्ध हो गया। आज के कार्य बहुल एवं वैज्ञानिक युग में ध्वन्यात्मक लिपि के द्वारा हमारे कार्य कितने सरल हो गये हैं इसकी कल्पना एक क्षण इस प्रकार की जा सकती है। हम कल्पना करलें यदि यह लिपि न होती तो हमारे कार्य कैसे चलते। जो कुछ भी हो लिपि के विकास की सीमा ध्वन्यात्मक लिपि ही है। जो आज के विभिन्न देशों में फैली हुई है। अब इस लिपि के प्रायः दो रूप हैं :

(अ) अक्षरात्मक ( Syllabic )

(आ) वर्णात्मक ( Alphabetic )

**(अ) अक्षरात्मक लिपि**—इस लिपि के द्वारा एक व्यंजन के साथ एक स्वर भी अन्तर्निहित रूप में लिखा जाता है जैसे क ( क्+अ )। उच्चरित रूप को लिपिबद्ध करने की दृष्टि से यह अत्यन्त वैज्ञानिक है क्योंकि व्यंजन का उच्चारण बिना स्वर की सहायता के प्रायः दुरूह होता है। फिर भी इसमें हम एक ध्वनि मात्र के उच्चारण के स्थान पर एक ध्वनि समूह का उच्चारण करते हैं अतः इसे अक्षरात्मक संज्ञा की लिपि दी गई है। इसके द्वारा वर्ण विश्लेषण में थोड़ी कठिनाई पड़ती है। नागरी लिपि पूर्णतया अक्षरात्मक न होकर अर्द्ध-अक्षरात्मक लिपि है। इसमें वर्ण विश्लेषण हो जाता है पर उतनी स्पष्टता से नहीं जितना वर्णनात्मक लिपियों के लिखने के साथ ही होता चलता है, यथा केशव (क्+ए+श्+अ+व्+अ)। अरबी, फारसी, बंगला गुजराती, तमिल लिपियाँ इस कोटि की लिपियाँ हैं।

**(आ) वर्णात्मक लिपि**—कहा जा सकता है कि वर्णात्मक लिपि अक्षरात्मक लिपि की ही विकसित अवस्था है। इसमें अक्षरात्मक के प्रतिकूल प्रत्येक ध्वनि के लिये पृथक लिपि चिह्न होते हैं। वर्णात्मक लिपि मेरी दृष्टि में उतनी वैज्ञानिक नहीं है जितनी सुविधाजनक। इसमें यदि 'क' लिखना होगा तो हम स्पष्ट रूप से क्+अ=क लिखेंगे, पर 'अ' का उच्चारण 'क्' के बाद उतनी स्पष्टता से नहीं होता जितनी स्पष्टता से लिखा जाता है। वह उसी प्रकार 'क' ध्वनि में अन्तर्निहित होता है जैसे हमारी लिपि चिह्न 'क' व्यक्ति करता है। परन्तु वर्णात्मक लिपि के आविष्कार से सीखने, ध्वनि विश्लेषण, मुद्रण आदि की अनेक सुविधायें प्राप्त हुई हैं। योरोप की रोमन लिपि वर्णनात्मक लिपि का उदाहरण है।

## भारतीय लिपियाँ

**सिन्धु घाटी की लिपि**—भारत में पंजाब के माँटगोमरी जिले के हड़प्पा

और सिन्धु के लरकाना जिले के मोहन जोदड़ो की खुदाई में प्राप्त सीलों पर खुदे हुये लेखों से भारत के प्राचीन लिपिज्ञान का सद्यः आभास मिल जाता है। हिरास, लैण्डन, स्मिथ गैड तथा हण्टर आदि विद्वानों ने इन्हें पढ़ने और समझने का प्रयास किया किन्तु किसी को अभी पूरी सफलता नहीं प्राप्त हुई है।

## उत्पत्ति सम्बंधी विचार

**(१) द्रविड उत्पत्ति**—एच हेरास तथा जान मार्शल के अनुसार सिन्धु घाटी की सभ्यता द्रविणों की है और ये ही इसके जनक हैं। हेरास ने मोहन जोदड़ो के लेखों को बाएँ से दाहिने की ओर पढ़ा तथा तमिल में उसका रूपान्तर किया। इसमें सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि ४००० वर्ष पूर्व तमिल का क्या स्वरूप रहा होगा इसकी कल्पना नहीं की जा सकती।

**(२) सुमेरीय उत्पत्ति**—वैडेल तथा प्राणनाथ इसे सुमेरीय लिपि से निकला हुआ मानते हैं। वैडेल के अनुसार सिन्धु घाटी में ४००० ई पूर्व सुमेरीय लोग थे तथा उन्हीं की भाषा और लिपि वहाँ प्रचलित थी जैसा डॉ राजबली पाण्डेय ने लिखा है। प्राचीन भारतीय मध्यएशिया क्रीट तथा इजिप्ट की पुरानी लिपियाँ चित्रलिपि थी और व्यापारिक सम्बन्धों के कारण उनमें साम्य भी है। पर आज इतने दिन बाद यह कहना कठिन है कि इनके मूल निर्माता कौन हैं।

**(३) आर्य या असुर उत्पत्ति**—कुछ लोगों के अनुसार सिन्धु घाटी में इस समय आर्य या असुर रहते थे। इन्हीं लोगों ने इस लिपि का निर्माण किया। प्राचीन एलमाइट सुमेरी तथा मिश्री लिपियों से इसका साम्य का कारण यह है कि वह लिपि यहीं से अन्य स्थानों में प्रचारित हुई।

प्राप्त चिह्नों की संख्या के सम्बन्ध में मतभेद है। कारण यह है कि कुछ विद्वान एकाधिक चिह्नों को एक ही और अन्य उसे कई मानते हैं। हण्टर के अनुसार २५३ लेन्डन के अनुसार २२८ तथा स्मिथ के अनुसार ये ३९६ हैं। यह लिपि चित्रात्मक लिपि से उद्भूत अवश्य है किन्तु इन चिह्नों को देखकर इन्हे भावात्मक लिपि ही कहा जा सकता है जो चित्रलिपि की विकसित अवस्था है किन्तु कुछ चिह्न अक्षरों के आकार के भी मिलते हैं तथा साथ ही यदि यह शुद्ध भावात्मक लिपि होती तो इतने कम लिपि-चिह्नों से काम नहीं चलता अत. अनुमानत. इसे भावध्वनिलिपि (Transitional Script) कहा जा सकता है।

## प्राचीन लिपियाँ

महत्त्वपूर्ण प्राचीन लिपियों में ब्राह्मी और खरोष्ठी प्रमुख हैं यद्यपि जैनों के पन्नवण सूत्र में १८ और बौद्धों के ललित विस्तर नामक ग्रंथ में ६४ लिपियों का उल्लेख है जिनमें से ऊपर के दो ही का उल्लेख आज मिलता है।

खरोष्ठी—इसके प्राचीनतम लेख शहबाजगढ़ी तथा मनसेरा के शिलालेखों के रूप में प्राप्त हैं। उसकी प्राप्त सामग्री लगभग चौथी सदी ई पू तक की है। इसके अतिरिक्त १४५ ई पू तथा १०० ई पू के सिक्कों पर इसके लेख मिले हैं। इसके पश्चात् सर आरेल स्टाइन के प्रयत्नों से 'निय' तथा चीनी तुरकिस्तान में खरोष्ठी लिखित सामग्री प्रभूत मात्रा में मिली है। इसके इण्डोबैक्ट्रियन, काबुलियन, बैक्ट्रोपमर्ल आदि कई नाम दिये गये हैं।

## नाम पड़ने का कारण

(१) चीनी विश्वकोष फा-वान शु लिन के अनुसार किसी खरोष्ठ नाम के व्यक्ति ने इसे बनाया।

(२) यह लिपि खरोष्ठ नामक सीमाप्रान्त में बसने वाले लोगों में प्रचलित थी।

(३) इस लिपि का केन्द्र कभी मध्य एशिया का एक प्रान्त का नगर था और खरोष्ठ 'काशगर' का संस्कृत रूप है।

(४) डाक्टर प्रजिलुस्की के अनुसार गदहे के खाल पर लिखे जाने के कारण यह खरपष्टी और फिर खरोष्ट्री कहलाई।

(५) कोई आरमेयिक शब्द खरोष्ठ था और उसकी भ्रामक व्युत्पत्ति के आधार पर खरोष्ठ बना।

(६) डॉ राजबली पाण्डेय के अनुसार गदहे के होठ के समान इसके अस्थिर रूप के कारण इसे खरोष्ठी कहा गया।

(७) डॉ चटर्जी के अनुसार हेब्रू भ खरोशेथ का अर्थ लिखावटी है जिसका संस्कृत रूप खरोष्ट्र बना और उसी से खरोष्ठी।

## ब्राह्मी लिपि तथा नागरी विकास

सिन्धु घाटी की प्राप्त लिपि भारत की प्राचीनतम लिपि है। उसके उपरान्त प्राचीनता की दृष्टि से ब्राह्मी और खरोष्ठी आती हैं। खरोष्ठी के सम्बन्ध में तो अधिकांश भारतीय तथा यूरोपीय विद्वान एकमत से स्वीकार करते हैं कि यह बाहर से भारत में आयी किन्तु ब्राह्मी के सम्बन्ध में बड़ा मतभेद है कि इसकी उत्पत्ति कहाँ से हुई। कनिंघम, ओझा आदि विद्वान इसे भारतीय उत्पत्ति की तथा बूलर, प्रिंसेप, सेनार्ट तथा डेविड डिरिंजर आदि इसे विदेशी उद्गम से भारत में आयी हुई मानते हैं।

सिंधुघाटी की प्राप्त लिपियों से अभी तक इसका सम्बन्ध नहीं जोड़ा जा सका है जिस समय यह कार्य हो जायगा ब्राह्मी के भारतीय उद्‌गम के सम्बन्ध में कोई मतभेद नहीं रहेगा।

ब्राह्मी की उत्पत्ति कहीं से भी हुई हो किन्तु यह तो निर्विवाद है कि समस्त भारतीय लिपियों की जननी ब्राह्मी ही है। लगभग ३५० ई तक ब्राह्मी का प्रचार भारत में रहा। इस समय ब्राह्मी लिपि की उत्तरी भारत की शैली में तथा दक्षिणी भारत की शैली में पर्याप्त अन्तर हो गया था। अतः ब्राह्मी लिपि की दो शैलियाँ प्रधान रूप से हो गई—( १ ) उत्तरी शैली ( २ ) दक्षिणी शैली।

उत्तरी शैली की लिपि विकसित होकर गुप्त काल में एक विशिष्ट दशा को प्राप्त हुई और उसका कल्पित नाम 'गुप्त लिपि' रखा जाता है। इसका प्रचार चौथी और पाँचवी शताब्दि मे व्यापक रूप से उत्तरी भारत में था। यह लिपि गुप्त-कालीन ताम्र पत्रों तथा शिला लेखों में मिलती है। इसके सम्बन्ध मे स्व गौ ही ओझा लिखते है 'गुप्तों के समय में कई अक्षरों की आकृतियाँ नागरी से कुछ कुछ मिलती हुई होने लगीं। सिरों के चिह्न जो पहले बहुत छोटे थे, बढ़कर कुछ लम्बे बनने लगे और स्वरों की मात्राओं के प्राचीन चिह्न लुप्त होकर नए रूपों में परिणत हो गए।'[1]

'गुप्त लिपि' का भी जब विकास हुआ तो आगामी काल की लिपि के अक्षरों की कुटिल आकृति के आधार पर उसे 'कुटिल लिपि' का कल्पित नाम दिया गया। उत्तरी भारत में यह लिपि ६ वीं शताब्द से नवीं तक रही। इस काल परिधि के प्राप्त शिलालेख और दानपत्र इसी लिपि मे लिखे हुए मिलते हैं। इसी कुटिल लिपि से प्राचीन 'नागरी' तथा 'शारदा' लिपि का उद्‌भव हुआ।

नागरी लिपि के नाम के सम्बन्ध म कई अनुमान लगाये जाते हैं। कुछ विद्वान इसका सम्बन्ध 'नागर' ब्राह्मणों से जोड़ते हैं। उनके अनुसार नागर ब्राह्मणों में प्रचलित लिपि नागरी कहलाई। कुछ विद्वान इससे उस लिपि का अर्थ निकालते हैं जो नगरों मे प्रचलित थी अतः नागरी कहलाई। और चूँकि देवभाषा सस्कृत के लिखने में इसी का प्रयोग होता था अत. यह 'देव नागरी' कहलाई। इस सम्बन्ध में 'इण्डियन एन्टीक्वेरी' में आर शाम शास्त्री ने एक खोजपूर्ण लेख 'देव नागरी लिपि के उत्पत्ति के विषय के सिद्धान्त' लिखा था। उनका अनुमान है कि देवताओं की मूर्तियों के निर्माण के पूर्व उनकी उपासना साकेतिक चिह्नों से होती थी जो कई त्रिकोण या चक्र ( जिन्हें 'देव नगर' कहते थे ) आदि के बने यन्त्र के मध्य मे लिखे जाते थे। देवनगर के मध्य मे लिखे जाने वाले कितने साकेतिक चिह्न बाद में चलकर उन

[1] प्राचीन भारतीय लिपिमाला।

नामों के पहले अक्षर माने जाने लगे। देव नगर के मध्य में उनका स्थान होने से उन्हें 'देव नागरी' कहा गया। कतिपय विद्वान इसे 'ललित विस्तर' की नाग-लिपि ही मानते हैं पर श्री पार्नेट ने यह सिद्ध कर दिया है कि इन दोनों में कोई सम्बन्ध नहीं।

जो हो दसवीं शताब्दि के प्रारम्भ में इस लिपि का प्रचार उत्तरी भारत में मिलता है। दक्षिण में आठवीं शताब्दि तक के इसके लेख मिलते हैं। उधर यह 'नन्दि नागरी' कही जाती है। ओझा जी के अनुसार प्रारम्भ में कुटिल लिपि की भाँति अ, आ, घ, प आदि के सिर दो भागों में विभक्त मिलते हैं पर ग्यारहवीं शताब्दि में ये दोनों भाग मिलकर एक लकीर में आ गये और प्रत्येक अक्षर का सिर उतना लम्बा रहता है जितनी अक्षर की चौड़ाई। ग्यारहवीं शताब्दि की नागरी वर्तमान नागरी से मिलती जुलती है और बारहवीं शताब्दि में वर्तमान नागरी बन गई।

नागरीलिपि के अक्षरों के विकास के कुछ उदाहरण लिए जा सकते हैं। नागरी अंकों की उत्पत्ति भी ब्राह्मी मूल से ही हुई अत उनके विकास का भी क्रम देखा जा सकता है :

ब्राह्मी गुप्त कुटिल प्राचीन ना नवीन ना

ऊपर की निर्देशित स्थितियों से होकर आधुनिक नागरी लिपि विकास को प्राप्त हुई। आजकल नागरी लिपि उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्य प्रदेश, पजाब, दिल्ली तथा महाराष्ट्र की राज्य लिपि है तथा भारत की राष्ट्र लिपि है। हिन्दी को लिखने के लिए नागरी लिपि के निम्न लिखित चित्र प्रयोग में आते हैं वैकल्पित चिह्न कोष्ठक में दिये गए हैं :

अ (अ), अ (आ), इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ

क ख ग घ ङ, च छ ज झ ञ, ट ठ ड ढ ण (ण)

त थ द ध न, प फ ब भ म, य र ल व स श ह,

सयुक्त क्ष त्र ज्ञ। विशेष सस्कृत लिपि चिह्न भी प्रयुक्त होते हैं पर उसी ध्वनि का सकेत नहीं करते जो सस्कृत में करते थे —ऋ, ष

फारसी सघर्षी ध्वनियों के लिए हम अपने स्पर्शादि के नीचे बिन्दु देकर लिखते हैं, क़ ख़ ज़ आदि।

अंग्रेजी अॅ और ओॅ के लिए ऑ ध्वनि चिह्न प्रयुक्त होता है।

**नागरी-लिपि मे सुधार**—नागरी-लिपि रोमन वर्णात्मक लिपि के विरुद्ध अक्षरात्मक लिपि है। इसमें लिपि चिह्न भी अधिक हैं तथा मात्रा आदि लगाने और सयुक्ताक्षरों को व्यक्त करने के लिए इसमें कभी-कभी एक अक्षर के तीन-चार रूप तक हो जाते हैं। इसके कारण इसे सीखने में ही कठिनाई नहीं पड़ती थी प्रत्युत मुद्रण-कार्य में बड़ी असुविधा थी इस कठिनाई का अनुभव बहुत दिनों से किया जा रहा था। इस दृष्टि से पहला क्रान्तिकारी पग महाराष्ट्र के सावरकर बन्धुओं ने उठाया और वे सभी स्वरों को 'अ' को ही मात्रा लगा कर व्यक्त करने लगे-अ आ अि अी अु अू इसके उपरान्त १६३५ मे हि सा सम्मेलन के पूना के गाँधी जी के सभापतित्व में हुए २४ वें अधिवेशन में काका कालेलकर की अध्यक्षता मे नागरी सुधार समिति बनी उसके कई वर्षों के परिश्रम पर १४ सुझाव सम्मेलन द्वारा स्वीकृत हुए। जिनमें प्रमुख निम्न लिखित थे :

(१) शिरोरेखा लगानी आवश्यक नहीं है (२) वर्ण, ध्वनि-क्रम से लिखे जाय इसके लिए मात्राएँ अक्षर के ठीक ऊपर न रह कर थोड़ी आगे हटा कर लगाई जाय ह्रस्व की मात्रा अपवाद स्वरूप स्वीकार कर ली गई। (३) 'अ' पर ही मात्रा लगाकर सभी स्वरों का काम लिया जाय यथा अ, आ, अि, अी (४) दक्षिण की लिपियों में पाए जाने वाले ह्रस्व ए और ओ के लिए चिह्न बनाए जाय (५) पूर्ण अनुस्वार के लिए ० तथा अनुनासिक के लिए प्रयुक्त हों।(६) छपे अक्षरों के नीचे बाईं ओर लगाया जाने वाला बिन्दु यह प्रकट करे कि उस अक्षर की ध्वनि मूलध्वनि से भिन्न है यथा क़ ग़ (७) वर्तमान ख के स्थान पर गुजराती (ख) स्वीकार हो। (८) अ झ

ण के स्थान पर (अ) (झ) (ण) तथा ल श की जगह (ळ) श और ह्न का रूप प्रचलित करें। (६) खड़ी पाई वाले व्यजनों का सयुक्त रूप खड़ी पाई हटाकर व्यक्त किया जाय जैसे [illegible]। जिनमें खड़ी पाई नहीं है उनमें—चिह्न लगाया जाय यथा विट्-या, बुद्-दा।

इन सुझावों का व्यवहारिक प्रयोग केवल राष्ट्र भाषा प्रचार समिति वर्धा ने किया। और इसका सर्वाधिक विरोध उस समय नागरी प्रचारिणी सभा काशी के सदस्यों ने किया। किन्तु आगे चलकर नागरी प्रचारिणी सभा ने भी इस सुधार की आवश्यकता समझा तथा डॉ गोरखप्रसाद ने मात्राओं को थोड़ा दाहिने हटाकर तथा कतिपय अन्य सुधारों के द्वारा नागरी लिपि के ७०० के स्थान पर केवल १५० टाइपों के द्वारा मुद्रण का व्यवहारिक रूप प्रस्तुत किया। डॉ. प्रसाद का एक अन्य सुझाव यह भी था कि छोटे अक्षरों अर्थात् आठ पाइन्ट से कम के अक्षरों का प्रयोग मुद्रण में शिरोरेखा विहीन किया जा सकता है।

१६४७ में उत्तर प्रदेश सरकार ने आचार्य नरेन्द्रदेव की अध्यक्षता में एक नागरी लिपि सुधार समिति का सगठन किया। इसमें कई प्रतिष्ठित विद्वान तथा कई अन्य राज्यों के प्रतिनिधि थे। इस समिति ने अपनी ६ बैठकों के बाद नकारात्मक और स्वीकारात्मक सुझाव दिए :

नकारात्मक—(१) काका कालेलकर समिति का अ के बाहर खड़ी वाले रूप अमान्य।

(२) इ को छोड़ कर अन्य मात्राओं में कोई परिवर्तन नहीं।

(३) किसी व्यजन के नीचे कोई अन्य व्यजन वर्ण सयुक्त न हो।

(४) केवल मशीन की सुविधा के लिए कोई अवाछनीय परिवर्तन न हो। इत्यादि

स्वीकारात्मक—(१) छपाई की सुविधा से मात्राओं को हटाकर दाहिनी ओर लगाना जैसे प ट े ल, गा धी।

(२) शुद्ध अनुस्वार के लिए ०, अनुनासिक के लिए ँ जहा अवश्यक हो वहाँ पञ्चमों के अनुनासिक व्यजन भी लिखे जाँय (वाङ्मय)।

(३) शिरोरेखा लगाई जाय।

(४) खड़ी पाई युक्त व्यजनों का आधा रूप खड़ी पाई हटाकर बनाया जाय।

(५) जिनमें बाहर खड़ी पाई नहीं है उनमें क, फ को छोड़ कर हलन्त लगे। जैसे [illegible], [illegible]।

(६) [illegible] मात्रा दाहिनी ओर लगाई जाय।

(७) स्वरों में ग्र का रूप [अ] होगा।

(८) व्यंजनों में झ ण ध भ र का रूप क्रम से छ [झ] [ण] [ध] [भ] [न] होगा।

(९) च त्र के स्थान पर क्ष और त्र, इत्यादि।

इसके उपरान्त लखनऊ में कतिपय विद्वानों और विभिन्न राज्यों के मन्त्रियों की एक सभा बुलाई गई जिसमें ख का रूप ख तथा च को स्वतन्त्र शब्द तथा ह्रस्व इ को ि के रूप मे तथा अन्य सभी सुझाव उपरोक्त कमेटी के स्वीकृत कर लिए गए। उत्तर प्रदेश सरकार ने इसे प्रारम्भिक पाठशालाओं में चलाया पर अन्य जगह नहीं।

———

# भाग ४
# परिशिष्ट १

१—हिन्दी सम्पादकों की सूची
२—सहायक-ग्रन्थ सूची

# परिशिष्ट १

## हिन्दी सम्पादनों की सूची

| क्रम संख्या | सन | पुस्तक का नाम | प्रकाशक | सम्पादक |
|---|---|---|---|---|
| | | | **प्राकृत एवं अपभ्रन्श काव्य** | |
| १ | १६३७,४०,४१ | महापुराण (तीन भाग) | माणिकचन्द दिगम्बर जैन ग्रंथमाला | डॉ पी एल वैद्य |
| २ | १६३१ | जसहर चरिउ | करँजा जैनग्रथमाला, बरार | " |
| ३ | १६३३ | णायकुमार चरिउ | देवेन्द्रजैन ग्रथमाला, करँजा, बरार | डॉ हीरालाल जैन |
| ४ | १६३३ | पाहुड दोहा | " | " |
| ५ | १६३४ | करकंडु चरिउ | " | " |
| ६ | १६३२ | सावयधम्म | " | " |
| ७ | १६३१ | परमात्म प्रकाश तथा योगसार दोहा | श्रीरायचन्द शास्त्रमाला सख्या १०, बम्बई | डॉ ए एन उपाध्ये |
| ८ | | कीर्तिलता | नागरी प्रचारिणी सभा वाराणसी | डॉ बाबूराम सक्सेना |
| ९ | १६२३ | भविसयत्त कहा | गायकवाड़ ओरिएण्टल सिरीज, बड़ौदा | |
| १० | | प्रबन्ध चिन्तामणि | विश्वभारती, शान्ति निकेतन | श्रीमुनिजिन विजय |
| ११ | १६०२ | प्राकृतपैंगलम् | बिब्लियोथिका इडिका में प्रकाशित | श्री चन्द्रमोहन घोष |
| १२ | १६२७ | अपभ्रंश काव्यत्रयी | गायकवाड़ ओरिएण्टल सिरीज, बड़ौदा | |

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| १३ | १९२८ | प्राकृत व्याकरण | मोतीलाल लाधा जी पूना | डॉ पी एल वैद्य |
| १४ | १९८२ | छन्दोनुशासन | देवकरण मूलचन्द बम्बई | |
| १५ | | नेमिनाथ चरित | | डॉ हरमन याकोबी |
| १६ | १९३८ | दोहाकोष | कलकत्ता | डॉ प्रबोधचन्द्र बाग्ची |
| १७ | १९२० | कुमारपाल प्रतिबोध | गायकवाड़ ओरिएण्टल सिरीज, बड़ौदा | |
| १८ | | उपदेश तरङ्गिणी | रत्नमन्दिर गणि, धर्माभ्युदय प्रेस बनारस | |
| १९ | १९२७ | प्राचीन गुर्जर काव्यसग्रह | गायकवाड़ ओरिएण्टल सिरीज बड़ौदा | |
| २० | १९४२ | सदेश रासक | 'भारतीयविद्या' में प्रकाशित | श्री मुनिजिन विजय |
| २१ | १९६० | ,, | हिन्दी ग्रथ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई | डॉ हजारीप्रसाद द्विवेदी |
| २२ | | प्राकृत पैंगलम् | | डॉ भोलाशङ्कर व्यास |
| २३ | १९३१ | मज्झिम निकाय | पाली टेक्स्ट सोसायटी, लदन | |
| २४ | १९४५ | हिन्दी काव्यधारा | किताब महल इलाहाबाद | श्री राहुल साकृत्यायन |
| २५ | १९४६ | गोरख बानी | हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग | डॉ पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल |

## राजस्थानी काव्य

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| १ | | वेलिक्रिसन रुक्मिनी री | हिन्दुस्तानी एकेडमी प्रयाग | श्री रामसिंह एव सूर्यकरण पारीक |
| २ | | ,, | विश्वविद्यालय प्रकाशन गोरखपुर | डॉ आनन्दप्रकाश दीक्षित |
| ३ | १९१४ | ढोला मारूरादूहा | ना. प्र. स काशी | सर्वश्री सूर्यकरण पारीक, रामसिह एव नरोत्तमस्वामी |

चन्दबरदाई

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| १ | १८८३-८६ | पृथ्वीराज रासो | रायल एशियाटिक सोसायटी बगाल | |

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| **दादूदयाल** | | | | |
| १ | १६४१ | दादूदयाल की बानी, भा १, २ | वेल्वेडियर प्रेस प्रयाग | |
| २ | | दादू ग्रंथावली | नागरी प्रचारणी सभा, वाराणसी | पं सुधाकर द्विवेदी |
| **मलूकदास** | | | | |
| १ | १६४५ | मलूकदास की बानी | वेल्वेडियर प्रेस, प्रयाग | |
| २ | | मलूकदास ग्रंथावली | मलूकदास स्मारक समिति प्रयाग से प्रकाश्यमान | पं हरिमोहन मालवीय |
| **सुन्दरदास** | | | | |
| १ | १६१८ | सुन्दर सार | नागरी प्रचारिणी सभा काशी | पं हरिनारायण शर्मा |
| २ | १६३६ | सुन्दर ग्रन्थावली | ,, | ,, |
| ३ | १६२७ | सुन्दर विलास | गंगा श्री लक्ष्मीवेङ्कटेश्वर प्रेस, कल्याण | |
| ४ | १६६२ | सुन्दर-विलास | कल्याणदास एण्ड ब्रदर्स, वाराणसी | डॉ किशोरीलाल गुप्त |
| **रैदास** | | | | |
| १ | १६४६ | रैदास की बानी | वेल्वेडियर प्रेस, प्रयाग | |
| **नानक** | | | | |
| १ | १६६१ | नानक | मित्र प्रकाशन, प्रयाग | डॉ जयराम मिश्र |
| **चरणदास** | | | | |
| १ | | भक्ति सागर | नवलकिशोर प्रेस लखनऊ | |
| **गुलाल साहब** | | | | |
| १ | | गुलाल साहब की बानी | वेल्वेडियर प्रेस, प्रयाग | |

**भीखा साहब**

| | | | |
|---|---|---|---|
| १ | भीखा साहब की बानी | बेल्वेडियर प्रेस, प्रयाग | |

**पलटू साहब**

| | | | |
|---|---|---|---|
| १ | पलटू साहब की बानी ( भाग १, २, ३ ) | ” | |

**भुरकुड़ा के संत**

| | | | |
|---|---|---|---|
| १ | महात्मा की बानी | बा रामबरन साहेब, भुड़कुड़ा, गाजीपुर | श्रीरामलगन लाल |

**जायसी**

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| १ | १८८१ | पदमावत | नवलकिशोर प्रेस लखनऊ | |
| २ | १८८४ | ” | चन्द्रप्रभा प्रेस, बनारस | श्री लक्ष्मीशंकर मिश्र |
| ३ | | ” | मुन्शी नवलकिशोर | मौलवी अलीहसन |
| ४ | | ” | शेखमुहम्मद अजीजउल्लाह, कानपुर | शेख अहमदअली |
| ५ | १९११ | ” | रायल एशियाटिक सोसायटी, बंगाल | डॉ ग्रियर्सन एव सुधाकर द्विवेदी |
| ६ | १९२४ | जायसी ग्रन्थावली | नागरी प्रचारिणी सभा काशी | प० रामचन्द्र शुक्ल |
| ७ | १९३४ | पदमावत | पजाब विश्वविद्यालय, लाहौर | डॉ सूर्यकान्त शास्त्री |
| ८ | | ” | नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ | प, भगवती प्रसाद |
| ९ | १९४९ | ” | लूजक एण्ड क लदन | डॉ लक्ष्मीधर |
| १० | १९५१ | जायसी ग्रन्थावली | हिन्दुस्तानी एकेडमी, प्रयाग | डॉ माताप्रसाद गुप्त |
| ११ | १९५६ | पदमावत सजीवन भाष्य | साहित्य सदन चिरगाँव झाँसी | डॉ वासुदेवशरण अग्रवाल |
| १२ | | चित्ररेखा | हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी | श्री शिवसहाय पाठक |

| | | | |
|---|---|---|---|
| २ | [illegible] | हिन्दुस्तानी एकेडमी प्रयाग से प्रकाश्यमान | श्री अमरबहादुर सिंह अमरेश |
| **नूरमोहम्मद** | | | |
| १ १६०५ | इन्द्रावती | नागरी प्रचारिणी सभा काशी | डॉ श्यामसुन्दरदास |
| २ | अनुराग बाँसुरी | हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग | प चन्द्रबली पाण्डे |
| **उस्मान** | | | |
| १ १६१२ | चित्रावली | ना प्र स वाराणसी | श्री जगमोहन वर्मा |
| **मंझन** | | | |
| १ १६५७ | मधुमालती | हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, काशी | डॉ जयगोपाल मिश्र |
| २ १६६१ | " | मित्र प्रकाशन, प्रयाग | डॉ माताप्रसाद गुप्त |
| **कासिम साह** | | | |
| १ | हंस जवाहिर | नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ | |
| **दामो** | | | |
| १ १६५६ | लखमसेन पद्मावती कथा | परिमल प्रकाशन, प्रयाग– २ | श्री नर्मदेश्वर चतुर्वेदी |
| **बोधा** | | | |
| १ १८६४ | विरहवारीश माधवानल कामकदला | नवलकिशोर प्रेस लखनऊ | श्रीगणेशप्रसाद |
| २ १६०० के पास | इश्कनामा (विरही सुभानदम्पति विलास) | भारतजीवन प्रेस वाराणसी | श्री नकछेदी तिवारी |
| **आलम** | | | |
| १ | माधवानल कामकदला | हिन्दुस्तानी एकेडमी, प्रयाग | श्री गणेशप्रसाद द्विवेदी |
| **निसार** | | | |
| १ | युसुफ जुलेखा | " | " |

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| नारायणदास | | | | |
| १ | १९५९ | छिताई वार्ता | नागरी प्रचारिणी सभा काशी | डॉ. मातापसाद गुप्त |
| तुलसीदास | | | | |
| १ | १९०३ | श्रीरामचरितमानस | इण्डियन प्रेस, प्रयाग | |
| २ | १९०४ | ,, | बंगवासी फर्म कलकत्ता | नूतन विहारी रे ( ? ) |
| ३ | १८८६ | ,, | खड्ग विलास प्रेस, बाँकीपुर | डॉ ग्रियर्सन |
| ४ | १९२३ | तुलसी ग्रन्थावली | नागरी प्रचारिणी सभा, काशी | प० रामचन्द्र शुक्ल |
| ५ | | श्रीरामचरितमानस | भारती भंडार, प्रयाग | श्री विजयानन्द त्रिपाठी |
| ६ | १९३६ | ,, | वेल्वेडियर प्रेस, प्रयाग | श्री महावीरप्रसाद मालवीय |
| ७ | | ,, | 'मानसांक' में गीता प्रेस से प्रकाशित | पं० नंददुलारे वाजपेयी |
| ८ | | ,, | | श्री भागवतदास खत्री |
| ९ | | ,, | खड्ग विलास प्रेस, बाँकीपुर | डॉ. ग्रियर्सन |
| १० | १९४९ | ,, | साहित्य कुटीर ५९ नया पुरा, इलाहाबाद | डॉ मातप्रासाद गुप्त |
| ११ | | तुलसी ग्रन्थावली | हिन्दुस्तानी एकेडमी, प्रयाग | डॉ मातापसाद गुप्त |
| १२ | १९६२ | रामचरितमानस | काशिराज व्यास शिवाला वाराणसी | आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र |
| नाभादास | | | | |
| १ | | भक्तमाल | मुम्बई वैभव प्रेस, मुम्बई | प० रघुवंश शर्मा |
| २ | १९०३ | ,, | काशी से | सीतारामशरण भगवानप्रसाद रूपकला |
| ३ | १९१३ | ,, | नवलकिशोर प्रेस लखनऊ | ,, |

| | |
|---|---|
| डॉ. भगवतीप्रसाद सिंह | ग्रन्थ साहित्य मंदिर बलरामपुर |
| श्री उमराव सिंह | |
| श्री व्रजरत्नदास | रामनारायणलाल, प्रयाग |
| लाला भगवानदीन | साहित्यभूषण कार्यालय काशी |
| श्री मायाशंकर याज्ञिक | |
| महात्मा जानकीप्रसाद | नवलकिशोर प्रेस लखनऊ |
| लाला भगवानदीन | रामनारायणलाल, प्रयाग |
| पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र | हिन्दुस्तानी एकेडमी प्रयाग |
| डॉ. माताप्रसाद गुप्त | हिन्दी परिषद् प्रयाग विश्वविद्यालय |
| श्री नाथूराम प्रेमी | हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर बम्बई |
| श्री रामकरण पारीक | नागरी प्रचारिणी सभा, काशी |
| लाला सीताराम | हिन्दुस्तानी एकेडमी, प्रयाग |
| श्री वसन्तकुमार माथुर | |

| | |
|---|---|
| श्रीरामवृक्ष बेनीपुरी | |
| श्री सूर्यबली सिंह | |
| मित्र और मजूमदार | |
| | |
| श्री व्रजरत्नदास | |
| विष्णुकुमारी मंजु | हिन्दी भवन, लाहौर |
| पद्मावती शबनम | बनारस |
| पं परशुराम चतुर्वेदी | हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग |
| पं रामलोचन शर्मा कंटक | बम्बई पुस्तक भंडार, कलकत्ता |
| | |
| श्री कृष्णानंद व्यासदेव | 'राग कल्पद्रुम' के अंदर कलकत्ता से |
| श्री रत्नाकर तथा पं० नंददुलारे वाजपेई | नागरी प्रचारिणी सभा, काशी |
| श्री राधाकृष्णदास | वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई |
| | नवलकिशोर प्रेस लखनऊ |
| गोस्वामी व्रजभूषण शर्मा आर्य | विद्या विभाग, कांकरोली |
| श्री कृष्णानंद व्यासदेव | कृष्णानंद व्यासदेव, कलकत्ता |
| श्री प्रभुदयाल मीतल | अग्रवाल प्रेस, मथुरा |
| श्री प्रेमनारायण टंडन | हिन्दी साहित्य भंडार, अमीनाबाद, लखनऊ |
| श्री सरदार कवि | नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ |

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| **नन्ददास** | | | | |
| १ | १९४० | नन्ददास भाग १ व २ | हिन्दी परिषद्, प्रयाग विश्वविद्यालय | पं उमाशकर शुक्ल |
| २ | १९४९ | नन्ददास ग्रथावली | नागरी प्रचारिणी सभा, काशी | श्री ब्रजरत्नदास |
| **गोविन्द स्वामी** | | | | |
| १ | १९५१ | गोविंन्दस्वामी | विद्या विभाग, कांकरोली | गो० ब्रजभूषण शर्मा, कठमणि शास्त्री तथा गोकुलानद तैलग |
| **छीतस्वामी** | | | | |
| १ | १९५५ | छीतस्वामी | ,, | , |
| **चतुर्भुजदास** | | | | |
| १ | १९५७ | चतुर्भुजदास | ,, | ,, |
| **कुंभनदास** | | | | |
| १ | १९५४ | कुंभनदास | ,, | ,, |
| **परमानंददास** | | | | |
| १ | १९६० | परमानद सागर | ,, | ,, |
| २ | १९५८ | ,, | भारत प्रकाशन मंदिर; अलीगढ़ | डॉ गोवर्द्धननाथ शुक्ल |
| **ध्रुवदास** | | | | |
| १ | १९०० के पास | ध्रुव-सर्वस्व (२२ ग्रथ) | भारत जीवन प्रेस, बनारस | बा० रामकृष्ण वर्मा |
| २ | १९५३ | बयालिस-लीला (४२ ग्रथ) | बाबा तुलसीदास राधावल्लभी, मुकुट महल, वृन्दावन | |
| **चन्द्रसखी** | | | | |
| १ | | चन्द्रसखी पदावली | ग्रथागार, ज्ञानवापी, काशी | श्री महावीर सिंह गहलौत |

| | | |
|---|---|---|
| | लोकसेवक प्रकाशन, दुलानाला, वाराणसी | पद्मावती शबनम |
| गी | अ० भा० व्रज साहित्य मडल, मथुरा | श्री प्रभुदयाल मीतल |
| ोत | सूचना विभाग, उ० प्र० | श्री प्रभुदयाल मीतल |
| पदावली | अग्रवाल प्रेस, मथुरा | ,, |
| | अग्रवाल प्रेस, वृन्दावन | श्री राधाकिशोर गोस्वामी |
| | अग्रवाल प्रेस, मथुरा | श्री वासुदेव गोस्वामी |
| | ,, | श्री नारायणदास |
| | ज्ञानसागर छापाखाना, बम्बई | श्री कवीश्वर जयलाल |
| | साहित्य सेवक कार्यालय, काशी | श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र |
| | न प्र स, काशी | श्री अमीर सिंह |
| | हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग | श्री चन्द्रशेखर पाण्डेय |
| | वाणी वितान प्रकाशन, काशी | श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र |
| | भारतजीवन प्रेस, काशी | ना जगन्नाथदास रत्नाकर |

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| **सेनापति** | | | | |
| १ | १९४३ | कवित्त रत्नाकर | हिन्दी-परिषद्, प्रयाग विश्वविद्यालय | प. उमाशकर शुक्ल |
| **चिन्तामणि त्रिपाठी** | | | | |
| १ | | कविकुलकल्पतरु | नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ | |
| **मतिराम** | | | | |
| १ | १९२६ | मतिराम ग्रन्थावली | गगा पुस्तकमाला, लखनऊ | नूतनविहारी रे |
| **देव** | | | | |
| १ | १९१० | देवग्रन्थावली भाग १ | ना प्र स, काशी | मिश्रबन्धु |
| २ | | देवसुधा | गगा पुस्तकमाला, लखनऊ | ,, |
| ३ | १९०० | भावविलास | भारतजीवन प्रेस, काशी | |
| ४ | ,, | अष्टयाम | ,, | |
| ५ | १९४१ | देवदर्शन | इण्डियन प्रेस, प्रयाग | श्री हरदयालु सिह |
| ६ | १९४३ | शब्द-रसायन | हि सा सम्मे , प्रयाग | श्री जानकी सिंह मनोज |
| ७ | | देव की रचनाओं का पाठ | ( अप्रकाशित ) | डॉ लक्ष्मीधर मालवीय |
| **विहारी** | | | | |
| १ | १८८२ | विहारी सतसई | नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ | डॉ ग्रियर्सन |
| २ | १८८८ | ,, | रायल एशियाटिक सोसायटी, बगाल | |
| ३ | १८९३ | ,, | भारतजीवन प्रेस, बनारस | |
| ४ | १८९६ | ,, | सुपरिन्टेन्डेन्ट गवर्नमेन्ट प्रिंटिंग, इण्डिया, कलकत्ता | |

| | |
|---|---|
| लाला भगवानदीन | छोटेलाल लक्ष्मीचन्द, लखनऊ |
| श्री जगन्नाथदास रत्नाकर | साहित्य प्रेस, बुलानाला, काशी |
| प पद्मसिंह शर्मा | गंगा पुस्तकमाला, लखनऊ |
| | काव्य कुटीर, दिल्ली |
| | हिन्दुस्तानी एकेडमी |
| प विश्वनाथप्रसाद मिश्र | वाणी वितान, वाराणसी |
| भारतेन्दु हरिश्चन्द्र | लाइट छापाखाना, बनारस |
| श्री अमीर सिंह | ना प्र स, वाराणसी |
| श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र | वाणी वितान प्रकाशन, वाराणसी |
| | भारत जीवन प्रेस, वाराणसी |
| प हरिनारायण शर्मा | ना प्र स, काशी |
| प विश्वनाथप्रसाद मिश्र | रामरत्न पुस्तकालय, वाराणसी |
| ” | ना प्र स, काशी |
| ला भगवानदीन | उमाशंकर मेहता, रामघाट, काशी |

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| **ठाकुर** | | | | |
| १ | १९०० | ठाकुर शतक | भारत जीवन प्रेस, वाराणसी | |
| २ | १९२६ | ठाकुर-ठसक | साहित्य सेवक कार्यालय, काशी | ला भगवानदीन |
| **पजनेश** | | | | |
| १ | १८९४ | पजनेश-प्रकाश | भारत जीवन प्रेस, काशी | श्री नकछेदी तिवारी |
| **भिखारीदास** | | | | |
| १ | १९५६,५७ | भिखारीदास ग्रन्थावली | ना० प्र० स०, काशी | मिश्रबंधु |
| **दूलह** | | | | |
| १ | १९३५ | कविकुल कंठाभरण | दुलारेलाल भार्गव, लखनऊ | मिश्रबंधु |
| **रसलीन** | | | | |
| १ | १८९० | रस-प्रबोध | नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ | |
| २ | १८८५ | अंग दर्पण | भारत जीवन प्रेस, काशी | श्री नकछेदी तिवारी |
| **जसवंतसिंह** | | | | |
| १ | १८८६ | भाषा भूषण | अम्बिकाचरण चट्टोपाध्याय, अमर यंत्रालय, काशी | श्री मन्नालाल द्विज |
| २ | | भाषा-भूषण | वाणी वितान, काशी | प चन्द्रशेखर मिश्र |
| **तोषनिधि** | | | | |
| १ | १९०० | सुधानिधि | भारत जीवन प्रेस, काशी | |
| **रघुनाथ बंदीजन** | | | | |
| १ | १८८६ | रसिक मोहन | अम्बिकाचरण चट्टोपाध्याय, अमर यंत्रालय, काशी | श्री मन्नालाल द्विज |
| २ | १९०० | ,, | भारत जीवन प्रेस, काशी | |

| | | |
|---|---|---|
| कुमारमणि शास्त्री | | श्री कठमणि शास्त्री |
| १ १९३७ रसिक रसाल | विद्या विभाग, कॉंकरोली | |
| मानकवि | | श्री राधाकृष्णदास |
| १ १९०० राज विलास | ना प्र स , काशी | श्री मोतीलाल मेनारिया |
| २ १९५९ मान-राजविलास | ,, ,, | |
| शृंगारी सुन्दर | | |
| १ १८९७ सुन्दर शृंगार | गुलसने हिन्द यन्त्रालय, इन्द्रप्रस्थ | |
| २ १८७५ ,, | लाइट छापाखाना, बनारस | |
| रामचन्द्र नागर | | |
| १ १९२६ गीत गोविन्दादर्श, दसवाँ सस्क | नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ | |
| शिवसिंह सेंगर | | |
| १ शिवसिंह सरोज | (अप्रकाशित) | डॉ किशोरीलाल गुप्त |
| २ ,, | नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ | प रूपनारायण पाण्डेय |

— ——

# परिशिष्ट २

## सहायक-ग्रंथ-सूची


| | ग्रंथ | लेखक |
|---|---|---|
| १ | इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका भा० १, भा० ३ एवं भा० २२ | |
| २ | कैम्पेनियन टु क्लैसिकल स्टडीज़ | श्री एफ डब्ल्यू हाल |
| ३ | इण्ट्रोडक्शन टु इण्डियन टेक्सचुअल क्रिटिसिज्म | डॉ एस० एम० कात्रे |
| ४ | प्रोलेगोमेना टु दि क्रिटिकल एडिशन आव् दि आदिपर्व आव महाभारत | डॉ सुकथांकर |
| ५ | अल्फाबेट | श्री डेविड डिरिंजर |
| ६ | इण्डियन पैलियोग्रैफी | डॉ राजबली पाण्डेय |
| ७ | भारतीय सम्पादन शास्त्र | श्री मूलराज जैन |
| ८ | भारतीय प्राचीन लिपि माला | श्री गौरीशंकर हीराचन्द ओझा |
| ९ | हिन्दी भाषा का इतिहास | डॉ. धीरेन्द्र वर्मा |
| १० | ब्रजभाषा | ,, |
| ११ | ब्रजभाषा व्याकरण | ,, |
| १२ | भाषा-विज्ञान | डॉ भोलानाथ तिवारी |
| १३ | सरल भाषा विज्ञान | डॉ बाबूराम सक्सेना |
| १४ | हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास | डॉ उदयनारायण तिवारी |
| १५ | वीर काव्य | ,, |
| १६ | हिन्दी साहित्य के इतिहास का आदि काल | डॉ हजारीप्रसाद द्विवेदी |
| १७ | संक्षिप्त पृथ्वीराज रासो | ,, |
| १८ | कविवर-बिहारी | बाबू जगन्नाथदास रत्नाकर |
| १९ | बिहारी रत्नाकर | ,, |
| २० | पाश्चात्य साहित्यालोचन के सिद्धान्त | डॉ लीलाधर गुप्त |
| २१ | रामचरितमानस का पाठ | डॉ माताप्रसाद गुप्त |
| २२ | जायसी ग्रथावली | ,, |
| २३ | श्री रामचरितमानस | ,, |
| २४ | बीसलदेव रास | ,, |
| २५ | छिताई वार्ता | ,, |
| २६ | हिन्दी पुस्तक साहित्य | ,, |
| २७ | विचार-विमर्श | प चन्द्रबली पाण्डे |
| २८ | पद्मावत सजीवन भाष्य | डॉ वासुदेवशरण अग्रवाल |
| २९ | जायसी ग्रथावली | आचार्य रामचन्द्र शुक्ल |
| ३० | बिहारी-बोधिनी | लाला भगवानदीन |

३१ केशव ग्रथावली, तीन भाग — प विश्वनाथप्रसाद मिश्र
३२ सत कबीर — डॉ रामकुमार वर्मा
३३ कबीर (सक्षिप्त) — ,,
३४ श्री रामचरितमानस भाग २ — प विश्वनाथप्रसाद मिश्र
३५ बीसलदेव रासो — श्री सत्यजीवन वर्मा
३६ पृथ्वीराज रासो — डॉ श्यामसुन्दरदास
३७ मधुमालती — डॉ शिवगोपाल मिश्र
३८ ,, — डॉ माताप्रसाद गुप्त
३९ कबीर ग्रथावली — डॉ श्यामसुन्दरदास
४० ,, — डॉ पारसनाथ तिवारी
४१ नददास-ग्रन्थावली — श्री ब्रजरत्नदास
४२ नददास, भा १ व २ — श्री उमाशकर शुक्ल
४३ कवित्त-रत्नाकर — ,,
४४ हिन्दी साहित्य का प्रथम इतिहास — डॉ किशोरीलाल
४५ राजस्थानी साहित्य के इतिहास की रूपरेखा — श्री मोतीलाल मेनारिया


## पत्रिकाएँ


१ हिन्दी-अनुशीलन — भारतीय हिन्दी परिषद, प्रयाग
२ नागरी प्रचारिणी पत्रिका — ना प्र स, काशी।
३ सम्मेलन-पत्रिका — हि सा. सम्मेलन, प्रयाग।
४ हिन्दुस्तानी — हिन्दुस्तानी एकेडमी, प्रयाग।
५ कल्पना — ५१६ सुल्तान बाजार, हैदराबाद दक्षिण।
६ सरस्वती — इण्डियन प्रेस, प्रयाग।
७ साहित्य — बिहार हिन्दी साहित्य सम्मेलन, पटना—३
८ हरिऔध — हरिऔध कला भवन, आजमगढ़
९ साहित्य सदेश — ४ गाँधी मार्ग, आगरा।
१० आलोचना — राजकमल प्रकाशन, प्रयाग।
११ साप्ताहिक हिन्दुस्तान — हिन्दुस्तान टाइम्स प्रेस, नई दिल्ली।


## पांडुलिपियाँ


१ पृथ्वीराज रासउ — डॉ माताप्रसाद गुप्त
२ शिवसिंह सरोज — डॉ किशोरीलाल गुप्त
३ सरोज-सर्वेक्षण (अब हिन्दुस्तानी एकेडमी से प्रकाश्यमान) — ,,